जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा

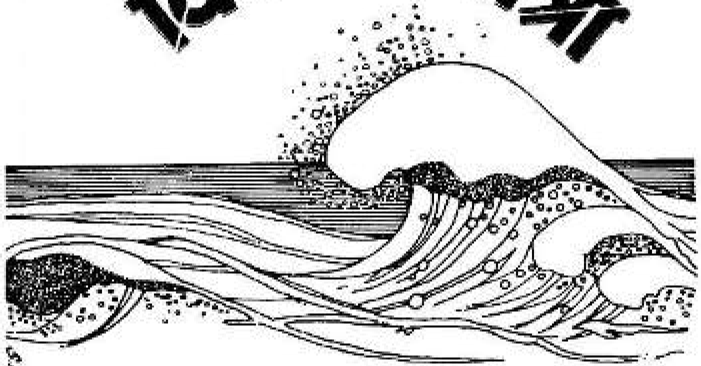

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २७२ वां पुष्प

☐ जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा

☐ उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

☐ प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१

☐ वि. सं. २०४६ अक्षय तृतीया
मई १९८९

☐ संजय सुराना के निर्देशन में
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड
आगरा-[illegible] द्वारा मुद्रित

☐ मूल्य : सिर्फ चालीस रुपया

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
संशोधित मूल्य
40
उदयपुर

समर्पण-सुमन

कथा साहित्य के अध्ययन—अनुशीलन
लेखन—सम्पादन की प्रेरणा स्रोत
मेरी जीवन की आद्यशक्ति
परमादरणीया प्रतिभामूर्ति संयम साधिका
स्व० मातेश्वरी महासती प्रभावतीजी म०
एवं ज्येष्ठ भगिनी
महासती पुष्पवतीजी के प्रति

— उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

卐

प्रकाशक के बोल

साहित्य समाज का दर्पण भी है, और दीपक भी है। समाज की यथार्थ स्थिति का वह दिग्दर्शक भी है और समाज का पथ-प्रदर्शक भी है, इसलिए साहित्य का अध्ययन, प्रचार प्रकाशन एक सुरुचि सम्पन्न जाग्रत समाज का परिचायक है।

हमारी संस्था श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय विगत २५ वर्षों से उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन में संलग्न है। इसके मूल प्रेरणा स्रोत हैं श्रद्धेय उपाध्याय गुरुदेव श्रीपुष्करमुनि जी म. तथा ऊर्जा स्रोत हैं—श्रमणसंघ के उपाचार्य श्रीदेवेन्द्रमुनिजी। उपाचार्य श्री एक सतत ज्ञानयोग में रत सिद्ध हस्त लेखक, चिन्तक और उदार विचारशील संघ नेता हैं। आपकी वाणी में तथा व्यवहार में जहाँ अतीव मधुरता, शालीनता और अनुशासनबद्धता है, वहीं आपके विचार जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने, मानव मात्र को अध्यात्म व नीति की प्रेरणा देने वाले हैं।

उपाचार्य श्री सतत अध्ययनशील संत हैं। गम्भीर से गम्भीर ग्रन्थों का अनुशीलन करते रहते हैं और फिर उस अधीत विषय को हृदयंगम करके स्वयं भी लिखते हैं तथा हाथ में दर्द होने से बोलकर भी लिखवाते हैं।

उपाचार्य श्री द्वारा समय-समय पर लिखा हुआ साहित्य हमें उपलब्ध होता है और हमारा सौभाग्य है कि हम उसे प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाते हैं।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय ने अब तक विभिन्न विषयों पर लगभग २७० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं जो किसी भी संस्था के लिए सात्विक गौरव का विषय बन सकता है। हमें इन प्रकाशनों पर गौरव है।

पाठक हमारे प्रकाशन रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। अनेक पुस्तकों के द्वितीय-संस्करण हो चुके हैं, तथा हो रहे हैं। यह हमारे प्रकाशनों की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

हमारे इस प्रकाशन में आर्थिक रूप से जिन्होंने सहयोग प्रदान किया है, हम उन दानी महानुभावों के सहयोग के प्रति आभार प्रकट करते हैं तथा विश्वास है, भविष्य में भी इसी प्रकार वे सहयोग का हाथ बढ़ाते रहेंगे। जिससे हम नित-नया अभिनव साहित्य अपने प्रेमी पाठकों को समर्पित करते रहेंगे।

—चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

स्वकीय

"कथा" शब्द मनुष्य का उतना ही परिचित है, जितना व्यथा। व्यथा यानी पीड़ा। जहाँ सुख है, वहाँ दुःख-पीड़ा भी है। उसी प्रकार जहाँ मानव है, वहाँ इतिहास भी है, प्रेरणा भी है, आदर्श भी है, मनोरंजन भी है और इन सबका भावात्मक प्रेषण करती है, "कथा"।

कथा--अर्थात् "क-था" कोई था, कुछ था। इस अतीत के रेखांकन में वर्तमान और भविष्य की छवि भी अंकित कर दी जाती है जिसे कहीं रूपक, कहीं संकेत, कहीं शब्द और कहीं सिर्फ ध्वनि के माध्यम से ही प्रकट किया जाता है।

सुदूर अतीत से लेकर आज तक "कथा" मनुष्य का प्रिय विषय रहा है। कथा के मुख्य चार तत्व माने गये हैं—उद्‌देश्य, वृत्त, पात्र और शैली। आज के कथा साहित्य का मूल्यांकन भी इन्हीं चार तत्वों के आधार पर किया जाता है और प्राचीन से अति प्राचीन कथा साहित्य की सर्जना भी इन्हीं तत्वों को ध्यान में रखकर की जाती थी। कथा केवल मनोरंजन का विषय न आज है, और न ही अतीत में कभी रही। मनोरंजन कथा का सिर्फ एक पक्ष है। "कथा" की सर्जना मानव मस्तिक से हुई है, इसलिए उसमें मानवीय संवेदना, रुचि, लक्ष्य, व्यवहार और मानव-संस्कृति को सम्यग्‌रीति से संचालित करने की भावना अन्तर्निहित रही है। कथा की शैली और पात्र युग-युग में बदलते रहे हैं, किन्तु कथा का मूल उद्‌देश्य प्रायः सभी युगों में समान रहा है। चाहे नीति की कथा हो, चाहे धर्म की कथा हो, चाहे लोक कथा हो, चाहे परलोक व भूत-प्रेत से सम्बन्धित गल्प कथा हो। सभी में मनोरंजन, रुचि-संयोजन के साथ ही मानव-जीवन व मानव-संस्कृति को स्वस्थ, प्रसन्न, सुखी तथा आपत्तियों से बचाने की हितकामना ही रही है। इस प्रकार मेरे अनुभव में यह बात सत्य है कि कथा का जन्म ही मानव

मन की व्यथा हरने के लिए ही हुआ है, होता है, भले ही शैली व संयोजना भिन्न-भिन्न रही हों।

मानव सभ्यता का सबसे प्राचीन साहित्य वेद और आगम माना है, बौद्ध परम्परा में त्रिपिटिक का भी वही स्थान है। इन सबकी संयोजन-शैली में "कथा-शैली" के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जैन आगमों में कथा के दो रूपों का निरूपण है—कथा और विकथा। विकथा—अर्थात् व्यर्थ की कथा, विकारवर्धक, विषयोत्तेजक कथा, जिससे मानव की अन्तर्वृत्तियाँ मलिन और दूषित होती हैं। कथा के विविध भेदों में नीति-कथा तथा धर्म-कथा का महत्व है। यूं अर्थकथा, कामकथा तथा मिश्रकथा का भी बर्णन आता है। दिव्य-कथा, मानुष-कथा, परीकथा, पशु कथा भी पात्रों के आधार पर चलती रही है। शैली व विषय की दृष्टि से भी कथा के अनेक-भेदोपभेद किये गये हैं, किन्तु कुल मिलाकर वही कथा उपादेय मानी गई है, जिसके सुनने से मनुष्य का मनोरंजन, मनःसंशोधन, सद्‌गुण-विकास, नीति एवं धर्म का बोध तथा आचरण की अच्छाई-बुराई का परिज्ञान होता है।

"कथा" की यात्रा भी मानव-यात्रा के समान ही सुदूर अतीत के साथ जुड़ी हुई है, अतः उसका आदि छोर पकड़ पाना तो किसी के लिए संभव नहीं लगता, फिर भी उपलब्ध साहित्य के अनुशीलन से हम वेद और आगम साहित्य में आदि कथाओं को देख सकते हैं। प्रस्तुत में हमने जैन कथा साहित्य को ही अपना लक्ष्य बनाया है और उसी आधार पर कथा साहित्य की विकास-यात्रा की परिक्रमा की है।

"कथा" के विविध रूप/स्वरूप का अवलोकन व अनुसंधान करने के लिए प्राचीन जैन साहित्य बहुत बड़ा आधार है। मानव सभ्यता के आदि युग में भगवान ऋषभदेव के पूर्व ही कुलकर युग से कथा साहित्य का प्रारम्भ होता है। कुलकर कथा के बाद ऋषभदेव का चरित्र और उस चरित्र को संवर्धित करने वाली पूर्व जन्मों की रोचक कथाएँ जैन साहित्य में अंकित की गई है। ये कथाएँ मानव सभ्यता का विकाससूत्र समझने के लिए तो अत्यन्त उपयोगी हैं ही, साथ ही ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भी मानव कितना कल्पनाशील था, कितना सृजनधर्मी था। यह उन कथाओं के आधार पर समझा जा सकता है।

जैन परम्परा में कथा साहित्य का सबसे प्राचीन स्रोत आगम है। आगमों में अनेक प्रकार की कथाशैलियाँ मिलती हैं। कथा के विविध पात्र

व कथा के विविध रूप भी उनमें मिलते हैं। आगमों के पश्चात निर्युक्ति साहित्य, भाष्य साहित्य, चूर्णि एवं टीका साहित्य आता है। इसके साथ ही अनेक काव्य, महाकाव्य, तीर्थंकर चरित्र, पुराण, नाटक, रास, चोपी आदि की रचनाएं होती रही है। यदि इन सम्पूर्ण कथा ग्रंथों की सूची बनाई जाय तो लगभग कई हजार ग्रन्थों के नाम आ सकते हैं, किन्तु कथा साहित्य का मूल स्रोत उक्त आगमों से लेकर टीका ग्रन्थ तक ही माने जाते हैं। उत्तरवर्ती कथा साहित्य उसी प्राक्तन आधार पर पल्लवित होता रहा है।

यद्यपि कथा साहित्य को जैन कथा, वैदिक कथा, बौद्ध कथा जैसा विशेषण देना भी अखरता है, क्योंकि कथा तो मानव मात्र की निधि है, किन्तु कथा सिर्फ इतिवृत्त नहीं होता, उसमें मानवीय सभ्यता, सस्कृति, दर्शन, धारणा, अनुभव और विश्वास का भी रंग मिला रहता है इसलिए चाहे, अनचाहे तद्-तद् आस्था व दर्शन, चिन्तन व संस्कृति के आधार पर घटनाक्रम में परिवर्तन, उतार-चढ़ाव-घुमाव होते हैं, इसलिए स्वतः ही कथा विभक्त हो जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत में मैंने जैन कथा साहित्य के विकास का ही एक संक्षिप्त परिचय तथा उसका स्वरूप दर्शन यहां प्रस्तुत किया है।

यद्यपि जैन कथा साहित्य पर मैंने स्वतंत्र रूप में यह ग्रन्थ तैयार नहीं किया, किन्तु स्वतः ही एक ग्रन्थ की सृष्टि हो गई है। यदि योजना-पूर्वक और सम्पूर्ण कथा साहित्य के आलोड़न के साथ मैं प्रस्तुत ग्रन्थ लिखता तो उसका रूप कुछ भिन्न होता, किन्तु अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए ऐसा संभव हो नहीं सका। अतः समय-समय पर मैंने जिन कथा ग्रन्थों पर प्रस्तावनाएँ लिखी हैं, सम्पादन किया है, उन सभी का क्रमबार संयोजन करके ही इसे ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान किया है।

जैसे सर्व प्रथम पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी ने जैन कथाएँ नाम से १११ भाग में कथाओं का लेखन किया। उनके संपादन का दायित्व हमें दिया। इस कार्य में जैन कथा साहित्य से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थों का अवलोकन, अनुशीलन किया, अतः सर्वप्रथम उसी कथामाला के आधार पर जैन कथा साहित्य का एक विहंगम अवलोकन प्रस्तुत किया है। पश्चात आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' द्वारा सम्पादित 'धर्म-कथानुयोग' जैसे विशाल ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने का प्रसंग प्राया, उस संदर्भ में आगम साहित्य की समस्त कथाओं का परिशीलन करने का अव-

सर मिला। तब मुझे लगा, जैन कथा साहित्य का प्रभाव बौद्ध एवं वैदिक कथा साहित्य पर ही नहीं, किन्तु पश्चिमी कथा साहित्य पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है तथा भारतीय संस्कृति के मूल बीज इस कथा साहित्य में आज भी सुरक्षित हैं। आगम कथा साहित्य का सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है।

इसके पश्चात् सिद्धर्षिकृत उपमितिभव प्रपंच महाकथा पर एक विस्तृत प्रस्तावना लिखने का प्रसंग आया। यह कथा स्वयं में ही एक महा रूपक कथा है, जिसमें भारतीय कथा साहित्य के निखिल स्वरूप का दर्शन होता है। इस प्रस्तावना प्रसंग पर आगमोत्तरकालीन कथा साहित्य का अनुशीलन करने का अवसर मिला और उस विषय पर अपना चिन्तन, मनन उक्त प्रस्तावना में अंकित है।

इस प्रकार कुल तीन बृहद प्रयासों की अलग-अलग निष्पत्ति के रूप में प्रस्तुत पुस्तक की संयोजना हुई है, जिसमें जैन कथा साहित्य की विकास-यात्रा की एक परिक्रमा पूर्ण हो जाती है। मुझे विश्वास है, मेरे इस प्रयास से जैन कथा साहित्य के समग्र नहीं तो बहुलांश स्वरूप पर प्रकाश पड़ेगा और अनुसन्धान करने वालों को काफी सामग्री मिल सकेगी।

मेरी ज्ञानयात्रा के प्रकाश स्तंभ, पूज्य गुरुदेव का आशीर्वाद तथा श्रमणसंघ के आचार्य सम्राट श्री आनन्दश्रीजी महाराज का वरदहस्त मुझे प्राप्त हुआ है। मैं सोचता हूँ इन दो महापुरुषों की कृपा से मेरी जीवन-यात्रा सदा ऊर्ध्वमुखी बनी रहेगी। परमादरणीया पूज्या स्वर्गीय मातेश्वरी महासती प्रभावतीजी म. व ज्येष्ठ भगिनी महासती श्री पुष्पवतीजी की प्रबल प्रेरणा साहित्य सृजन के लिए सम्बल रूप रही है।

श्रीयुत स्नेह सौजन्यमूर्ति कलमकलाधर श्रीचन्दजी सुराना एवं डॉ. आदित्य प्रचंडिया प्रभृति का स्नेहपूर्ण सेवा सहकार संयोजन आदि को स्मरण करते हुए प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए मन प्रसन्न है, हृदय आनन्द विभोर है।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर
अक्षय तृतीया
दि० ८ मई १९८९

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

अनुक्रमणिका

खण्ड : १

विहंगावलोकन	१
प्राकृत जैन कथा साहित्य	१६
अपभ्रंश जैन कथा साहित्य	३०
हिन्दी जैन कथा और उपाध्यायश्री पुष्कर मुनिजी की जैन कथाएँ	३५

खण्ड : २

जैन आगमों की कथाएँ	४३
उत्तम पुरुषों की कथाएँ	७७
श्रमण-कथाएँ	१३८
श्रमणी-कथाएँ	२१८
श्रमणोपासक-कथाएँ	२२७
निह्नव-कथाएँ	२५७
विविध कथाएँ	२८०

खण्ड : ३

आगमोत्तर कालीन कथा साहित्य [उपमिति भव प्रपंच कथा]	३१५
सिद्धर्षि : जीवन वृत्ति	४१७

○○

जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

विहंगावलोकन

विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी है । कथा के प्रति मानव का आरम्भ से ही सहज आकर्षण रहा है । फलतः जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें कहानी की मधुरिमा अभिव्यञ्जित न हुई हो । सत्य तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी को कहानी कहते हुए समाप्त करता आया है ।

कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है । कथा के आकर्षण को सबल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी साहित्य में एक विशिष्ट उपकरण के रूप में स्वीकृत है । हमारे प्राचीनतम साहित्य में कथा के तत्व जीवित हैं । ऋग्वेद में जो संसार का उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ है, स्तुतियों के रूप में कहानी के मूल तत्व पाये जाते हैं ।[1] अप्पला-आमेयी के आदर्श नारी चरित्र ऋग्वेद में आए हैं । ब्राह्मण ग्रंथों में ही हमें अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं । शतपथ ब्राह्मण की पुरुरवा और उर्वशी की कथा किसको ज्ञात नहीं है ? ये कहानियाँ उपनिषत्काल से पूर्व की हैं । उपनिषद् के समय में इनका अभिनवतम रूप देखने को मिलता है । गार्गी या ज्ञवल्क्य संवाद तथा सत्यकाम-जाबाल आदि कथाएँ उपनिषद्काल की विख्यात कथाएँ हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है ।[2] पुराणों में कहानी के खुले रूप के अभिदर्शन होते हैं । पुराण वेदाध्ययन की कुञ्जी हैं । वेदों की मूलभूत कहानियाँ पुराणों की कथाओं में पल्लवित-प्रस्फुटित हुई हैं । पुराण कथाओं का आगार है । रामायण और महाभारत में भी बहुत से आख्यान संश्लिष्ट हैं । रामायण की अपेक्षा महाभारत में यह वृत्ति अधिक है । एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियों का कोष है ।[3] इस प्रकार कथा साहित्य की एक

---

१. ऋग्वेद के मंत्र १ सूक्त २४।२५, मंत्र ३० ।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ४।१।३ ।

३. हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य, डा० शंकरलाल यादव, पृष्ठ ३३१ तथा ३४० ।

प्राचीन परम्परा है जिसमें वसुदेव हिंडी, पंचतंत्र, हितोपदेश, बैताल पंच-विंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, बृहत्कथामंजरी, कथा-सरित्सागर, आख्यानयामिनी, जातक कथाएँ आदि विशेषतः उल्लेख्य हैं।[1]

कथा साहित्य-सरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी और प्रवहमान बनाने में जैन कथाओं का योगदान महनीय है। जैन कथा उस पुनीत स्रोतस्विनी के समान है जो कई युगों से अपने मधुर सलिल से जाने-अनजाने धरती के अनन्त कणों को सिंचित कर रही है एवं परिचित-अपरिचित करोड़ों प्यासे कंठों की प्यास बुझा रही है। इस कथा-सरिता में सर्वत्र मानवता की ललित लोल लहरें शैली-शिल्प के मनोरम सामंजस्य से परिवेष्ठित हैं। यह इतनी विशद है कि इसके 'अथ' तथा 'इति' की परिकल्पना करना कठिन है। इसके 'जीवन' में आदर्शों के प्रति निष्ठा है और चिरपोषित संशयों एवं अविश्वासों के प्रति कभी मौन और कभी सन्तप्त विद्रोह है। इसके दो मनोरम तट हैं—भाव एवं कर्म। इन दोनों भव्य किनारों के सहारे इस प्रवाहिनी ने लोक-जीवन की दूरी को नापा है, हर्ष-विषाद एवं संकीर्णता-उदारता के अपरिमित मन्तव्यों को पहचाना है, विरामहीन यात्रा के कटु अनुभवों को परखा है एवं दो विभिन्न युगों के अलगाव को भी समझा है। इस जैन-कथा-तटिनी की गाथा बड़ी सुहावनी है।[2] वस्तुतः जैन कथाओं की व्यापकता में विश्व की विभिन्न कथा-वार्ताओं को प्रश्रय मिला है। फलतः जगत की कहानियों में जैन कथाओं की साँसें किसी न किसी रूप में संचरित होती रहती हैं। एक ओर इनमें भोग-विरक्ति और संयम-सदाचार की प्रतिध्वनियाँ हैं तो दूसरी ओर जीवन के शाश्वत सुख-स्वर भी गहरी आस्था को लिए हुए यहाँ मुखर हैं। संस्कृति, जितनी अधिक कथाओं के अन्तराल में सन्निहित है, उतनी अधिक साहित्य की अन्य विधाओं में परिलक्षित नहीं हो पाई है। मानव-जीवन के जिस सार्वजनीन सत्य की माटी में संस्कृति के चिरंतन तत्त्वों की प्रतिष्ठा मानी गई है उसका प्रथम उन्मेष इन्हीं जैन कथाओं में सुलभ है। इन कहानियों की गरिमा एवं उपयोगिता को न काल-भेद क्षीण कर सके हैं और न व्यक्तिगत हठीला गुमान धूमिल बना सका है। प्रत्युत काल-खंडों की प्राचीनता ने इन कथाओं को अधिक सफल बनाया

---

१. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन, पृष्ठ २८।

२. वही, पृष्ठ ११।

है एवं वैयाक्तिक अवरोधों ने उनकी व्यापकता को विशेषत: अपरिहार्य प्रमाणित कर दिया है।[1]

जैन परम्परा के मूल आगमों में द्वादशांगी प्रधान और प्रख्यात हैं। उनमें नायाधम्मकहा, उवासगदसाओ, अन्तगडदसा, अनुत्तरोपपातिकदसा, विपाक सूत्र आदि समग्र रूप में कथात्मक हैं। इनके अतिरिक्त उत्तराध्ययन, सूयगडांग, भगवती, ठाणांग आदि में भी अनेक रूपक एवं कथाएँ हैं जो अतीव भावपूर्ण एवं प्रभावनापूर्ण हैं। तरंगवती, समराइच्चकहा तथा कुवलयमाला आदि अनेकानेक स्वतंत्र कथाग्रंथ विश्व की सर्वोत्तम कथा विभूति हैं। इस साहित्य का सविधि अध्ययन-अनुशीलन किया जाय तो अनेक अभिनव एवं तथ्यपूर्ण उद्भावनाएँ तथा स्रोत दृष्टि-पथ पर दृष्टिगत होंगे। जिससे जैन कथा वाङ्मय की प्राचीनता वैदिक कथाओं से भी अधिक प्राचीनतम परिलक्षित होगी। जैनों का पुरातन साहित्य तो कथाओं से पूर्णत: परिवेष्ठित है। प्रसिद्ध शोधमनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल 'लोककथाएँ और उनका संग्रहकार्य' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं—"बौद्धों ने प्राचीन जातकों की शैली के अतिरिक्त अवदान नामक नये कथा-साहित्य की रचना की जिसके कई संग्रह (अवदान शतक, दिव्यावदान आदि) उपलब्ध हैं। किन्तु इस क्षेत्र में जैसा निर्माण जैन लेखकों ने किया वह विस्तार, विविधता और बहुभाषाओं के माध्यम की दृष्टि से भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। विक्रम संवत् के आरम्भ से लेकर उन्नीसवीं शती तक जैन साहित्य में कथा ग्रंथों की अविच्छिन्न धारा पायी जाती है। यह कथा साहित्य इतना विशाल है कि इसके समुचित सम्पादन और प्रकाशन के लिए पचास वर्षों से कम समय की अपेक्षा नहीं होगी। जैन साहित्य में लोक-कथाओं का खुलकर स्वागत हुआ। भारतीय लोक-मानस पर मध्य-कालीन साहित्य की जो छाप अभी तक सुरक्षित है उसमें जैन कहानी साहित्य का पर्याप्त अंश है। सदयवच्छ-सावलिंग की कहानी का जायसी ने पदमावत में और उससे भी पहले अब्दुल रहमान ने संदेशरासक में उल्लेख किया है। यह कहानी बिहार से राजस्थान और विंध्य प्रदेश के गाँव-गाँव में जनता के कंठ-कंठ में बसी है। कितने ही ग्रंथों के रूप में भी वह जैन साहित्य का अंग है।"[2]

---

१. अभ्यर्थना, जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन, पृष्ठ ११।

२. आजकल, लोक कथा अंक, पृष्ठ ११।

जैन कथाओं को कथाकारों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई भाषाओं में प्रणयन कर एक ओर भाषा को समृद्ध किया है तो दूसरी ओर जनता की भावना को परिष्कृत—प्रतिष्ठित किया है। संस्कृति को उदात्त स्वरूप प्रदान किया है तो ज्ञान के अनेक अभिनव स्रोत भी समुद्घाटित किये हैं। जनपदीय बोलियों में भी जैन लेखकों ने कथा-साहित्य को पर्याप्त मात्रा में रचा/लिखा है। जैनाचार्यों ने इन कथाओं के माध्यम से गहन सैद्धान्तिक तत्वों को सुगम बनाया है तथा श्रावकों एवं साधारण जनता ने इनके द्वारा अपनी सहज प्रवृत्तियों को विशुद्ध बनाने का सतत् प्रयास किया है। जैन विद्वानों ने इन आख्यानों में मानव जीवन के कृष्ण और शुक्ल पक्षों को उजागर किया है लेकिन आख्यान का समापन शुक्ल पक्ष की प्रधानता दिग्दर्शित कर आदर्शवाद को प्रतिष्ठित किया है। कथा साहित्य की दृष्टि से जैन-साहित्य बौद्ध-साहित्य की अपेक्षा अधिक सफल और समृद्ध है। जैन कथाओं में भूत, वर्तमान दुःख-सुख की व्याख्या या कारण निर्देश के रूप में आता है। वह गौण है। मुख्य है वर्तमान। जबकि बौद्ध जातकों में वर्तमान अमुख्य है। वहाँ बोधिसत्व की स्थिति विगत काल में ही रहती है। जैन कथाओं में अनेक रूपक कहानियाँ भी हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक तालाब है। उसमें खिले हुए कमल भरे हैं। मध्य में एक बड़ा कमल है। चार ओर से चार मनुष्य आते हैं और वे उस बड़े कमल को हथियाना चाहते हैं। प्रयत्न करते हैं परन्तु सफल नहीं होते। एक भिक्षु तालाब के किनारे से कुछ शब्द बोलकर उस बड़े कमल को प्राप्त कर लेता है। यह सूयगड (सूत्रकृतांग) आगम की रूपक कहानी है। इस रूपक के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी-साधु, राजा-महाराजा आदि का संसार से उद्धार कर देता है। इस प्राचीन कथा साहित्य से, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्व ग्रहण कर आगे के लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक कहानियाँ रची हैं। अपभ्रंश के 'पउमचरिउ' एवं 'भविसयत्तकहा' नामक ग्रंथ कहानी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनमें अनेक उपदेशप्रद कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, कथाओं के समूह के समूह जैन आचार्यों ने रच डाले हैं जिनके द्वारा जैन धर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक सिद्धान्तों को बल भी मिला है।[1] इन कथाओं में जीवन के उदात्त एवं शाश्वत सत्यों का निरूपण हुआ है।

---

१. हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य, डा० शंकरलाल यादव, पृष्ठ ३४९।

सांसारिक वैभव-विलास से विरक्ति में जैन कथाएँ प्रयोजनसिद्ध हेतु का काम करती हैं।

कहानी का प्रारम्भ

संसार के गहन रहस्यों को समझने और अनबूझ पहेलियों को सुलझाने के लिए वैज्ञानिक जगत में एक प्रणाली प्रचलित है। इसे अंग्रेजी में कहा जाता है—Assumption अथवा Presumption.

एक संकेत मान लिया जाता है अथवा कल्पित कर लिया जाता है और फिर उसके आधार पर आगे बढ़ा जाता है, अध्ययन किया जाता है, परिणाम यह होता है कि रहस्य उजागर हो जाता है।

भूमंडल के समान वायुभार वाले स्थानों पर खींची गई रेखाएँ (isobars), ध्रुवों से भूमंडल पर होती हुई जाने वाली रेखाएँ (Meridians) ये कर्क, मकर और भूमध्य रेखाएँ आदि क्या हैं? कल्पित ही तो हैं।

इसी प्रकार बीजगणित के बीज, रेखागणित, त्रिकोणमिति आदि के आधार x, y, a, b, c, d, β, π, sin, tan, cos आदि कल्पित संकेत ही तो हैं किन्तु इन संकेतों पर आधारित अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने प्रकृति के अनेक रहस्य उद्घाटित कर दिए हैं।

मानव-जीवन भी एक पहेली है, अनबूझ रहस्य है। वह कहाँ से आया है? इस जन्म से पहले क्या था? जीवन में सुख-दुःख क्यों पा रहा है? इस जीवन के बाद उसका क्या होगा? मर कर कहाँ जायेगा? यह सब मानव-जीवन के अनबूझ रहस्य ही तो हैं।

जब एक ही जीवन इतना रहस्यपूर्ण है तो इस जीव की संसार-यात्रा अथवा संसारी जीव की यात्रा तो कितनी रहस्यपूर्ण और उलझन भरी होगी, इसके बारे में केवल कल्पना ही की जा सकती है।

लेकिन यह कल्पना, आकाश कुसुमवत् कोरी कल्पना ही नहीं है, अपितु वैज्ञानिक क्षेत्र में मान्य संकेतात्मक है, आधार सहित है, ठोस धरातल पर आधारित है। जिसकी परिकल्पना (Preception) भी सत्य है और परिणाम भी सत्य।

जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक assumptions के आधार पर प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी इसी आधार पर जीवन के रहस्यों को सुलझाया जाता है, उजागर किया जाता है और सर्वजनभोग्य बनाया जाता है।

इसके लिए जो विधा अपनाई जाती है वह है कथा।

कथा का आविर्भाव कब हुआ, कैसे हुआ, किसने किया ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है कि कथा का आविर्भाव भी मानव की बुद्धि एवं हृदय के साथ, उसकी कमनीय भावधारा और बुद्धि विचक्षणता के साथ हुआ।

सामान्य शब्दों में 'कथा' का निर्वचन इस प्रकार किया जा सकता है 'क' 'था'; अर्थात् अमुक व्यक्ति था। और फिर उसका यानि कथा का विकास मानव-जीवन के साथ होता चला जाता है, दूसरे शब्दों में कथा मानव-जीवन के साथ जुड़ी हुई है।

चूँकि मानव-जीवन का आयाम बहुत ही विस्तृत है, सारे संसार में फैला हुआ है, इसी कारण कथा का canvas भी अति विस्तृत है। इसके लोक-साहित्य आदि विभिन्न भेद-प्रभेद हैं।

जैन कथाओं का वर्गीकरण

जैन कथा वाङ्मय एक विशाल आगार है जिसे किसी निश्चित परिधि में निबद्ध करना सहज नहीं है तथापि कथा-साहित्य के विशारदों ने अपने भगीरथ यत्न—प्रयत्न किए हैं। दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में एक स्थान पर कथाओं के अनेक भेद किए हैं[1]—यथा—(१) राजकथा (२) चोर कथा (३) महामात्यकथा (४) सेनकथा (५) भयकथा (६) युद्धकथा (७) अन्नकथा (८) पानकथा (९) वस्त्रकथा (१०) शयनकथा (११) मालाकथा (१२) गंधकथा (१३) ज्ञातिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुरुष कथा (२१) शूरकथा (२२) विशिखाकथा (बाजारू गप्पें) (२३) कुम्भस्थान कथा (पनघट की कहानियाँ) (२४) पूर्वप्रेतकथा (गूजरों की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) लोकाख्यायिका (२७) समुद्राख्यायिका।[2] कथा के भेदों का निरूपण करते हुए आगमों में अकथा, विकथा, कथा—ये तीन भेद किए गये हैं। उनमें कथा तो उपादेय है, शेष त्याज्य। उपादेयकथा के

---

१. दीर्घनिकाय १/८।

२. (क) लोककथायें और उनका संग्रहकार्य, : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, आजकल, लोककथा अंक, पृष्ठ ९।

(ख) जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन, पृष्ठ ३३।

विभिन्न रूपों का वर्गीकरण विषय, शैली, पात्र एवं भाषा के आधार पर किया गया है ।[1]

साधारणतया जैन कथाओं को अग्रांकित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है[2]—(i) धर्म सम्बन्धी कथाएँ (ii) अर्थ सम्बन्धी कथाएँ (iii) काम सम्बन्धी कथाएँ (iv) मोक्ष सम्बन्धी कथाएँ । इस वर्गीकरण में भी मोक्ष विषयक भावना सर्वत्र विद्यमान है । इसके अन्तर्गत विरक्ति, त्याग, तपस्या, संयम आदि धार्मिक चिंतन एवं कृत्य स्वयं ही सन्निहित हैं क्योंकि जैन कथाओं का लक्ष्य धर्म की महिमा को बताना तथा धर्मानुमोदित आचार का प्रचार करना है । प्रकारान्तर से जैन कथाओं को इस प्रकार से भी वर्गीकृत किया जा सकता है ।[3] यथा—(१) धार्मिक (२) ऐतिहासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरंजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) पशु-पक्षी सम्बन्धी (६) गाथाएँ (१०) शाप-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रा सम्बन्धी (१४) गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवी-देवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मंत्र-तंत्रादि सम्बन्धी (१८) बुद्धि परीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति वर्ग सम्बन्धी (२०) विशिष्ट न्याय विषयक (२१) काल्पनिक कथाएँ (२२) प्रकीर्णक ।

लेकिन मेरी दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय कथा साहित्य को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[4]—

(i) नीतिकथा (Did ctic tales)
(ii) धर्मकथा (Religious tales)
(iii) लोककथा (Folk or popular tales)
(iv) रूपक कथा (Allegorical tales)

स्थानांग सूत्र में कथा के तीन भेद बताए गये हैं—

तिविहा कहा-अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा ।—सूत्र १८९ । इन भेदों के पश्चात् स्थानांग सूत्र २८२ में धर्मकथा के उपभेद भी बताए गये हैं । इसका

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २३१ ।
२. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन, पृष्ठ २३ ।
३. जैनकथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन, पृष्ठ ३४ ।
४. नौका और नाविक (भूमिका) देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पृष्ठ ८-९ ।

प्रमुख कारण यह है कि अर्थकथा और कामकथा संसार विवर्द्धक होने के कारण जैन आचार्यों को उसका वर्णन अभिप्रेत ही नहीं था। उनकी प्रमुख रुचि धर्मकथा की ओर ही थी। इसलिए उन्होंने (१) आक्षेपिणी (२) विक्षेपणी (३) संवेगिनी (४) निर्वेदिनी—धर्मकथा के ये चार भेद बताए हैं।

औपदेशिक कथा संग्रह

चरणकरणानुयोगविषयक साहित्य धर्मोपदेश या औपदेशिक प्रकरणों के रूप में उद्‌भूत एवं विकसित हुआ है। धर्मोपदेश में संयम, शील, तप, त्याग और वैराग्य आदि भावनाओं को प्रमुखता दी गई है। जैन साधु प्रवचनारम्भ में कुछ शब्दों या श्लोकों में अपनी धर्मदेशना का प्रसंग बता देता है और फिर एक लम्बी-सी मनोरंजक कहानी कहने लगता है जिसमें अनेक रोमांचक घटनाएँ होती हैं और अनेक बार कथा के भीतर कथा निकलती जाती है। इस प्रकार ये औपदेशिक प्रकरण अत्यन्त महनीय कथा साहित्य से आपूर्ण हैं जिसमें उपन्यास, दृष्टान्तकथा, प्राणि-नीतिकथा, पुराणकथा, परिकथा, नानाविध कौतुक और अद्‌भुत कथाएँ उपलब्ध होती हैं। जैन मनीषियों ने इस प्रकार विशाल औपदेशिक कथा साहित्य का सृजन किया है। धर्मोपदेश प्रकरण के अन्तर्गत जो उपदेशमाला, उपदेशप्रकरण, उपदेशरसायन, उपदेशचिन्तामणि, उपदेशकन्दली, उपदेशतरंगिणी, भावनासार आदि अर्धशतक रचनाओं का विवरण, जैन साहित्य के बृहद् इतिहास चतुर्थ भाग में संकलित है। दिगम्बर साहित्य में यद्यपि ऐसे औपदेशिक प्रकरणों की कमी है जिन पर कथा-साहित्य रचा गया हो फिर भी कुन्दकुन्द के षट्प्राभत की टीका में, वट्टकेर के 'मूलाचार' में, शिवार्य की भगवती आराधना तथा रत्नकरण्डश्रावकाचारादि की टीकाओं में औपदेशिक कथाओं के संग्रह सुलभ होते हैं।[1]

कतिपय कथाकोशों का विवरण

औपदेशिक कथा साहित्य के अनुकरण पर अनेक कोशों का सृजन हुआ है। इनमें कतिपय कथाकोशों का संक्षिप्त विवरण देना यहां समीचीन होगा।

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २३३-२३४।

बृहत्कथाकोश—उपलब्ध कथाकोशों में प्रस्तुत कोश प्राचीनतम है।[1] इसमें १५७ कथाएँ हैं। ग्रन्थ-परिमाण साढ़े बारह हजार श्लोक प्रमाण है।[2] ग्रन्थान्त की प्रशस्ति से विदित होता है कि इसके प्रणेता आचार्य हरिषेण हैं। इस ग्रन्थ की रचना काठियावाड़ के वर्धमानपुर नामक स्थान में वि० सं० ९५५ में हुई थी।

आराधना सत्कथा-प्रबन्ध—इसमें चार आराधनाओं का फल प्राप्त करने वाले धर्मात्मा पुरुषों की कथाएँ निबद्ध हैं।[3] संस्कृत गद्य में प्रणीत यह कथाकोश दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में नब्बे कथाएँ हैं और दूसरे में बत्तीस। इसका रचनाकाल वि० सं० १०३७ से ११११२ हैं। इसके रचयिता हैं पण्डित प्रभाचन्द्र अथवा भट्टारक प्रभाचन्द्र। धारानगरी में परमारनरेश भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के राज्यकाल में इस कथाकोश का प्रभाचन्द्र ने प्रणयन किया है।

कथाकोश—संस्कृत श्लोकों में रचित[4] प्रभाचन्द्र कृत गद्यात्मक कथा-कोश का ही प्रस्तुत कोश पद्यात्मक एवं विस्तृत रूपान्तर है। इसमें नौ नई कथाएँ संश्लिष्ट हैं। कुल मिलाकर सौ से अधिक कथाएँ इसमें हैं। इसके रचयिता ब्रह्म नेमिदत्त हैं और रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी का आरम्भ है।

कथाकोश प्रकरणम्—श्रीवर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रणीत कथाकोश प्रकरणम् में प्राकृत की २३९ गाथाएँ हैं। इसकी संस्कृत टीका में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है। यत्र-तत्र निर्दिष्ट संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के उद्धरणों से यह कृति विशेष प्रभावक बन पड़ी है। इसका रचनाकाल वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी रविवार है।[5]

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ २८३, डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १७, इसकी १२२ पृष्ठ में अंग्रेजी में लिखी भूमिका महत्वपूर्ण है।

२. सहस्रैर्द्वादशैर्बद्धो नूनं पंचशतान्वितः (१२५००), प्रशस्ति, पद्य १६।

३. विनायकादिपालस्य राज्ये शक्रोपमानके। —पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ ४४।

४. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३२, बृहत्कथाकोश, प्रस्तावना, पृ० ६२-६३।

५. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी पृष्ठ २३९।

कथारत्नकोश—'कहारयणकोस' अर्थात् कथारत्नकोश संवत् ११५८ में[1] श्री प्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्रसूरि द्वारा सृजित है। इसमें पचास कथाएँ हैं जो दो बृहत् अधिकारों में विभक्त हैं।[2] प्रथम अधिकार में तेतीस कथाएँ हैं, दूसरे अधिकार में सत्रह कथाएँ हैं। मुक्ति पथ के बतलाने हेतु आदर्श कथाओं का प्राकृत में प्रणयन किया गया है। इस कथाकोश में कहीं-कहीं संस्कृत के और अपभ्रंश के पद्यों को उदाहृत कर साधु और श्रावकों के आवश्यक व्रतों, नियमों और कर्त्तव्यों का बड़े प्रभावक ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

कथामणिकोश--अक्खाणयमणिकोस अर्थात् आख्यानकमणिकोश के नाम से इस कोश को सम्बोधित किया जाता है। यह १२७ उपदेशनिष्ठ कथाओं का बृहद् संग्रह है।[3] इसमें इकतालीस अध्याय हैं। प्राकृत में रचित इस कोश के रचयिता आचार्य देवेन्द्र गणि[4] हैं। इनका अपर नाम नेमिचन्द्र सूरि है। कथामणिकोश का रचना काल संवत् ११२९ है।

कथामहोदधि—इसे 'कर्पूरकथामहोदधि'[5] तथा 'कर्पूर प्रकर' या 'सूक्तावली' भी कहते हैं। इसमें १५० कथाएँ संगृहीत हैं।[6] इन कथाओं में धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों की विवेचना मुखर है। इसकी रचना वि० सं० १५०४ में तपागच्छीय रत्नशेखरसूरि के शिष्य सोमचन्द्र गणि ने की है।

भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति—प्राचीन जैन साहित्य में निर्दिष्ट धार्मिक

---

१. वसुबाण रुद्दसंखे ११५८ वच्चन्ते विक्कमाओ कालम्मि।
लिहिओ पढमम्मि य पोत्थयम्मि गणिअमलचन्देण॥ —प्रशस्ति ९।

२. (i) आत्मानंद जैन ग्रन्थ माला में मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित सन् १९४४ में प्रकाशित, प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ ४४८-४५९।
(ii) जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६६।

३. प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९६२।

४. अक्खाणयमणिकोसं एवं जो पढइ कुणइ जहयोगं।
देविंदसाहुमहियं अइरा सो लहइ अपवग्गं॥

५. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६८। (ii) हीरालाल हंसराज, जामनगर, १९१६।

६. इन कथाओं की सूची पिटरसन रिपोर्ट ३, पृष्ठ ३१६-३१९ में दी गई है।

महापुरुषों की जीवन कथाओं को प्राकृत[1] में रच-लिखकर कथाकार शुभशीलगणि ने अपनी कथा-प्रणयन-अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है। इसमें संस्कृत का प्रयोग परिलक्षित है। इस कथा कोश की रचना विक्रम संवत् १५०९ में हुई थी।

कल्पमंजरी—पन्द्रहवीं शती की इस रचना के लेखक हैं आगम गच्छ के जयतिलक सूरिजी। इसमें २६० श्लोक प्रमाण हैं।[2]

व्रतकथाकोश—संस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्री श्रुतसागर हैं। व्रतों से सम्बद्ध कथाएँ इसमें संगृहीत हैं।[3] प्रस्तुत कोश सोलहवीं शती का है।

इसी नाम से अन्य कृति के प्रणेता प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्ति हैं। उनकी इस कृति में भी विभिन्न व्रतों से सन्दर्भित कथाएँ संकलित हैं। इस कृति की पूर्ण प्रति उपलब्ध न होने के कारण इसकी कथा-परिमाण अनिश्चित है।[4]

कथावली—प्राकृत गद्य में लिखे इस बृहत् ग्रंथ के लेखक श्री भद्रेश्वर हैं। इसमें तिरसठ शलाका-पुरुषों के वृत्तान्तों के साथ अन्य महान आत्माओं के चरित्र का भी कथात्मक रूप में अंकन हुआ है।[5]

कथासमास—प्रस्तुत रचना उपदेशमाला—कथा समास नाम से भी जानी जाती है। इसमें संकलित कथाएँ प्राकृत में हैं। इन कथाओं का प्रयोजन मानव को निवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरित और आकर्षित करना रहा है। इस ग्रंथ का प्रणयन संवत् १२०४ में हुआ था।[6]

कथार्णव—यह संस्कृत के अनुष्टुप छन्दों में विरचित कथाओं का संग्रह है। भगवान महावीर के परवर्ती आचार्यों का जीवन-चरित्र कथारूप में इस कृति में समाहित हैं। इनमें अधिकांश की कथा आगमों, निर्युक्तियों

---

१. देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार, बंबई से प्रकाशित, सन् १९३२ और सन् १९३७।
२. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६५।
३. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६६ और ३६८।
४. जैन साहित्य और इतिहास, पंडित नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३७१-३७७।
५. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ १४।
६. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ५१; पाटन हस्त० सूची, भाग १, पृष्ठ ९०।

और प्रकीर्णकों में पाई जाती हैं। इसमें ७५६० श्लोक प्रमाण हैं।[1] खरतर-गच्छ के गुणरत्नसूरि के शिष्य पद्ममंदिरगणि ने इसकी सर्जना वि० सं० १५५३ में की थी।[2]

कथारत्नाकर—यह पन्द्रह तरंगों में विभाजित है।[3] इसे 'कथारत्न सागर' भी कहते हैं।[4] इसकी एक ताड पत्रीयप्रति सं० १३१९ की मिलती है। नरचन्द्रसूरि विरचित इस ग्रंथ में २०९१ श्लोक-प्रमाण हैं।[5] सम्पूर्ण रचना अनुष्टुप् छंद में प्रणीत है।

इसी नाम से अन्य कृति कथाकोश की दृष्टि-पथ पर आती है। जिसके रचयिता तपागच्छीय कल्याणविजयगणि के शिष्य हेमविजय गणि हैं। इस कोश की रचना संवत् १६५७ में हुई।[6] यह कथा-कोश दस तरंगों में विभक्त है जिनमें कुल मिलाकर २५८ कथाएँ हैं।[7] यह कथाएँ परस्पर में संश्लिष्ट की गई हैं, एक ढाँचे में सजाई नहीं गई हैं।[8] इस कृति में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरातन हिन्दी, प्राचीन गुजराती और महाराष्ट्री के उद्धरण प्रचुर मात्रा में अपनाए गए हैं। सरल संस्कृत में प्रणीत यह कृति सरस एवं नैतिकता की शैक्षिक-संवाहिका है।

'कथारत्नाकर' नाम से उत्तमर्षि प्रणीत एक रचना और है। इसे

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६०, ऋषिमण्डल प्रकरण, आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला, सं० १३, बलद, १९३९, प्रस्तावना विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २५०-२५१।

३. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६६, पाटन की हस्तप्रतियों का सुची पत्र, भाग १, पृष्ठ १४।

४. इत्यभ्यर्थनया चक्रर्वस्तुपालमंत्रिणः।
नरचन्द्र मुनीन्द्रास्ते श्रीकथारत्नसागरम् ॥

५. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २५१।

६. अहिमन्नगरद्रंगे वर्षेप्यश्वेषु रसावनौ।
मूल मार्तण्ड संयोगे चतुर्दश्यां शुचौ शुचेः ॥ —प्रशस्ति

७. हीरालाल हंसराज, जामनगर, १९११, इसका जर्मन अनुवाद १९२० में हर्टल महोदय ने किया है।

८. विण्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ५४५।

'धर्मकथारत्नाकरोद्धार' या 'कथारत्नाकरोद्धार' नाम से भी पुकारा जाता है।[1] इसमें दो अध्याय हैं। इसमें ५५०० श्लोक प्रमाण हैं।[2]

कथानककोश—इस ग्रंथ का नाम 'धम्मक्खाणयकोस' भी है।[3] इसमें १४० प्राकृत गाथा हैं जिन पर संस्कृत में विनयचन्द्र की टीका है। पाटन-भण्डार में इसकी हस्तलिखित प्रति हस्तगत होती है जिसमें वि० सं० ११६६ रचना या लिपि का समय दिया गया है।[4] पाटन के भण्डार में 'कथाग्रंथ' नामक कथाकोश की ताड़पत्रीय प्रति भी महनीय है।[5] दूसरे ताड़पत्रीय कथाकोश 'कथानुक्रमणिका' का भी उल्लेख मिलता है जिसका समय सं० ११६६ हैं।[6]

कथासंग्रह—इसे 'अन्तरकथासंग्रह' या 'विनोदकथासंग्रह' भी कहते हैं।[7] यह सरल संस्कृत-गद्य में प्रणीत कथा ग्रंथ है। इसमें ८६ कथाएँ धार्मिक और नैतिक शिक्षा की हैं और शेष १४ वाक्चातुरी और परिहास द्वारा मनोरंजन की हैं। इसकी शैली बिल्कुल बातचीत की है। संस्कृत, महाराष्ट्री और अपभ्रंश-पद्य इसमें प्रचुर रूप से उद्धृत हैं। इसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं।[8]

उपर्युक्त कथासंग्रह के अतिरिक्त जिनरत्नकोश[9] में कुछ कथाकोशों का उल्लेख मिलता है—यथा—कथाकल्लोलिनी, कथाग्रंथ, कथाद्वात्रिंशिका (परमानन्द), कथाप्रबन्ध, कथाशतक, कथासमुच्चय, कथासंचय आदि। इनके

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६६।
२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २५३।
३. पाटन की हस्तलिखित प्रतियों की सूची, भाग १, गायकवाड़ ओ० सीरीज सं० ७६, पृष्ठ ४२; जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६५।
४. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६५, ३६८।
५. वही, पृष्ठ ६५।
६. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६५।
७. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ११ और ३५७।
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २५३-२५४।
९. उपर्युक्त कथासंग्रहों का परिचय बृहत्कथाकोश की प्रस्तावना में डा० उपाध्ये द्वारा प्रस्तुत विवरण से उद्धृत है, पृष्ठ ६६-६७।

अध्ययन-अनुशीलन से जैन कथा साहित्य पर विशेष प्रकाश पड़ता है। कतिपय अन्य कथाकोश भी उपलब्ध हुए हैं जिनका विवेचन यहाँ असंगत न होगा।

पुण्याश्रव कथाकोश—इस पुण्याश्रव कथाकोष[1] में पुण्यार्जन की हेतुभूत कथाओं का संग्रह है। इसमें ४५०० श्लोक प्रमाण हैं।[2] यह संस्कृत गद्य में है जो छह अधिकारों में विभक्त है जिनमें कुल मिलाकर ५६ कथाएँ हैं। कहीं-कहीं कन्नड़ शैली के अभिदर्शन होते हैं। इसके रचयिता रामचन्द्र मुमुक्षु थे। इसका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध सम्भावित है।[3]

कुमारपाल-प्रतिबोध—कुमारवालपडिवोह अर्थात् कुमारपाल प्रतिबोध को 'जिनधर्म प्रतिबोध' और 'हेमकुमार चरित्र' भी कहते हैं।[4] इसमें पाँच प्रस्ताव हैं। पाँचवां प्रस्ताव अपभ्रंश तथा संस्कृत में है। यह प्रधानतया प्राकृत में प्रणीत गद्य-पद्यमयी कृति है। इसमें ५४ कहानियाँ संगृहीत हैं। इसके रचनाकार सोमप्रभाचार्य हैं और रचनाकाल संवत् १२४१ है।

धर्माभ्युदय—इस रचना को 'संघपतिचरित्र' भी कहते हैं। इसमें पन्द्रह सर्ग हैं और ५२०० श्लोक प्रमाण हैं।[5] महामात्य वस्तुपाल द्वारा की गई संघयात्रा को प्रसंग बनाकर धर्म के अयुभ्दय का सूचन करने वाली अनेक धार्मिक कथाओं का आकलन है। अनुष्टुप छन्द में इस प्रसंग को कथाबद्ध किया गया है। भाषा-शैली मुहावरेदार और आलंकारिक होते हुए भी सरस और प्रवहमान है। इस रचना के रचनाकार हैं उदयप्रभसूरि नागेन्द्रगच्छीय। इसका रचनाकाल संवत् १२७७ के बाद और संवत् १२९० के पूर्व का है।[6]

---

१. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ २५२।
   (ii) अपभ्रंश कवि रइधू ने 'पुण्णासव कहाकोसो' का प्रणयन किया है।

२. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९६४।

३. पुण्याश्रवकथाकोश पर लिखी भूमिका, पृष्ठ ३०-३२।

४. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ ९२।
   (ii) विण्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ५७०।
   (iii) प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ ४६३-४७२।

५. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ १९५।
   (ii) सिन्घी जैन ग्रन्थमाला, ग्रंथांक ४, मुनि चतुरविजयजी और पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित; बम्बई १९४९।

६. धर्मशर्माभ्युदय, भूमिका, पृष्ठ १४७।

सम्यक्त्व कौमुदी—इस नाम की अनेक रचनाओं के अभिदर्शन होते हैं— सम्यक्त्व कौमुदी कथानक, सम्यक्त्व कौमुदी कथा, सम्यक्त्व कौमुदी कथा कोश, सम्यक्त्व कौमुदी चरित्र और सम्यक्त्व कौमुदी ।[1] जैन धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा के सम्बन्ध में अनेक लघु कथाओं को इनमें संगृहीत किया गया है। विभिन्न कहानियाँ एक प्रधान कहानी के चौखटे के अन्तर्गत समाहित की गई हैं। यह लघु कथाकोश विभिन्न रचयिताओं द्वारा प्रणीत प्राप्त है।[2] जिनमें सम्यक्त्व कौमुदी प्राचीनतम रचना है।[3] इसका प्रणयन चौदहवीं शताब्दी में अपभ्रंश कवि नागदेव ने किया है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं जिनमें विभिन्न आठ कहानियाँ निर्दिष्ट हैं।

धर्मकल्पद्रुम—यह नौ पल्लवों में विभक्त बृहत् कथाकोश है।[4] जिसमें ४८१४ श्लोक प्रमाण हैं।[5] इस रोचक कथा संग्रह के रचयिता मुनिसागर उपाध्याय के शिष्य उदयधर्म हैं जिन्होंने इसकी रचना आनन्दरत्नसूरि के पट्टकाल में की थी। जर्मन विद्वान विण्टरनित्स[6] इनका समय पन्द्रहवीं शती स्वीकारते हैं।

धर्मकल्पद्रुम[7] नाम की अन्य रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें दो अज्ञातकर्तृक हैं, एक का नाम 'वीरदेशना' है। अन्य दो में से एक के रचयिता धर्मदेव हैं जो पूर्णिमागच्छ के थे और उन्होंने इसे संवत् १६६७ में रचा था। दूसरे का नाम 'परिग्रह प्रमाण' है और यह एक लघु प्राकृत कृति है। इसके रचियता धवलसार्थ (श्राद्ध-श्रावक) हैं।[8]

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ४२४।
२. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ४, पृष्ठ २१०-२११।
३. जैन ग्रंथ कार्यालय, हीराबाग, बम्बई से प्रकाशित, विषय की तुलना और कर्ता के निर्णय के लिए देखें—वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ में श्री राजकुमार जैन का ,का लेख सम्यक्त्व कौमुदी के कर्त्ता', पृष्ठ ३७५-३७९।
४. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ १८८ (ii) देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार, ग्रन्थांक ४० बम्बई, सं० १९७३। (iii) हर्टेल का लेख : जेड० डी० एम० जी०, भाग ६५ पृष्ठ ४२९।
५. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, पृष्ठ २६०-२६१।
६. विण्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डिन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ५४५।
७. जिनरत्नकोश, पृष्ठ १८८-१८९।
८. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ २६१।

दान प्रकाश—यह कृति आठ प्रकाशों में विभक्त है। इसमें ३४० श्लोक प्रमाण हैं। इस कथाकृति के रचयिता तपागच्छ के विजयसेनसूरि के प्रशिष्य और सोमकुशलगणि के शिष्य कनककुशलगणि हैं जिन्होंने इसका प्रणयन संवत् १६५६ में किया था।

उपदेशप्रासाद—इस विशाल कथाकोश में चौबीस स्तम्भ हैं।[1] इसमें ३६१ व्याख्यान, ३४८ दृष्टान्त कथाएँ तथा नौ पर्व कथाएँ हैं। इस विस्तृत और महनीय कथाग्रंथ में से पर्व संदर्भित कथाओं का एक अलग से संग्रह प्रकाश में आया है जिसका नाम 'पर्व कथा संग्रह'[2] है। इस कथाकोश के रचयिता विजयलक्ष्मीसूरि है।

धर्मकथा— अज्ञात लेखक की यह रचना संस्कृत की बृहत कथा कृति है।[3] इसमें पन्द्रह कथाएँ संकलित हैं। इसका रचनाकाल ग्रंथ की प्रशस्ति में संवत् १३३६ निर्दिष्ट है।

उपर्यङ्कित कथा संकलनों के अतिरिक्त देवमति उपाध्याय का 'एकादश गणधरचरित'; अज्ञात लेखक का 'युगप्रधान चरित'; सोमकीर्ति-भट्टारक, सकलकीर्ति तथा भुवनकीर्ति की 'सप्तव्यसनकथा' कृतियाँ; कनक विजय की 'समिति गुप्ति कषायकथा'; दानविजय की 'कामकुम्भादि कथा संग्रह'; आवश्यक कथा संग्रह; हेमाचार्य का कथा संग्रह; आनंदसुन्दर का 'कथाकोश'; सर्वसुन्दर का 'कथासंग्रह'; तथा कथाकल्लोलिनी, कथा संचय, कथा समुच्चय[4] आदि अनेक कथा संग्रह उल्लेखनीय हैं। जिनके अध्ययन-अन्वेषण-अनुशीलन से जैन कथा के विकास में अनेक महनीय तथ्य उजागर होते हैं। यह कथा यात्रा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में अवतिरत हुई है।

---

१. जैन धर्म प्रसारक सभा, ग्रन्थ सं० ३३-३६, भावनगर, १९१४-१९२३, वहीं से ५ भागों में गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

२. चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३४, अहमदाबाद, वि० सं० २००१; 'सौभाग्यपंचम्यादि पर्वकथा संग्रह' नाम से हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा से वि० सं० २००६ में प्रकाशित।

३. (i) जिनरत्नकोश, पृष्ठ १८८।
(ii) पाटन ग्रन्थ भंडार सूची भाग १, १७५-१७६।

४. विशेष अध्ययनार्थ श्री हरिषेणाचार्यकृत 'बृहत कथा कोश' की डा० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी भूमिका देखिए।

प्राकृत जैन कथा साहित्य[1]

कथा—कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जो सबसे अधिक लोकप्रिय और मनमोहक है। कला के क्षेत्र में कहानी से बढ़कर अभिव्यक्ति का इतना सुन्दर एवं सरस साधन अन्य नहीं है। कहानी विश्व की सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है और संसार का सर्वश्रेष्ठ सरस साहित्य है। कहानी के प्रति मानव का सहज व स्वाभाविक आकर्षण है। फलतया जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जिसमें कहानी की मधुरिमा अभिव्यञ्जित न हुई हो। सच तो यह है कि मानव का जीवन भी एक कहानी है जिसका प्रारम्भ जन्म के साथ होता है और मृत्यु के साथ अवसान होता है। कहानी कहने और सुनने की अभीप्सा मानव में आदिकाल से रही है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, आगम और त्रिपिटक की हजारों लाखों कहानियाँ इस बात की साक्षी हैं कि मानव कितने चाव से कहानी को कहता व सुनता आया है और उसके माध्यम से धर्म और दर्शन, नीति और सदाचार, बौद्धिक-चतुराई और प्रबल पराक्रम, परिवार और समाज सम्बन्धी गहन समस्याओं को सुन्दर रीति से सुलझाता रहा है।

श्रमण भगवान् महावीर जहाँ धर्म-दर्शन व अध्यात्म के गम्भीर प्ररूपक थे, वहाँ एक सफल कथाकार भी थे। वे अपने प्रवचनों में जहाँ दार्शनिक विषयों की गम्भीर चर्चा-वार्ता करते थे वहाँ लघु रूपकों एवं कथाओं का भी प्रयोग करते थे। प्राचीन निर्देशिका से परिज्ञात होता है कि नायाधम्मकहा में किसी समय भगवान्[2] महावीर द्वारा कथित हजारों

१. साहित्य और संस्कृति, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पृष्ठ ७६—८८।

२. देखें—जैन आगमों की कथाएँ: एक समीक्षात्मक अध्ययन, इसी ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय।

रूपक व कथाओं का संकलन था। इसी प्रकार उत्तराध्ययन, विपाक आदि में भी विपुल कथाएँ थीं। मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग भी धर्मकथा के विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण ग्रंथ थे। उनका संक्षिप्त परिचय समवायांग व नंदी सूत्र में दिया गया है।

मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत थे। वह अंग विच्छिन्न हो चुका है, अतः ये अनुयोग भी आज अप्राप्य हैं। मूलप्रथमानुयोग स्थविर आर्यकालक के समय भी प्राप्त नहीं था जो राजा शालिवाहन के समकालीन थे, अतः आर्यकालक ने मूल प्रथमानुयोग में से जो इतिवृत्त प्राप्त हुआ उसके आधार से नवीन प्रथमानुयोग का निर्माण किया।[1] वसुदेवहिंडी[2], आवश्यक चूर्णि[3], आवश्यक सूत्र[4] और अनुयोगद्वार की हारिभद्रीय वृत्ति[5] में जो प्रथमानुयोग का उल्लेख हुआ है, वह आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग का होना चाहिए और आवश्यकनिर्युक्ति[6] में प्रथमानुयोग का जो उल्लेख हुआ है वह मूल प्रथमानुयोग का होना चाहिए ऐसा आगम प्रभावक पंडित मुनि पुण्यविजयजी का मत है। पर अत्यन्त परिताप है कि आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग भी आज प्राप्त नहीं है। एतदर्थ भाषा, शैली, वर्णन पद्धति, छन्द और विषय आदि की दृष्टि से उसमें क्या-क्या विशेषताएँ थीं, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुयोग द्वार की हारिभद्रीयवृत्ति में पञ्च महामेघों के वर्णन को जानने के लिए प्रथमानुयोग का निर्देश किया है। जिससे सम्भव है उसमें अन्य भी अनेक वृत्त होंगे। आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग के आधार से ही भद्रेश्वर सूरि ने कहावली, आचार्य शीलांक ने चउपण्णमहापुरिसचरियं और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित की रचना की, ऐसा माना जाता है।

आर्यरक्षित ने अनुयोगों के आधार पर आगमों को चार भागों में

---

१. पंचकल्प महाभाष्य गा० १५४५-४६।

२. वसुदेवहिंडी--प्रथम खंड, पत्र २।

३. आवश्यकचूर्णि भाग १, पत्र १६०।

४. आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति पत्र १११-२।

५. अनुयोगद्वार हारिभद्रीयवृत्ति पत्र ८०।

६. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४१२।

विभक्त किया था। उसमें धर्मकथानुयोग भी एक विभाग था। दिगम्बर साहित्य में धर्मकथानुयोग को ही प्रथमानुयोग कहा है। प्रथमानुयोग में क्या-क्या वर्णन है, उसका भी उन्होंने निर्देश किया है।[1]

बताया जा चुका है कि तीर्थंकर महावीर एक उच्चकोटि के सफल कथाकार भी थे। उनके द्वारा कही गई कथाएँ आज भी आगम-साहित्य में उपलब्ध होती हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो भिन्न नामों से या रूपान्तर से वैदिक व बौद्ध साहित्य में ही उपलब्ध नहीं होती अपितु विदेशी साहित्य में भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ—ज्ञाताधर्मकथा की ७ वीं चावल के पाँच पाँच दाने वाली कथा कुछ रूपान्तर के साथ बौद्धों के सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु तथा बाइबिल[2] में भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिनपाल और जिनरक्षित[3] की कहानी बलाहस्स जातक[4] व दिव्यावदान में नामों के हेर-फेर के साथ कही गई है। उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन हरिकेशबल की कथावस्तु मातंग जातक[5] में मिलती है। तेरहवें अध्ययन चित्त-संभूत की कथावस्तु चित्तसंभूत जातक[6] में प्राप्त होती है। चौदहवें अध्ययन इषुकार की कथा हत्थिपाल जातक[7] व महाभारत के शांतिपर्व[8] में उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन 'नमिप्रवज्या' की आंशिक तुलना

---

१. (क) अंगपण्णत्ती द्वितीय अधिकार गाथा ३५-३७

—दिगम्बर आचार्य शुभचन्द्र प्रणीत।

(ख) तित्थयर चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेव पडिसत्तू।
पंच सहस्सपयाणं एस कहा पढम अणिओगो॥

—श्रुतस्कंध—गा० ३१ आचार्य ब्रह्महेमचन्द।

२. सेंट मेथ्यू की सुवार्ता २५, सेंटल्युक की सुवार्ता १९।

३. ज्ञाताधर्मकथा ९।

४. बलाहस्स जातक पृ० १९६।

५. जातक (चतुर्थखण्ड) ४९७ मातंग जातक पृष्ठ ५८३-९७।

६. जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९८ चित्तसंभूतजातक, पृष्ठ ५९८-६०८।

७. हत्थिपाल जातक ५०९।

८. शान्तिपर्व अध्याय १७५ एवं २७७।

महाजन जातक[1] तथा महाभारत के शान्ति पर्व[2] से होती है। इस प्रकार भ० महावीर के कथा साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि ये कथा-कहानियाँ आदिकाल से ही एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में, एक देश से दूसरे देश में यात्रा करती रही हैं। कहानियों की यह विश्वयात्रा उनके शाश्वत और सुन्दर रूप की साक्षी दे रही है, जिस पर सदा ही जन-मानस मुग्ध होता रहा है।

मूल आगम साहित्य में कथा-साहित्य का वर्गीकरण अर्थकथा, धर्म- और कामकथा के रूप में[3] किया गया है। परवर्ती साहित्य में विषय, पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किए गए हैं। आचार्य हरिभद्र ने विषय की दृष्टि से अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा, ये चार भेद किए हैं।[4] विद्यादि द्वारा अर्थ प्राप्त करने की जो कथा है, वह अर्थकथा है।[5] जिस श्रृंगारपूर्ण वर्णन को श्रवणकर हृदय में विकार भावनाएँ उदबुद्ध हों वह कामकथा है।[6] और जिससे अर्थ व काम दोनों भावनाएँ जागृत हों, वह मिश्रकथा है। ये तीनों प्रकार की कथाएँ आध्यात्मिक अर्थात् संयमी जीवन को दूषित करने वाली होने से विकथा हैं।[7] विकथा के स्त्रीकथा,

---

१. महाजन जातक, ५३९ तथा सोनक जातक सं ५२९।

२. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय १७८ एवं २७६।

३. तिविहा कहा पण्णत्ता तं जहा—अत्थकहा, धम्मकहा, कामकहा।

—ठाणांग, ३ ठाणा, सूत्र १८९

४. (क) अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।

एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा।।

—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति गा० १८८ पृ० २१२।

(ख) समराइच्चकहा, याकोबी संस्करण, पृष्ठ २।

५. विद्यादिभिरर्थस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ३, पृ० ४०२।

६. अभिधान राजेन्द्र कोष।

७. (क) जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ।

सा उ विकहा पवयणे, पणत्ता धीरपुरिसेहि।।

—अभिधान राजेन्द्र कोष

(ख) विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा। —आचार्य हरिभद्र

भक्तकथा, देशकथा और राजकथा के ये चार भेद और भी मिलते हैं।[1] जैन श्रमण के लिए विकथा करने का निषेध किया गया है। जैसा कि मैं ऊपर बता आया हूँ उसे वही कथा करनी चाहिए जिसको श्रवणकर श्रोता के अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मारने लगे, विकार-भावनाएँ नष्ट हों एवं संयम की भावनाएँ जागृत हों।[2] तप-संयमरूपी सद्गुणों को धारण करने वाले, परमार्थी महापुरुषों की कथा, जो सम्पूर्ण जीवों का हित करने वाली है, वह धर्मकथा कहलाती है।[3] पात्रों के आधार से दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष, ये तीन भेद कथा के किए गए हैं। जिन कथाओं में दिव्यलोक में रहने वाले देवों के क्रिया-कलापों का चित्रण हो और उसी के आधार से कथावस्तु का निर्माण हो, वे दिव्य कथाएँ हैं। मानुष कथा के पात्र मानव-लोक में रहते हैं। उनके चरित्र में मानवता का पूर्ण सजीव चित्रण होता है। कथा के पात्र मानवता के प्रतिनिधि होते हैं। किसी-किसी मानुष कथा में ऐसे मनुष्यों का चित्रण भी होता है जिनका चरित्र उपादेय नहीं होता। दिव्य-मानुषी कथा अत्यन्त सुन्दर कथा होती है। कथानक का गुम्फन कलात्मक होता है। चरित्र और घटना तथा परिस्थितियों का विशद व मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यंग आदि मनोविनोद, सौन्दर्य के विभिन्न रूप, इस कथा में एक साथ रहते हैं।[4] इसमें देव और मनुष्य के चरित्र का मिश्रित वर्णन होता है। शैली की दृष्टि से सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा ये पाँच भेद किए गए हैं[5]। सकल

---

१. पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं—इत्थीकहाए, भत्तकहाए, देसकहाए, रायकहाए।
—आवश्यक सूत्र।

२. समणेण कहेयव्वा, तव नियमकहा विरागसंजुत्ता।
जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेगणिव्वेयं ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ३ पृष्ठ ४०२ गाथा २१६।

३. तवसंजमगुणधारी चरणरया कहिंति सब्भावं।
सव्वजगजीवहियं सा उ कहा देसिया समए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष गा० २१६, पृष्ठ ४०२, भाग ३।

४. (क) दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम जत्थ केवलमेव देवचरियं वण्णिज्जइ।—समराइच्चकहा—याकोबी संस्करण—पृष्ठ २।
(ख) तं जहा दिव्व-माणुसी तहच्चेय। —लीलावई गा० ३५।
(ग) लीलावई गा० ४१, पृष्ठ ११।

५. ताओ पुण पंचकहाओ। तं जहा—सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा, तहावरा कहिय त्ति संकिण्ण कहत्ति।—कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७।

कथा में चारों पुरुषार्थ, नौ रस, आदर्श चरित्र और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का वर्णन रहता है।[1] जैनकथा साहित्य गुण और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जनजीवन का पूर्णतया चित्रण उसमें किया गया है।

आगम साहित्य में बीजरूप से कथाएँ मिलती हैं तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य में उनका पूर्ण निखार दृष्टिगोचर होता है। हजारों लघु व बृहत् कथाएँ उनमें आयी हैं। आगमकालीन कथाओं की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि उनमें उपमाओं और दृष्टान्तों का अवलम्बन लेकर जन-जीवन को धर्म-सिद्धान्तों की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया गया है। उन कथाओं की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों के आधार से हुई है। यह सत्य है कि आगमकालीन कथाओं में संक्षेप करने के लिए यत्र-तत्र 'वण्णओ' के रूप में संकेत किया गया है जिससे कथा को पढ़ते समय उनके वर्णन की समग्रता का जो आनंद आना चाहिए, उसमें कमी रह जाती है। व्याख्या साहित्य में यह प्रवृत्ति नहीं अपनाई गई। कथाओं में जहाँ आगम साहित्य में केवल धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वहाँ व्याख्या साहित्य में साहित्यिकता भी अपनाई गयी। एकरूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग किया जाने लगा। पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन, एवं नीति संश्लेषण प्रभृति सभी दृष्टियों से आगमिक कथाओं की अपेक्षा व्याख्या साहित्य की कथाओं में विशेषता व नवीनता आयी है। आगमकालीन कथाओं में धार्मिकता का पुट अधिक आजाने से मनोरंजन व कुतूहल का प्रायः अभाव था किन्तु व्याख्या साहित्य की कथाओं में यह बात नहीं है। आगमयुग की कथाएँ चरित्रप्रधान होने से विशेष विस्तार वाली होती थीं पर व्याख्या साहित्य की कथाएँ संक्षिप्त; किन्तु ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक, पौराणिक सभी प्रकार की कथाएँ हैं।

वसुदेवहिंडी चरितात्मक कथा ग्रंथ है। यह दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड के कर्ता संघदास गणी वाचक हैं और द्वितीय खण्ड के निर्माता धर्मसेनगणी हैं। प्रथम खण्ड २९ लंभकों में पूर्ण हुआ है और द्वितीय खण्ड ७१ लम्भकों में। 'बृहत्कथा' के समान यह ग्रंथ भी कथाओं का कोष है। जैसे संस्कृत साहित्य में बृहत्कथा महाभारत और रामायण का उपजीव्य काव्य माना गया है वैसे ही प्राकृत साहित्य में वसुदेवहिंडी उपजीव्य है।

---

१. समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना, समरादित्यवत् सकलकथा।

—हैमकाव्यशब्दानुशासन ८/८, पृष्ठ ४६५।

विमलसूरि का पउमचरियं और हरिवंसचरियं, शीलांकाचार्य का चउप्पण्ण महापुरिसचरियं, गुणपालमुनि का जम्बूचरियं, धनेश्वर का सुरसुन्दरीचरियं, नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरियं, गुणचन्द्रगणि का पासनाहचरियं और महावीरचरिय, देवेन्द्रसूरि का सुदंसणचरिय और कण्हचरिय, मानतुंगसूरि का जयन्ती प्रकरण, चन्द्रप्रभमहत्तरि का चन्दकेवलीचरिय, देवचन्द्रसूरि का संतिनाहचरिय, शान्तिसूरि का पुहवीचन्दचरिय, मलधारी हेमचन्द्र का नेमिनाहचरिय, श्रीचन्द्र का मुणिसुव्वयसामिचरिय, देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि का सणंकुमारचरिय, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाहचरिय, नेमिचन्द्रसूरि का अनन्तनाहचरिय एवं रत्नप्रभ का नेमिनाहचरिय प्रसिद्ध चरितात्मक काव्यग्रन्थ हैं।[1] इनमें कथा और आख्यानिका का अपूर्व संमिश्रण हुआ है। इनमें बुद्धि माहात्म्य, लौकिक आचार-विचार, सामाजिक परिस्थिति और राजनैतिक वातावरण का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन चरित ग्रंथों में "कथारस" की अपेक्षा 'चरित' की ही प्रधानता है।

प्राकृत साहित्य में विशुद्ध कथा साहित्य का प्रारम्भ तरंगवती से होता है। विक्रम की तीसरी शती में पादलिप्त सूरि ने प्रस्तुत कथा का प्रणयन किया। तरंगवती का अपर नाम तरंगलोला भी है। यह कथा उत्तम पुरुष में वर्णित है। करुण, शृंगार और शांतरस की त्रिवेणी इसमें एक साथ प्रवाहित हुई है। इसी प्रकार की दूसरी कृति आचार्य हरिभद्र की समराइच्च कहा है। इस कथा में प्रतिशोध-भावना का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया गया है। अग्निशर्मा के मन में तीव्र घृणा की भावना जागृत होती है और वह गुणसेन के प्रति निदान करता है। वह निदान नौ भवों तक चलता है। नायक की भावना उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती है और प्रतिनायक की भावना अविशुद्ध। नायक विशुद्ध भावना से मुक्ति को वरण करता है और प्रतिनायक जन्ममरण की अभिवृद्धि करता है। कथा का गठन सुन्दर व कुतूहलपूर्ण है। धूर्ताख्यान भी हरिभद्रसूरि की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है। भारतीय कथा साहित्य में लाक्षणिक शैली में लिखी गई इस कृति का स्थान मूर्धन्य है। इस प्रकार की व्यंगप्रधान अन्य रचनाएँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

कुवलयमाला हरिभद्रसूरि के शिष्य उद्योतन सूरि के द्वारा रचित है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन विकारों का दुष्परिणाम बतलाने के लिए अनेक अवान्तर कथाओं के द्वारा विषय का निरूपण किया गया है। कदलीस्तम्भ सदृश कथाजाल संगठित है। कथारस और काव्यात्मकता

---

१. मरुधरकेसरी अभिनंदन ग्रन्थ, खण्ड ४, पृष्ठ १९४।

दोनों का सुन्दर मिश्रण हुआ है। संवाद बड़े ही दिलचस्प हैं और साथ ही अलंकृत पदों की रमणीयता से युक्त हैं। इसका रचनाकाल शक सं० ७०० में एक दिन न्यून है।[1]

समराइच्चकहा और कुवलयमाला की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए शीलांकाचार्य ने चउपन्न महापुरिसचरिय की रचना की है। इसमें जैनधर्म के चौवन महापुरुषों के जन्म-जन्मान्तर की कथाएँ गुम्फित की गई हैं। जैन धर्म में महापुरुषों की संख्या तिरसठ कही गई है। लेकिन शीलांकाचार्य ने उस परम्परा से अलग यह संख्या चौवन मानी है। पुनः इन महापुरुषों में से कुछ प्रमुख महापुरुषों का जीवन चरित्र सम्यक्‌रूप से वर्णित मिलता है, जिनमें मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथाओं का कौशलपूर्वक संयोजन किया गया है। यह कथा ग्रंथ शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के परिणाम को प्रतिपादित करने वाली एक धर्मकथा है।

सुरसुन्दरी चरित्र के रचयिता धनेश्वर सूरि ने लीलावईकहा के रचयिता कौतूहल के मार्ग का अनुसरण किया है। ग्रंथ की चार हजार गाथाओं में जैनधर्म के सिद्धान्तों के निरूपण की आधारशिला पर प्रेमकथा का प्रस्तुतिकरण विशेष महत्व रखता है। धनेश्वरसूरि को काम भावना के साथ-साथ धर्मभावना के निरूपण में तो सफलता मिलती ही है, पात्रों के मनोवैज्ञानिक विकास एवं उनकी मानवीय प्रवृत्तियों के सम्यक् निरूपण में भी अद्‌भुत सफलता मिली है।

संवेगरंगशाला जिनचन्द्र रचित रूपक कथा है। संवेग भाव के निरूपण हेतु अनेक कथाएँ इसमें गुम्फित की गई है।[2] जिनदत्ताख्यान की कथा का प्रणयन आचार्य सुमतिसूरि ने किया है। कथा अत्यन्त रसप्रद है। इसमें जीवन के आनन्द और विषाद का, सुन्दरता और कुरूपता का, शक्ति और दुर्बलता का, जीवन के विविध पक्षों का मार्मिक चित्रण किया गया है। नायक का चरित्र, उदारता, सहृदयता और निष्पक्षता का प्रतीक है।

महेश्वरसूरि ने ज्ञानपंचमीकथा में श्रुतपंचमीव्रत का माहात्म्य बताने के लिये दस कथाओं का सृजन किया है। इन कथाओं में प्रथम जयसेन-

---

१. कुवलयमाला, पृष्ठ २८२, अनुवाद ४३० ।

२. प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ४८६-४८८ ।

कहा और अन्तिम भविसयत्तकहा महत्वपूर्ण है। महेश्वरसूरि प्रत्येक कथा में कथा कहने के साथ ही साथ उपदेश को समावेश करते चलते हैं।

नर्मदासुन्दरी[1] के रचयिता महेन्द्रसूरि हैं। उन्होंने प्रस्तुत कथा की रचना ११८७ में की थी। कथा सम्यक् प्रकार से गठी हुई है। कुतूहल आदि से अन्त तक बना रहता है। महेश्वरदत्त का नर्मदासुन्दरी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह करना, फिर किसी आशंका से उसका परित्याग कर देना, हरिणी वेश्या के अत्याचार के बावजूद नर्मदा का शील में दृढ़ रहना और बुद्धि चातुर्य से किसी प्रकार बब्बर के राजा के चंगुल से मुक्त होना आदि घटनाएँ कथा में अत्यन्त रोचकता उत्पन्न करती हैं।

'प्राकृत कथा संग्रह' में बारह कथाओं का सुन्दर संकलन हुआ है। लेखक का नाम अज्ञात है। दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, नमस्कार महामन्त्र प्रभृति विषयों का कथा के माध्यम से विश्लेषण किया गया है। मानवीय भावनाओं का सरस व सूक्ष्म चित्रण किया गया है। जैसे—एक कृपण श्रेष्ठि है, पास में अपार सम्पत्ति है, पर कृपणता के कारण पुत्र को पान खाते देखकर अत्यधिक दुःखी होता है। पुत्र उत्पन्न होने पर पत्नी को भोजन देने में भी कंजूसी करता है।

सिरिवालकहा का संकलन रत्नशेखर सूरि ने किया है। संकलन समय सं० १४२८ है।[2] आधुनिक उपन्यास के सभी गुण प्रस्तुत कथानक में विद्यमान हैं। पात्रों के चरित्र का उत्थान और पतन, कथा में अनेक तरह के मोड़, सरसता एवं मनोरंजकता आदि सभी गुण उसमें हैं। जो पात्र सद्-गुणों को स्वीकार करते हैं उनका शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह विकास होता है और जो दुर्गुणों से, वासनाओं से ग्रसित होते हैं उनका विनाश होता है। सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए कथा का गुम्फन किया गया है जो पूर्ण रीति से सफल हुआ है।

---

१. नम्मयासुन्दरीकहा, सिंघी ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ४८ में प्रकाशित।

२. सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहहेमतिलय सूरीणं।
सीसेहिं रयणसेहरसूरीहिं इमाहु संकलिया॥
चउदस अट्ठावीसो.......................॥

—सिरिवालकहा प्रशस्ति

जिनहर्षसूरि ने विक्रम संवत् १४८७ में 'रयणसेहरनिवकहा' अर्थात् रत्नशेखर नृपति कथा का प्रणयन किया। जायसी के 'पद्मावत' की कथा का मूल प्रस्तुत कथा है। डॉ० नेमीचन्द्र जैन शास्त्री इस कथा को 'पद्मावत' का पूर्व रूप स्वीकारते हैं।[1] यह एक प्रेम कथा होने पर भी लेखक ने प्रेम का वासनात्मक रूप नहीं, पर प्रेम का विशुद्ध व उदात्त रूप उपस्थित किया है। राग का उदात्तीकरण ही विराग है। मूल कथा के साथ प्रासंगिक कथाएँ भी अनेक आयी हैं। कथाशिल्प की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक पूर्ण सफल है। दैवी चमत्कारिक घटनाएँ व अतिमानवीय तत्त्वों के आधिक्य से कथा में कुतूहल के साथ प्रभावोत्पादकता भी है।[2]

महिवाल कथा के रचयिता वीरदेवगणि हैं। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से अवगत होता है कि देवभद्रसूरि चन्द्रगच्छ में हुए थे। इनके शिष्य सिद्धसेनसूरि और सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनिचन्द्रसूरि थे। वीरदेव गणि मुनिचन्द्र के शिष्य थे।[3] विण्टरनित्स ने एक संस्कृत 'महीपाल चरित' का भी उल्लेख किया है जिसके रचयिता चरित्रसुन्दर बतलाये हैं। इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शती का मध्य भाग है। परिकथा और निजन्धरी इन दोनों का यह मिश्रित रूप है।[4]

उक्त प्रमुख कथा रचनाओं के अतिरिक्त संघतिलकसूरि द्वारा विरचित आरामसोहाकहा, पंडिअधणवालकहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्गदुजकहा, रोहगुत्तकहा, बज्जकण्णनिवकहा, सुहजकहा और मल्लवादीकहा, भद्दबाहुकहा, पादलिप्ताचार्य कहा, सिद्धसेन दिवाकर कहा, नागयत्त कहा, बाह्याभ्यन्तर कामिनीकथा, मेतार्यमुनि कथा, द्रवदन्त कथा, पद्मशेखर कथा, संग्रामसूर कथा, चन्द्रलेखा कथा एवं नरसुन्दर कथा आदि बीस कथाएँ उपलब्ध हैं। देवचन्द्रसूरि का कालकाचार्य कथानक एवं अज्ञात नामक कवि की मलयसुन्दरी कथा विस्तृत कथाएँ हैं। प्राकृत कथा साहित्य में कुछ ऐसी

---

१. प्राकृत कथा साहित्य, प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमीचन्द्र जैन शास्त्री, पृष्ठ ५१०-५१३।
२. साहित्य और संस्कृति, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ ८६।
३. प्राकृत कथा साहित्य, प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमीचन्द्र जैन शास्त्री, पृष्ठ ५१३-५१५।
४. Indian Literature Vol. ii, Page ५३६।

कथाकृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनका लक्ष्य कथा को मनोरंजक रूप में प्रस्तुत करना न होकर जैन मुनियों द्वारा पाठकों को उपदेश प्रदान करना रहा है। इस प्रकार की उपदेशप्रद कथाओं में धर्मदास गणि की उपदेश-माला, जयसिंहसूरि की धर्मोपदेशमाला, जयकीर्ति की शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरि की भुवनसुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्रसूरि की उपदेशमाला, साहड की विवेकमञ्जरी, मुनिसुन्दर सूरि का उपदेश रत्नाकर, शुभवर्धन गणि की वर्धमान देशना एवं सोमविमल की दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।[1] उपदेशप्रद कथाओं में उपदेश की प्रधानता है। अन्य विषय गौण हैं।

हिन्दी और अपभ्रंश साहित्य में प्रेमाख्यान का जो विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है—उसके बीज प्राकृत कथा साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। यद्यपि प्राकृत कथाएँ धर्मकथा के रूप में ही प्रमुख रही हैं तथापि उन कथाओं में प्रसंगवश मदनोत्सव, वसन्तमहोत्सव, प्रेमपत्र, प्रेमानुराग प्रभृति प्रसंगों पर जो मानसिक भावों का शृंगारप्रधान चित्रण हुआ है वही चित्रण प्रेमाख्यान का मूलबीज है जो वट वृक्ष सदृश वहाँ विकसित हुआ है।

प्राकृत कथा साहित्य का कथोत्थप्ररोह भी प्रेक्षणीय प्याज के छिलकों के समान एक छिलके पश्चात् दूसरा छिलका जैसे निकलता रहता है, वैसे ही प्राकृत-कथाओं में एक कथा से दूसरी कथा निकलती रहती है जो कथा-शिल्प की दृष्टि से एक सुन्दर योजना है।

चम्पूविधा का विकास भी प्राकृत कथा साहित्य से ही हुआ है। कथाओं को सरस बनाने की दृष्टि से प्राकृत-कथाओं में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग होता है। पद्य भावना का प्रतीक है तो गद्य विचारों का प्रतीक है। भावना का सम्बन्ध हृदय से है और विचारों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, अतः कथाकारों ने गद्य के साथ पद्य का प्रयोग किया और पद्य के साथ गद्य का। समराइच्च कहा और कुवलयमाला इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। दण्डी ने गद्य-पद्य मिश्रित जो चम्पू की परिभाषा दी है वह तो प्राकृत-कथा साहित्य में पूर्व ही विद्यमान थी। अतः संस्कृत भाषा में जो चम्पूविधा का विकास हुआ है, उस विधा का मूलस्रोत प्राकृत-कथाएँ ही हैं।

---

१. प्राकृत कथा साहित्य, प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमीचन्द्र जैन शास्त्री, पृष्ठ ५१७।

भारतीय साहित्य में प्राकृत कथा साहित्य ही लोककथा का आदि स्रोत हैं। वसुदेव हिण्डी में लोककथाओं का मूल रूप मिलता है। गुणाढ्य रचित बृहत्कथा तो लोककथाओं का एक प्रकार से विश्व कोष है। लोक-कथाओं के आधार से ही प्राकृत-कथा लेखकों ने धर्मकथाएँ निर्मित की हैं। पालिकथा साहित्य में पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है जबकि प्राकृत में गौण रहता है। पालिकथाओं में बोधिसत्व ही मुख्य पात्र हैं और सभी कथाओं का उपसंहार उपदेश रूप में होता है। जबकि प्राकृत-कथाओं में यह बात नहीं है। पालिकथाओं में एक ही शैली है जबकि प्राकृत-कथाओं में विभिन्न शैलियाँ हैं। पालिकथाओं में पात्रों को सीधा ही नैतिक धार्मिक बताया जाता है किन्तु प्राकृत कथाओं में कथोपकथन, शील-निरूपण आदि के द्वारा उसके चरित्र को बताया जाता है। पहले उसके जीवन की विकृ-तियों को बताकर बाद में लम्बे संघर्ष के पश्चात् किसप्रकार वह अपने जीवन को निखारता है, यह बताया जाता है। सिद्धान्त की स्थापना भी उस समय की जाती है। डॉ० रामसिंह तोमर कहते हैं कि "इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा कहने के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं। धार्मिक, लौकिक, स्वतंत्र तथा आंतर कथाएँ एक सूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ मिलती हैं।"[1] इस प्रकार प्राकृत जैन कथा साहित्य लौकिक कथा-कहानियों का अक्षय भंडार है। कितनी ही रोचक और मनो-रंजक लोककथाएँ, लोकगाथाएँ, नीतिकथाएँ दंतकथाएँ (लीजेंड्स), परीकथाएँ, प्राणिकथाएँ, कल्पित कथाएँ, दृष्टान्त कथाएँ, लघुकथाएँ, आख्यान और वार्त्ताएँ, आदि यहाँ उपलब्ध हैं जो भारतीय संस्कृति की अक्षय-निधि हैं।[2]

प्राकृतकथाओं की विशेषताओं से प्रभावित होकर प्रो० हर्टेल ने लिखा है—"कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृत कथाओं में पाई जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के रस्म, रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाएँ जनसाधारण की शिक्षा का उद्गम स्थान ही नहीं है बरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।"[3]

---

१. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, रामसिंह तोमर, पृष्ठ २१।

२. प्राकृत जैन कथा साहित्य, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ १६७।

३. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज् आफ गुजरात, पृष्ठ ८।

विण्टरनित्स ने भी प्राकृत-कथा-साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"प्राकृत का कथा साहित्य वस्तुतः विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नहीं है बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इससे जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झांकियाँ भी मिलती हैं। जैसे इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य हैं वैसे उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजा और पुरोहितों का जीवन ही इस कथा साहित्य में चित्रित नहीं है अपितु साधारण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित है।"[1]

भारतीय संस्कृति, साहित्य और सभ्यता के परिज्ञान हेतु प्राकृत-कथा साहित्य का अध्ययन करना अतीव उपयोगी है। प्राकृत-कथा साहित्य राजा से लेकर रंक तक, सभी का समानरूप से वर्णन करता है। उसमें कथारस की प्रचुरता के साथ ही मनोरंजन, कुतूहल और प्रभावोत्पादकता पर्याप्त मात्रा में है। इन कथाओं में मनोरंजन मुख्य उद्देश्य नहीं है अपितु व्यक्तित्व का विकास और चरित्र का उत्कर्ष करना ही उनका उद्देश्य है। जीवन की सभी समस्याओं का चाहे वे सामाजिक हों, पारिवारिक हों, राजनैतिक हों या धार्मिक हों, समाधान उनमें किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैन प्राकृत-कथा साहित्य अत्यधिक विशाल है, उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। जितना अधिक इस साहित्य का प्रचार-प्रसार होगा उतना ही अधिक उसका सही मूल्यांकन किया जा सकेगा।

o

१. ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ५४५।

अपभ्रंश जैन कथा साहित्य

अपभ्रंश कथा काव्य के वस्तु तत्त्व के विकास और अलंकरण की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। ये सभी कथा काव्यों में समान रूप से उपलब्ध हैं। अपभ्रंश कथा-काव्य के निर्माता एक विशेष युग और दृष्टि से प्रभावित थे। कथा कहकर कुतूहल जगाना या मात्र मनोविनोद करना उनका लक्ष्य नहीं था। वे ऐसे कथा साहित्य की रचना करना चाहते थे, जिससे काव्य-कला के विधान और उद्देश्य की पूर्ति के साथ नैतिकता और धार्मिक उद्देश्य भी प्रतिफलित हो जाए। कोरे साहित्यकारों या धर्मवादियों की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण कुछ उदार और लोक कल्याणकारी था।[1] कथासाहित्य की यह विरासत इन्हें परम्परा से प्राप्त थी। इसमें प्रयुक्त कथाओं के सूत्र भारतीय पुराणों से मिलते-जुलते हैं। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य को कथा काव्य कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसमें कथा की मुख्यता रहती है। चाहे कथा पौराणिक हो या काल्पनिक। जैन अपभ्रंश की प्रायः समस्त प्रबन्धात्मक कथा-कृतियाँ पद्यबद्ध हैं और प्रायः सबके चरितनायक या तो पौराणिक हैं या जैन धर्म के निष्ठापूर्ण अनुयायी। भाषा, छंद, कवित्व सभी दृष्टियों से कथाकृतियाँ अपभ्रंश साहित्य का उत्कृष्ट और महनीय रूप प्रदर्शित करती हैं।[2]

अपभ्रंश कथा साहित्य का सूत्रपात स्वयंभू से होता है। उनका 'पउमचरिउ' रामकथा का जैन परम्परासम्मत रमणीय रूप दर्शाता है। यह संस्कृत के 'पद्मपुराण' (रविषेणकृत) और प्राकृत के विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' से उत्प्रेरित है। स्वयंभू ने इसमें अपनी मौलिक घटनाओं को भी निबद्ध किया है। 'पउमचरिउ' की सम्पूर्ण कथा अहिंसा के सिद्धान्त पर

---

१. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डा० देवेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ ८५-८६।

२. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि का शोध प्रबन्ध, सन् १९८८, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' पृष्ठ ४२-४४।

आधृत है। पांच खण्डों में विभक्त 'पउमचरिउ' में नव्वे संधियाँ हैं। स्वयंभू का 'रिट्ठणेमिचरिउ' एक सौ बारह सन्धियों और एक हजार नौ सौ तेतीस कड़वकों वाला एक महाग्रन्थ है जिसमें यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर चार काण्ड है। इस कथाकृति में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि और उनके तीर्थ में होने वाले श्रीकृष्ण तथा कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन है। यह रचना हरिवंशपुराण, भारतपुराण आदि संज्ञाओं से भी जानी जाती है।[1]

पुष्पदन्त प्रणीत 'तिसट्ठि महापुरिसगुणालंकारु' अर्थात् त्रिषष्टि शलाका पुरुष गुणालंकार 'महापुराण' की संज्ञा से विख्यात है। आदिपुराण और उत्तरपुराण इन द्वय खण्डों में त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित शब्दित हैं। इसका श्लोक परिमाण बीस हजार है। पुष्पदंत की दूसरी कृति 'णायकुमार चरिउ' में नौ सन्धियाँ हैं जिसमें श्रुतपंचमी का माहात्म्य बतलाने के लिए नागकुमार की रोमांटिक जीवन कथा वर्णित है। 'जसहरचरिउ' पुष्पदंत की चार सन्धियों की रचना है जो मुनि यशोधर की जीवन कथा को प्रस्तुत करती है। सम्पूर्ण कथानक धार्मिक और दार्शनिक उद्देश्यों से परिपूर्ण है।[2]

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र को पद्मकीर्ति ने अपनी कृति 'पासचरिउ' में उनके पूर्वभवों (जन्मों) की कथा के साथ चित्रित किया है।[3] धवल की विशाल अपभ्रंश कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' अर्थात् हरिवंश पुराण में एक सौ बाईस संधियाँ हैं। यह बृहत्काय कृति महाभारत हरिवंश की कथा से सम्बद्ध है।[4]

---

१. अपभ्रंश के आद्यकवि स्वयंभू और उनका परवर्ती काव्यकारों पर प्रभाव, श्री जैन सिद्धान्त भास्कर, vol ४०, नं० २, दिसम्बर ८७, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृष्ठ ४१-४५।

२. महाकवि पुष्पदंत : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन विद्या, पुष्पदन्त विशेषांक, खण्ड १, १९८३, पृष्ठ ९-१५।

३. अपभ्रंश वाङ्मय में भगवान पार्श्वनाथ, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, खण्ड १२, सितम्बर ८६, पृष्ठ ४५।

४. (क) केटेलाग आव संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड बरार, सम्पा० डा० हीरालाल जैन, पृष्ठ ७१६, ७६२-७६७ तथा भूमिका, पृष्ठ ४८-४९।

(ख) जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ४२३।

(ग) अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृष्ठ ४७-४८।

अपभ्रंश के मध्यकालीन अर्थात् दसवीं शती के धनपाल विरचित कथाकाव्य 'भविसयत्तकहा' आध्यात्मिक चरितकाव्य है। डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' इस कथा काव्य में धार्मिक बोझिलता न मानते हुए लौकिक जीवन के एक नहीं अनेक चित्र गुम्फित होना स्वीकारते हैं।[1] इस कृति को 'सुयपंचमी कहा' अर्थात् श्रुतपंचमी कथा भी कहते हैं। इसमें ज्ञान पंचमी के फल-वर्णन स्वरूप भविसयत्त की कथा बाईस संधियों में है। कथा का मूलस्वर व्रतरूप होते हुए भी जिनेन्द्रभक्ति से अनुप्राणित है।[2]

वीर कवि की अपभ्रंश कृति 'जंबूसामिचरिउ' में जैनधर्म के अन्तिम केवली जंबूस्वामी का चरित ग्यारह सन्धियों में कहा गया है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १०७६ है। वीर कवि की इस कृति में ऐतिहासिक महापुरुष जंबूस्वामी के पूर्वभवों तथा उनके विवाहों और युद्धों का वर्णन अभिव्यञ्जित है। इसमें समाविष्ट अन्तर्कथाएँ मुख्य कथावस्तु के विकास में सहायक बन पड़ी हैं।[3]

पंचपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र के महत्त्व को दर्शाया है विक्रम संवत ११०० के प्रणेता नयनंदी ने अपनी बारह संधियों वाली रचना 'सुदंसण-चरिउ' में। सुदर्शन का चरित शील माहात्म्य के लिए जैन जगत में विख्यात है।[4] ग्यारहवीं शती के दिगम्बर मुनि कनकामर की कृति 'करकण्डु चरिउ' दस संधियों की रचना है जिसमें करकंडु की मुख्य कथा के साथ-साथ नौ अवान्तर कथाएँ हैं जो जैनधर्म के सदाचारमय जीवन को तथा राजा को नीति की शिक्षा देने के मिस वर्णित हैं। कथा के प्रसार और

---

१. भविसयत्तकहा का साहित्यिक महत्व, डा० आदित्य प्रचण्डिया दीति, जैन विद्या, अंक ४, १९८६, पृष्ठ ३०।

२. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृष्ठ ४८।

३. जंबूसामिचरिउ का साहित्यिक मूल्यांकन, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैनविद्या, अप्रेल १९८७, पृष्ठ ३३-४०।

४. सुदंसणचरिउ का साहित्यिक मूल्यांकन, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन-विद्या, अक्टूबर १९८७, पृष्ठ १-११।

वर्णन में व्यापकता है। इस कृति की कथा में लोक कथाओं की झलक द्रष्टव्य है।[1]

घाहिल की चार संधियों की रचना 'पउमसिरीचरिउ' में पंचाणुव्रत का माहात्म्य बताया गया है। इस रचना को प्रणेता ने धर्मकथा से सम्बोधित किया है। रचना में पद्मश्री के पूर्व जन्मों की कथा देकर उसे अनेक विषम परिस्थितियों में भी धर्म में दृढ़ रहना दिखाया गया है।[2]

अपभ्रंश जैन कथा साहित्य में श्रीचन्द का महनीय स्थान है। उनका तिरपन संधियों का उपदेश प्रधान कथा संग्रह 'कथाकोश' अपभ्रंश कथा साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध होता है।[3] बारहवीं शती के उत्तरार्ध और तेरहवीं के प्रारम्भ के रचयिता श्रीधर की तीन रचनाएँ—सुकुमाल चरिउ, पासणाहचरिउ और भविसयत्तचरिउ भाषा, शैली और कथा की दृष्टि से परम्परा का अनुमोदन करती हैं। देवसेनगणि की अट्ठाइस संधियों की 'सुलोचनाचरिउ' कृति, सिंह की पन्द्रह सन्धियों की 'पज्जुण्णचरिउ' कृति, हरिभद्र की 'णेमिणाहचरिउ', जिसमें संगृहीत 'सनत्कुमारचरित' दृष्टि पथ पर आता है जो कथानक की दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती है[4] तथा धनपाल द्वितीय की 'बाहुबलिचरिउ' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्ध तथा सोलहवीं शती के पूर्वार्ध के रचनाकार रइधू की कथात्मक रचनाएँ—पासणाहचरिउ, सुकोसलचरिउ, धण्णकुमारचरिउ, सम्मतिनाहचरिउ—महत्वपूर्ण हैं। नरसेन की 'सिरिवालचरिउ', हरिदेव की मयण पराजयचरिउ; यशकीर्ति की चंदप्पहचरिउ, माणिक्यराज की 'णायकुमारचरिउ और अमरसेनचरिउ' कृतियाँ परम्परा से चली आ रहीं कथाओं पर आधृत हैं सिवाय 'मयणपराजयचरिउ' के, वह प्रतीकात्मक और रूपकात्मक कथाकाव्य है।

---

१. (i) मुनि कनकामर व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ० (श्रीमती) अलका प्रचण्डिया 'दीति', जैनविद्या, मार्च १९८८, पृष्ठ १-७।

(ii) करकण्डुचरिउ का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, वही, पृष्ठ २५-३४।

२. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, पृष्ठ ५१।

३. वही ५२-५३।

४. वही, पृष्ठ ५५ से ५६ तक।

अपभ्रंश का कथा साहित्य प्राकृत की ही भाँति प्रचुर तथा समृद्ध है।[1] अनेक छोटी-छोटी कथाएँ व्रत सम्बन्धी आख्यानों को लेकर या धार्मिक प्रभाव बताने के लिए लोकाख्यानों को लेकर रची गई हैं। अकेली रविव्रत कथा के सम्बन्ध में अलग-अलग विद्वानों की लगभग एक दर्जन रचनाएँ मिलती हैं। केवल भट्टारक गुणभद्र रचित सत्रह कथाएँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार पंडित साधारण की आठ कथाएँ तथा मुनि बालचन्द्र की तीन एवं मुनि विनयचन्द्र की तीन कथाएँ मिलती हैं।[2] अपभ्रंश की इन जैनकथाओं के अनुशीलन से मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का परिज्ञान होता है।

---

१. भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य, डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री।

२. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोधप्रवृत्तियाँ, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृष्ठ ३४।

हिन्दी जैन कथा और उपाध्यायश्री पुष्कर मुनिजी की 'जैन कथाएँ'

हिन्दी जैन कथाओं के दो रूप हमें प्राप्त होते हैं। प्रथम रूप है विभिन्न भाषाओं से अनूदित कथाएँ और दूसरा रूप है मौलिकता, जो पौराणिक कथाओं के माध्यम से अभिव्यञ्जित हुआ है। आज बहुत से सुविज्ञों ने जैन पुराणों की कथाओं को अभिनव शैली में प्रस्तुत किया है और इस दिशा में सतत् निमग्न हैं। डॉ० नेमिचन्द्र के कथनानुसार[1] "जैन आख्यानों में मानव-जीवन के प्रत्येक रूप का सरस और विशद् विवेचन है तथा सम्पूर्ण जीवन-चित्र विविध परिस्थिति-रंगों से अनुरंजित होकर अंकित है। कहीं इन कथाओं में ऐहिक समस्याओं का समाधान किया गया है तो कहीं पारलौकिक समस्याओं का। अर्थनीति, राजनीति, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों, कला-कौशल के चित्र, उत्तुंगिनी अगाध नद-नदी आदि भू-वृत्तों का लेखा, अतीत के जल-स्थल मार्गों के संकेत भी जैन कथाओं में पूर्णतया विद्यमान हैं। ये कथाएँ जीवन को गतिशील, हृदय को उदार और विशुद्ध एवं बुद्धि को कल्याण के लिए उत्प्रेरित करती हैं। मानव को मनोरंजन के साथ जीवनोत्थान की प्रेरणा इन कथाओं में सहज रूप में प्राप्त हो जाती है। हिन्दी जैन साहित्य में संस्कृत और प्राकृत की कथाओं का अनेक लेखकों और कवियों ने अनुवाद किया है। एकाध लेखक ने पौराणिक कथाओं का आधार लेकर अपनी स्वतन्त्र कल्पना के मिश्रण द्वारा अद्भुत कथा साहित्य का सृजन किया है। इन हिन्दी कथाओं की शैली बड़ी ही प्रांजल, सुबोध और मुहावरेदार है। ललित लोकोक्तियाँ, दिव्य दृष्टान्त और सरस मुहावरों का प्रयोग किसी भी पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त है।"

---

१. हिन्दी जैन साहित्य-परिशीलन, भाग २, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ७७।

हिन्दी की इन कथाओं के पीछे एक पवित्र प्रयोजन समाविष्ट है कि श्रोताओं और पाठकों की शुभवृत्तियाँ जाग्रत हों, असद्कर्म से निवृत्त होकर शुभकर्म-प्रवृत्ति की प्रेरणा प्राप्त हो, कथा-रचना में ऐसा उच्च एवं उदात्त आदर्श जैन कथा वाङ्मय की अपनी विशिष्टता है। साधारणतया कथा का प्रयोजन मनोरंजन होता है, परन्तु जैनकथा के विषय में यह अधिकार-पूर्वक कहा जा सकता है कि उसका प्रयोजन मनोरंजन मात्र नहीं है, किन्तु मनोरंजन के साथ किसी उच्च आदर्श की स्थापना करना, अशुभकर्मों का कटुफल-परिणाम बताकर शुभकर्म की ओर प्रेरित करना रहा है। उच्चतर सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना, व्यक्तित्व के मूलभूत गुण—साहस, अनुशासन, चातुरी, सज्जनता, सदाचार एवं व्रतनिष्ठा आदि को प्रोत्साहित करना तथा उनके चरित्र में उन संस्कारों को बद्धमूल करना—यही जैन कथा साहित्य का मूल प्रयोजन है। आगम साहित्य के बाद जो कथा साहित्य रचा गया, उसकी धारा में एक नया परिवर्तन आया। आगमगत कथाओं, चरित्रों और महापुरुषों के छोटे-मोटे जीवन प्रसंगों को लेकर मूल कथा में अवान्तर कथाओं का संयोजन तथा मूल चरित्र को पूर्वजन्मों की घटनाओं से समृद्ध कर कथावस्तु का विकास और विस्तार करना यह पश्चात्वर्ती कथा साहित्य की एक शैली बन गई।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश से होती हुई यह जैन कथाओं की विकास यात्रा हिन्दी के कथाभंडार की अभिवृद्धि करती है, अपनी मंजिल तय करती है। परम्पराओं की भिन्नता, अनुश्रुतियों का अन्तर एवं समय के दीर्घ व्यवधान के कारण कथासूत्रों में परस्पर भिन्नता और घटनाओं का जोड़-तोड़ भी काफी भिन्न हो गया। अनेक कथाएँ तो ऐसी हैं जो बड़ी प्रसिद्ध होते हुए भी कथा-ग्रंथों में बड़ी भिन्नता लिए रहती हैं। आगमों में वर्णित कुछ कथाओं में, पश्चात्वर्ती साहित्य में अवान्तर कथाएँ जोड़कर उन्हें व्यापक-विस्तृत कर दिया गया है।

कथा सूत्रों की इस विविधता को देखकर यह प्रयत्न करना कि कथा का मूल स्रोत कहाँ है, कैसा है, उसमें जो मतभेद या अवान्तर कथाएँ हैं वे मान्य हैं या नहीं—यह कार्य सिर्फ जलमंथन जैसा ही होगा। कथाओं की ऐतिहासिकता की खोज के बजाय हमारा लक्ष्य उनकी प्रेरकता की ओर रहना चाहिए। हजारों लेखकों ने भिन्न-भिन्न देशकाल में जो कथाग्रन्थ रचे हैं उनमें मत-भिन्नता, कथासूत्र का जोड़-तोड़ भिन्न प्रकार का, नाम आदि की भिन्नता होना सहज ही है। अनेक कथा-ग्रन्थों के पर्यवलोकन से

हमारा विश्वास बना है कि हमें प्राचीन ग्रन्थों की 'शव-परीक्षा' न करके 'शिव-परीक्षा (कल्याण तत्त्व की परीक्षा) करने की आदत डालनी चाहिए। जिस कथाग्रन्थ में जहाँ जो उच्च आदर्श, प्रेरक तत्त्व और जीवन निर्माणकारी मूल्यों के दर्शन होते हैं, उन्हें बिना किसी भेदभाव के ग्रहण कर लेना चाहिए।

अनेक ग्रन्थों में ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही कथानक अलग-अलग प्रसंग में अलग-अलग रूप में अंकित मिलता है। कहीं कथानक का पूर्वार्ध देकर ही उसको छोड़ दिया है, कहीं उत्तरार्ध तो कहीं कुछ अंश ही। ऐसी स्थिति में कथासूत्रों को सम्पूर्ण रूप से लिखना बड़ा कठिन हो जाता है और उनमें विवादास्पद प्रश्न भी खड़ा हो सकता है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी की जैन कथाएँ भाग १ से १११ तक में इस प्रकार के प्रसंगों पर प्रयत्न यह किया है कि जहाँ तक कोई कथा सूत्र परिपूर्ण मिला है उसे दो तीन कथाग्रंथों के सन्दर्भों से जोड़कर पूर्ण करने का प्रयत्न किया है किन्तु कथा साहित्य की विशालता और विविधता को देखते हुए किसी कथानक की पूर्णता, समग्रता और प्राचीनता की पूर्ण गारन्टी तो नहीं दी जा सकती। यह तो बहुश्रुत पाठकों पर ही निर्भर है कि उन्हें कहीं कोई किसी कथानक से सम्बन्धित नया कथासूत्र मिले तो वे मुझे अथवा प्रणेता को अवगत कराएँ ताकि उसमें समय-समय पर संशोधन परिवर्द्धन किया जा सके।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी द्वारा प्रणीत १११ भागों में संकलित कहानियाँ अनेक दृष्टिकोण से महनीय हैं। एक सौ ग्यारह भागों में विभक्त उपाध्याय श्री की ये जैन कथाएँ कथा साहित्य की महत्ता में चार चाँद लगाती हैं। व्यावहारिक जगत में वस्तु के सही रूप को जानना, उस पर विश्वास करना और फिर उस पर दृढ़तापूर्वक आचरण करना—जीवन निर्माण, सुधार और उन्नत बनाने का राजमार्ग प्रशस्त करती है। यदि ठाणं शैली में कहूँ तो—दर्शन एक है—सम्यग्दर्शन—१; ज्ञान एक है—सम्यग्ज्ञान—१; और चरित्र एक है—सम्यक्चारित्र—१। इस प्रकार तीनों मिलकर बने १११ और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की त्रिपुटी सीधा मुक्ति का—सर्वकर्म-क्षय का मार्ग है, धार्मिक जगत में। इस दृष्टि से जैन कथाओं के समस्त भागों में संकलित कथाएँ धार्मिक तो हैं ही, साथ ही जीवननिर्माण में भी भरपूर सहायक हैं।

जैन कथाएँ : सिरीज में संकलित कहानियाँ

उपाध्यायश्री की 'जैन कथाएँ' के सभी भागों में संकलित सभी

कहानियाँ प्रेरणानुसार भेद के आधार पर धर्मकथा के अन्तर्गत ही हैं और यदि कहानियों के स्वरूपगत भेदों की अपेक्षा विचार किया जाए तो पश्चिमी और पौर्वात्य चिन्तकों द्वारा बताये गये सभी भेद-प्रभेदों से सम्बन्धित कहानियाँ इस सिरीज में पाठकों को सुलभ हो जाएँगी। यद्यपि इस सिरीज में **चोर-कथा**—सहस्रमल चोर—भाग ३, विद्युच्चोर—भाग ६६ भी हैं; **स्त्रीकथा**—अनन्तमती—भाग २६, कोची हलवाइन—भाग २१, उमादेवी—भाग २३; **राजकथा**—आनंदसेन—भाग ६२, शंखराजा—भाग ८३ आदि में स्त्रीकथा, राजकथा आदि हैं, पर ये विकथा नहीं है, क्योंकि इनकी मूल प्रेरणा पाप का कुफल दिखाकर संसार से विरक्ति उत्पन्न करना है। अतएव धर्म-कथा के अन्तर्गत ये निर्वेदनी कथाएँ हैं।

जैन कथाएँ : सिरीज की कथाओं का प्रेरणास्तर

कहानी का बीज है—उत्कण्ठा और मनोरंजन। इस मूल बीज को संसार के सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। कथा शब्द का प्रादुर्भाव भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता दिखाई देता है। 'क' 'था' दो अक्षरों के संयोग से 'कथा' शब्द का निर्माण हुआ है। यहाँ 'क' अक्षर श्रोता की उत्कंठा को उसी प्रकार जगा देता है जिस खिलौना दिखाने पर बच्चा उसे लेने के लिए मचल जाता है अथवा रंगीन चित्र को लेने के लिए लपक उठता है। इस उत्कण्ठा बीज का ही पल्लवन कहानी के रूप में होता है। कला समीक्षकों ने कहानी के छह घटक स्वीकार किए हैं—कथावस्तु, संवाद या कथोपकथन, पात्र या चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, देशकाल, उद्देश्य। प्रत्येक पल्लवित कहानी में यह सभी घटक उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उत्कंठा और मनोरंज-कता का तत्त्व सार्वभौम रूप से स्वीकार किया जाता है किन्तु नीतिकथा, धर्मकथा और रूपककथा में एक अन्य तत्त्व अनिवार्य माना गया है और वह है प्रेरणा—सद्गुणों की, लोकहितकारी, समाज परिवार वैयक्तिक और राष्ट्रीय उत्थान की प्रेरणा।

जैन कथाएँ की इस सिरीज में सभी प्रकार की कथाओं का संकलन है, साथ ही उनमें विभिन्न प्रकार की—सद्गुणों की, जीवनसुधार की प्रेरणा है। इनमें शिथिलाचार और लोक मूढ़ता से हानि का वर्णन है तो जाति एवं ज्ञान-मद की निस्सारता भी दिखाई गई है। किसी कहानी में अडिग विश्वास का महत्व है तो किसी में तितिक्षा, परोपकार, साहस का महत्त्व वर्णित हुआ है। इसी प्रकार अनेक कथाएँ साहस से सम्बन्धित हैं,

तो बहुत-सी बुद्धिमानी और चतुराई से। कहीं बुद्धि का चमत्कार दिखाई देता है तो कहीं शील का। चटपटी चाट के समान कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें कौतुक द्वारा पाठक को एक निराला स्वाद प्रदान किया गया है। शील, सदाचार, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्यपालन, समाज-सेवा, अप्रमाद, विषय-कषायविजय, धर्मप्रभाव, नवकारमन्त्रप्रभाव आदि से सम्बन्धित तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक और चारित्रिक सद्गुणों की प्रेरणा तो सभी कहानियों में है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों और नौ बल-भद्र, वासुदेव, प्रतिवासुदेवों—की त्रेसठ शलाका पुरुषों की जीवनियाँ भी हैं। कुछ कथा भागों में एक ही सम्पूर्ण चरित्र है तो कुछ में छोटी-छोटी कहानियों का संकलन भी किया गया है। एक सम्पूर्ण चरित्र एक ही जन्म का है तो ऐसा भी है कि २१ भवों का चित्रण भी एक ही भाग में पूरा का पूरा दिया गया है। कुछ बड़े चरित्र भी हैं जो दो भागों में और यहाँ तक कि चार भागों में भी पूरे हुए हैं। एक तरह से सिरीज के अन्दर सिरीज। यह सिरीज अर्थात् कथा माला एक प्रकार से कहानियों का उद्यान ही है जिसमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के वृक्ष हैं, पुष्पपादप भी हैं। कहानियो के रूप में विभिन्न प्रकार के फल मधुर रस प्रदान कर रहे हैं तो विविधवर्णी चित्र-विचित्र पुष्प अपनी सौरभ-सुगन्ध से मनोभिराम बने हुए हैं। इनमें अधिक-तर फल-फूल ही हैं, कुछ भागों में शूल भी मिल सकते हैं परन्तु वहाँ उन शूलों से बचने की ही प्रेरणा मिलेगी।

संक्षेप में सम्पूर्ण सिरीज में सद्गुणग्रहण और अवगुणत्याग, जीवन का सर्वांगीण विकास करने हेतु सद्विचारों, भावों, धर्म, कर्तव्य, नीति-परकता, सामाजिकता, न्यायशीलता का सर्वतोमुखी संगम प्रस्तुत हुआ है।

जैन कथाएँ : सिरीज की कथाओं का मुख्याधार

उपाध्याय श्री की 'जैन कथाएँ' सिरीज में कुछ कथाएँ अंगशास्त्रों से संकलित हैं तो अधिकांश अन्य पुराणों से। किन्तु प्रश्न यह है कि पुराण-कारों ने इन कथाओं का संकलन कहाँ से किया? इनका मूलाधार और उत्स कहाँ है?

इस प्रश्न के उत्तर में हमें इतिहास की गहराई में जाना आवश्यक है। पंचकल्पभाष्य (गाथा १५४५-४९) में उल्लेख है कि आचार्य कालक[1] ने

१. यह आचार्य कालक शालिवाहन राजा के समकालीन थे। इनका समय वीर निर्वाण संवत् ६०५ है।

—जैन कथाएँ, भाग १११, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी, पृष्ठ २९।

जैन परम्परागत कथाओं का संग्रह किया और इस क्षीण होते साहित्य का प्रथमानुयोग नाम से पुनरुद्धार किया। इस उल्लेख के प्रमाण वसुदेव हिण्डी[1] आवश्यचूर्णि[2] आवश्यक सूत्र[3] तथा अनुयोगद्वार की हारिभद्रीयावृत्ति[4] और आवश्यकनिर्युक्ति[5] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इन ग्रन्थों में जिस प्रथमानुयोग का संकेत है, वह यही पुनरुद्धरित प्रथमानुयोग है, जिसके पुनरुद्धारकर्त्ता आर्यकालक हैं। कतिपय विद्वानों[6] ने यह अभिमत भी व्यक्त किया है कि इस कथा साहित्य (दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत पूर्वगत कथा साहित्य) का मूल नाम प्रथमानुयोग ही था किन्तु वह लुप्त हो चुका था। अतः आर्यकालक द्वारा पुनरुद्धरित प्रथमानुयोग से मूल प्रथमानुयोग का भेद दिखाने के लिए समवायांग और नन्दीसूत्र में पूर्वगत प्रथमानुयोग को मूल प्रथमानुयोग कहा गया है।

दिगम्बर साहित्य में तो कथा-ग्रन्थों-पुराणों के लिए प्रथमानुयोग शब्द रूढ़ हो गया है, वहाँ, इसी नाम का व्यवहार होता है। प्रथमानुयोग नामकरण के अनेक कारण हो सकते हैं—यथा इस साहित्य की विशालता, प्रेरकता आदि। किन्तु सर्वाधिक उचित कारण यह प्रतीत होता है कि बिल्कुल ही निपट अज्ञानी पुरुष, जिसने कभी धर्म का नाम भी न सुना हो, उसे कथाओं द्वारा सहज ही धर्म की ओर रुचिशील बनाया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में इसी हेतु को स्वीकार करके सर्वप्रथम सामान्य और यहाँ तक कि अनार्य लोगों को भी धर्मसंस्कार प्रदान करने के लिए प्रथमानुयोग का ही ज्ञान देने तथा कथाओं द्वारा धर्मोपदेश का निर्देश दिया गया है। मैं इस चर्चा में विस्तार से न जाकर इतना ही कहना चाहता हूँ कि अंगशास्त्रों में उल्लेखित कथाओं के अतिरिक्त जिस अन्य विपुल कथा साहित्य

---

१. तत्थ जाव सुहम्मसामिणा जम्बूनामस्स पढमाणुओगे तित्थयरचक्कवट्टिदसारवंसपरूवणागयं वसुदेवचरियं कहियं ति।

—वसुदेव हिंडी, प्रथम भाग, पृष्ठ २।

२. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृष्ठ १६०।

३. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पृष्ठ १११-११२।

४. अनुयोगद्वार हारिभद्रीया वृत्ति, पृष्ठ ८०।

५. आवश्यक निर्युक्ति गा० ४१२।

६. विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ५२, प्रथमानुयोग अने तेना प्रणेता स्थविर आर्यकालक (मुनि पुण्यविजयजी)

का इस सीरीज में संकलन का प्रयास हुआ है उसका मूलाधार दृष्टिवादगत मूल प्रथमानुयोग अथवा आर्यकालक द्वारा पुनरुद्धरित प्रथमानुयोग है।[1] किंतु उस आधार पर निर्मित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, आदि भाषाओं के अनेकानेक चरित्र ग्रन्थ, काव्य, रास, लावणी, चौपी आदि के अनुशीलन से इन कथाओं का संकलन किया गया है।

इन कहानियों में जितनी प्रेरणाएँ हैं, सबका शाश्वत महत्त्व है। ऐसा कभी नहीं हो सकता जबकि सत्य, शील, सदाचार, परोपकार आदि चारित्रिक सद्गुण महत्त्वहीन हो जाएँ अथवा सेवा, सहयोग, सहकार आदि समाज को स्थिरता प्रदान करने वाली प्रवृत्तियों के अभाव में समाज और सामाजिक गतिविधियाँ प्रवर्तमान रह सकें। इन कथाओं से समुचित प्रेरणा ग्रहण करके अपने वैयक्तिक जीवन को तो सुखमय बनावें ही, साथ ही समाजसुधार में अपनी शक्ति, योग्यता और क्षमता का उपयोग कर सकें। साथ ही वे अपने पारिवारिक जीवन में स्नेह-वात्सल्य की सरिता बहा सकें।

उपसंहार

विश्व के वाङ्मय में कथा साहित्य अपनी सरसता और सरलता के कारण प्रभावक और लोकप्रिय रहा है। भारतीय साहित्य में भी कथाओं का विशालतम साहित्य एक विशिष्ट निधि है। भारतीय कथा साहित्य में जैन एवं बौद्ध कथा साहित्य अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। श्रमण परम्परा ने भारतीय कथा साहित्य की न केवल श्रीवृद्धि की है अपितु उसको एक नई दिशा दी है। जैन कथा साहित्य का तो मूल लक्ष्य ही रहा है कि 'कथा के माध्यम से त्याग, सदाचार, नैतिकता आदि की कोई सत्प्रेरणा देना।' आगमों से लेकर पुराण, चरित्र, काव्य, रास एवं लोक कथाओं के रूप में जैनधर्म की हजारों-हजार कथाएँ विख्यात हैं। अधिकतर कथा साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा में होने के कारण और वह भी पद्य-बद्ध होने से बहुसंख्यक पाठक उससे लाभ नहीं उठा सकता। जैन कथा साहित्य की इस अमूल्यनिधि को आज की लोक भाषा-राष्ट्रभाषा हिन्दी के परिवेश में प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. जैन कथाएँ, भाग १११, लेखकीय, अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि, सम्पा० उपाचार्यश्री देवेन्द्र मुनि तथा श्रीचन्द सुराना 'सरस', पृष्ठ ३०-३१।

इस दिशा में एक नहीं कई सुन्दर प्रयास भी प्रारम्भ हुए हैं पर अपार अथाह कथा-सागर का आलोड़न किसी एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। जैसे जगन्नाथ के रथ को हजारों हाथ मिलकर खींचते हैं, उसी प्रकार प्राचीन कथा-साहित्य के पुनरुद्धार के लिये अनेक मनस्वी चिन्तकों के दीर्घ-कालीन प्रयत्नों की अपेक्षा है। लेकिन इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनि जी महाराज ने वर्षों तक इस दिशा में महनीय प्रयास किया है। उन्होंने अपने विशाल अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर सैकड़ों कथाओं का प्रणयन किया है जिनका एक सुदीर्घ सीरीज में सम्पादन मेरे द्वारा सम्भव हुआ है। संख्या है सीरीज की एक सौ ग्यारह। अध्यात्म-योगी पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनि जी उपाध्याय द्वारा प्रणीत गद्य-पद्यात्मक विराट कथा का सम्पादित नाम 'जैन कथाएँ' शीर्षक से अभिहित किया गया है जो हिन्दी जैन कथा साहित्य में अभिनव प्रदेय कहा जायेगा।

जैन कथा साहित्य के विकास में अन्य योगदान

मैं यह नहीं कह सकता हूँ कि जैन कथा साहित्य को आधुनिक लोक भाषा के परिवेश में प्रस्तुत करने का यही एकमेव प्रयास हुआ है। इस प्रकार के प्रयास वर्तमान शताब्दी के चतुर्थ दशक से ही हो रहे हैं। अनेकानेक लेखकों व प्रकाशकों ने प्राचीन जैन साहित्य का आलोडनकर विभिन्न प्रकार की कथाएँ प्रस्तुत की हैं, किसी ने ५ भाग, और किसी ने २५ भाग, किसी ने ५० भाग, किसी लेखक ने ५०-६० पुस्तकें विभिन्न कथाओं की भी प्रस्तुत की हैं। सभी का प्रयास स्तुत्य है और उससे जैन कथा साहित्य को लोकव्यापी बनाने में काफी सहयोग मिला है। इन सभी प्रयत्नों में गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी का यह प्रयास काफी व्यवस्थित, सुनियोजित और लक्ष्य को परिपूर्ण करने वाला है।

जैन आगमों की कथाएँ

अध्यात्म और विज्ञान

अतीत काल से ही मानव-जीवन के साथ अध्यात्म और विज्ञान का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध रहा है। ये दोनों सत्य के अन्तस्तल को समुद्‌घाटित करने वाली दिव्य और भव्य दृष्टियाँ हैं। अध्यात्म आत्मा का विज्ञान है। वह आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप का, बन्ध और मोक्ष का, शुभ और अशुभ परिणतियों का, ह्रास और विकास का गम्भीर व गहन विश्लेषण है तो विज्ञान भौतिक प्रकृति की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को सुलझाने का महत्त्वपूर्ण साधन है। उसने मानव के तन, मन और इन्द्रियों के संरक्षण व सम्पोषण के लिये विविध आयाम उपस्थित किये हैं। जीवन की अखण्ड सत्ता के साथ दोनों का मधुर सम्बन्ध है। अध्यात्म जीवन की अन्तरंग धारा का प्रतिनिधित्व करता है तो विज्ञान बहिरंग धारा का नेतृत्व करता है।

अध्यात्म का विषय है—जन-जीवन के अन्तःकरण, अन्तश्चैतन्य एवं आत्मतत्त्व का विवेचन व विश्लेषण करना। आत्मा के विशोधन व ऊर्ध्वीकरण करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करना। जीव और जगत्, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति और समाज प्रभृति के शाश्वत तथ्यपरक सत्य का दिग्दर्शन करना। जबकि विज्ञान का क्षेत्र है प्रकृति के अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक का प्रयोगात्मक अनुसन्धान करना। अध्यात्म योग है तो विज्ञान प्रयोग है। अध्यात्म मन, वचन और काया की प्रशस्त शक्तियों को केन्द्रित

विशेष—यह बृहद् निबन्ध धर्मकथानुयोग की प्रस्तावना के रूप में लिखा गया था जो उस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हो चुका है।

कर मानव चेतना को विकसित करने वाली निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाने को दिव्य व भव्य दृष्टि प्रदान करता है। वह विवेक के तृतीय नेत्र को उद्घाटित कर काम और विकारों को भस्म करता है। जबकि विज्ञान नित्य नई भौतिक सुख-सुविधाओं को समुपलब्ध कराने में अपूर्व सहयोग देता है। विज्ञान के फलस्वरूप ही मानव अनन्त आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ानें भरने लगा है, मछलियों की भाँति अनन्त सागर की गहराई में जाने लगा है और पृथ्वी पर द्रुतगामी साधनों से गमन करने लगा है। विद्युत के दिव्य चमत्कारों से कौन चमत्कृत नहीं है?

अध्यात्म अन्तर्मुखी है तो विज्ञान बहिर्मुखी है। अध्यात्म अन्तरंग जीवन को सजाता है, संवारता है तो विज्ञान बहिरंग जीवन को विकसित करता है। बहिरंग जीवन में किसी भी प्रकार की विशृंखलता नहीं आये, द्वन्द्व समुत्पन्न न हों, इसलिए अन्तरंग दृष्टि की आवश्यकता है एवं अन्तरंग जीवन को समाधियुक्त बनाने के लिए बहिरंग का सहयोग भी अपेक्षित है। बिना बहिरंग सहयोग के अन्तरंग जीवन विकसित नहीं हो सकता, अध्यात्म और विज्ञान ये परस्पर विरोधी नहीं है। उनमें किसी प्रकार का विरोध और द्वन्द्व नहीं है। अपितु वे एक-दूसरे के पूरक हैं, जीवन की अखण्डता के लिए दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है।

अध्यात्म का प्रतिनिधि आगम

जैन-आगम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चिन्तन का अद्भुत व अनूठा संग्रह है, संकलन है। आगम शब्द बहुत ही पवित्र और व्यापक अर्थ गरिमा को अपने आप में समेटे हुए है। शब्द कोश की दृष्टि से भले ही आगम और ग्रन्थ ये पर्यायवाची शब्द रहे हों पर दोनों में गहरा अन्तर है। आगम 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की, साक्षात् अनुभूति की अभिव्यक्ति है। वह अनन्त सत्य के द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतरागी, तीर्थकरों की विमल वाणी का संकलन आकलन है। जबकि ग्रन्थों व पुस्तकों के लिए यह निश्चित नियम नहीं है। वह राग-द्वेष के दलदल में फँसे हुए, विषय-कषाय की आग में झुलसते हुए, विकार और वासनाओं से संत्रस्त व्यक्ति के विचारों का संग्रह हो सकता है। उसमें कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान भी हो सकती है पर वह केवल वाणी का विलास है, शब्दों का आडम्बर है, किन्तु उसमें अन्तरंग की गहराई नहीं है।

जैन-आगमों में सत्य का साक्षात् दर्शन है। जो अखण्ड है, सम्पूर्ण व समग्र मानव चेतना को संस्पर्श करता है। सत्य के साथ शिव का मधुर सम्बन्ध होने से वह सुन्दर ही नहीं, अतिसुन्दर है। वह आर्ष वाणी है। आर्ष का अर्थ तीर्थंकर या ऋषियों की वाणी है। यास्क ने ऋषि की परिभाषा करते हुए लिखा है—'जो सत्य का साक्षात् द्रष्टा है, वह ऋषि है'।[1] प्रत्येक साधक ऋषि नहीं बन सकता, ऋषि वह है जिसने तीक्ष्ण प्रज्ञा, तर्क, शुद्ध ज्ञान से सत्य की स्पष्ट अनुभूति की है।[2] यही कारण है कि वेदों में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा कहा है। मंत्रद्रष्टा का अर्थ है—साक्षात् सत्यानुभूति पर आधृत शिवत्व का प्रतिपादन करने वाला सर्वथा मौलिक ज्ञान। वह आत्मा पर आयी हुई विभाव परिणतियों के कालुष्य को दूर कर केवलज्ञान और केवलदर्शन से स्व-स्वरूप को आलोकित करता है। जो यथार्थ सत्य का परिज्ञान करा सकता है, आत्मा का पूर्णतया परिबोध करा सके, जिससे आत्मा पर अनुशासन किया जा सके, वह आगम है। उसे दूसरे शब्दों में शास्त्र और सूत्र भी कह सकते हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है—जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो एवं आत्मा का अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है।[3] शास्त्र शब्द शास् धातु से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है—शासन, शिक्षण और उद्‌बोधन। जिस तत्त्व-ज्ञान से आत्मा अनुशासित हो, उद्‌बुद्ध हो, वह शास्त्र है। जिससे आत्मा जागृत होकर तप, क्षमा एवं अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होती है, वह शास्त्र है। और जो केवल गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी के द्वारा कहा गया है, वह सूत्र है।[4] दूसरे शब्दों में जो ग्रन्थ प्रमाण से अल्प किन्तु अर्थ की अपेक्षा महान्, बतीस दोषों से रहित, लक्षण तथा आठ गुणों से सम्पन्न

---

१. ऋषिदर्शनात्—निरुक्त, २/११।

२. साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः—निरुक्त, १/२०

३. 'सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावतो सत्थं'।
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३८४

४. मूलाचार, ५/८०

होता हुआ सारवान् अनुयोगों से सहित, व्याकरण विहित, निपातों से रहित, अनिन्द्य और सर्वज्ञ कथित है, वह सूत्र है ।[1]

इस सन्दर्भ में यह समझना आवश्यक है कि आगम कहो, शास्त्र कहो या सूत्र कहो, सभी का एक ही प्रयोजन है । वे प्राणियों के अन्तर्मानस को विशुद्ध बनाते हैं। इसलिए आचार्य हरिभद्र ने कहा—जैसे जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसको उज्ज्वल बना देता है वैसे ही शास्त्र भी मानव के अन्तःकरण में स्थित काम, क्रोध आदि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र और निर्मल बना देता है ।[2] जिससे आत्मा का सम्यक् बोध हो, आत्मा अहिंसा, संयम और तप साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, वह तत्वज्ञान शास्त्र है, आगम है ।

आगम भारतीय साहित्य की मूल्यवान् निधि हैं। डॉ० हरमन जेकोबी, डा० शुब्रिंग प्रभृति अनेक पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों ने जैन-आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि विश्व को अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद के द्वारा सर्वधर्म-समन्वय का पुनीत पाठ पढ़ाने वाला यह श्रेष्ठतम साहित्य है ।

आगमों का अनुयोग-वर्गीकरण

आगम साहित्य बहुत ही विराट और व्यापक है । समय-समय पर उसके वर्गीकरण किये गये हैं। प्रथम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में हुआ ।[3] द्वितीय वर्गीकरण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में किया गया ।[4]

---

१. अप्पग्गंथ महत्थं बत्तीसा दोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि च गुणेहि उववेयं ।।
अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं ।
अत्थोवमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं ।।

—आव० निर्युक्ति, ८८०,८८६ ।

२. मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ।।

—योगबिन्दु, प्रकरण, २/९ ।

३. समवायांग—१४/१३६ ।

४. नन्दी, सूत्र ४३ ।

तृतीय वर्गीकरण आर्यरक्षित ने अनुयोगों के आधार पर किया है। उन्होंने सम्पूर्ण आगम-साहित्य को चार अनुयोगों में बाँटा है।[1]

अनुयोग शब्द पर चिन्तन करते हुए प्राचीन साहित्य में लिखा है—'अणु—ओयणमणुयोगो'—अनुयोजन को अनुयोग कहा है। 'अनुयोजन' यहाँ पर जोड़ने व संयुक्त करने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, जिससे एक-दूसरे को सम्बन्धित किया जा सके। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—जो भगवत् कथन से संयोजित करता है, वह 'अनुयोग' है। अभिधान राजेन्द्र कोष में लिखा है—लघुसूत्र में महान अर्थ का योग करने को 'अनुयोग' कहा है।[2]

अनुयोग : एक चिन्तन

अनुयोग शब्द 'अनु' और 'योग' के संयोग से निर्मित हुआ है। अनु उपसर्ग है। यह अनुकूल अर्थ वाचक है। सूत्र के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग है। वृहत्कल्प[3] में लिखा है कि अनु का अर्थ पश्चाद्भाव या स्तोक है। उस दृष्टि से अर्थ के पश्चात् जायमान या स्तोक सूत्र के साथ जो योग है, वह अनुयोग है। आचार्य मलयगिरि[4] के अनुसार अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है। यही बात आचार्य हरिभद्र,[5] आचार्य अभयदेव,[6] आचार्य शान्तिचन्द्र[7] ने लिखी है।

---

१. (क) आवश्यक निर्युक्ति, ३६३-३७७।
   (ख) विशेषावश्यकभाष्य, २२८४-२२९५।
   (ग) दशवैकालिकनिर्युक्ति, ३ टी०

२. 'अणुसूत्रं महानर्थस्ततो महतोर्थस्याणुनासूत्रेण योगो अनुयोग:"

३. अणुणा जोगो अणुजोगो अणु पच्छाभावओ य थेवे य।
   जम्हा पच्छाऽभिहियं सुत्तं थोवं च तेणाणु ॥ —बृहत्कल्प गा० १९०

४. सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोग:।
   —आवश्यकनिर्युक्ति, मलय० वृ० नि० १२७

५. आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयावृत्ति १३०.

६. (क) समवायांग अभयदेववृत्ति १४७.
   (ख) स्थानांग, ४/१/२६२, पृ० २००.

७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—प्रमेयरत्नमंजूषावृत्ति, पृ० ४-५.

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का भी यही अभिमत है।[1]

जैन आगम-साहित्य में अनुयोग के विविध भेद-प्रभेद हैं। नन्दी में आचार्य देववाचक ने अनुयोग के दो विभाग किये हैं। वहाँ पर दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच भेद किये गये हैं।[2] उसमें 'अनुयोग' चतुर्थ है। अनुयोग के 'मूल प्रथमानुयोग' और 'गण्डिकानुयोग' ये दो भेद किये गये हैं।[3]

मूल प्रथमानुयोग क्या है ? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य के कहा—मूल प्रथमानुयोग में अर्हत् भगवान को सम्यक्त्व प्राप्ति के भव से पूर्वभव, देवलोकगमन, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्यश्री, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ प्रवर्तन, शिष्य-समुदाय, गण-गणधर, आर्यिकाएँ, प्रवर्तिनी, चतुर्विध संघ का परिमाण, सामान्यकेवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, सम्यक् श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तर विमान में गये हुए मुनि, उत्तर वैक्रियधारी मुनि, सिद्ध अवस्था प्राप्त मुनि, पादपोपगमन अनशन को प्राप्त कर जो जिस स्थान पर जितने भक्तों का अनशन कर अन्तकृत हुए, अज्ञान रज से विप्रमुक्त हो जो मुनिवर अनुत्तर सिद्धि मार्ग को प्राप्त हुए उनका वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्हीं प्रकार के अन्य भाव, जो अनुयोग में कथित हैं, वह 'प्रथमानुयोग' हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं—'सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर तीर्थ प्रवर्तन और मोक्षगमन तक का जिसमें वर्णन है।'[4]

दूसरा गण्डिकानुयोग है। गण्डिका का अर्थ है—समान वक्तव्यता से अर्थाधिकार का अनुसरण करने वाली वाक्य पद्धति; और अनुयोग अर्थात् अर्थ प्रगट करने की विधि। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—इक्षु के मध्य

---

१. अणुजोयणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेणं।

—विशेषावश्यकभाष्य, गा० १३८३.

२. परिक्कमे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुयोगे, चुलिया।

—श्री मलयगिरीया नंदीवृत्ति, पृष्ठ २३५

३. पढमाणुयोगे, गंडियाणुयोगे। —श्री नन्दीचूर्णी मूल, पृ० ५८

४. इह मूल भाववत्तु तीर्थंकरः तस्य प्रथमं पूर्वभवादि अथवा मूलस्स पढमा भवाणुयोगे एत्थगरस्स अतीव भवपरियाय परिसत्तई भाणियव्वा।

—श्री नंदीवृत्ति चूर्णी, पृ० ५८.

भाग की गण्डिका सदृश एकार्थ का अधिकार यानि ग्रन्थ-पद्धति। गण्डिकानुयोग के अनेक प्रकार हैं।[1]

(१) कुलकर गंडिकानुयोग—विमलवाहन आदि कुलकरों की जीवनियाँ।

(२) तीर्थंकर गंडिकानुयोग—तीर्थंकर प्रभु की जीवनियाँ।

(३) गणधर गंडिकानुयोग—गणधरों की जीवनियाँ।

(४) चक्रवर्ती गंडिकानुयोग—भरतादि चक्रवर्ती राजाओं की जीवनियाँ।

(५) दशार्ह गंडिकानुयोग—समुद्रविजय आदि दशार्हों की जीवनियाँ।

(६) बलदेव गंडिकानुयोग—राम आदि बलदेवों की जीवनियाँ।

(७) वासुदेव गंडिकानुयोग—कृष्ण आदि वासुदेवों की जीवनियाँ।

(८) हरिवंश गंडिकानुयोग—हरिवंश में उत्पन्न महापुरुषों की जीवनियाँ।

(९) भद्रबाहु गंडिकानुयोग—भद्रबाहु स्वामी की जीवनी।

(१०) तपकर्म गंडिकानुयोग—तपस्या के विविध रूपों का वर्णन।

(११) चित्रान्तर गंडिकानुयोग—भगवान् ऋषभ तथा अजित के अन्तर समय में उनके वंश के सिद्ध या सर्वार्थसिद्ध में जाते हैं, उनका वर्णन।

(१२) उत्सर्पिणी गंडिकानुयोग—उत्सर्पिणी का विस्तृत वर्णन।

(१३) अवसर्पिणी गंडिकानुयोग—अवसर्पिणी का विस्तृत वर्णन।

देव, मानव, तिर्यंच और नरक गति में गमन करना, विविध प्रकार से पर्यटन करना आदि का अनुयोग 'गंडिकानुयोग' में हैं। जैसे वैदिक परंपरा में विशिष्ट व्यक्तियों का वर्णन पुराण साहित्य में हुआ है, वैसे ही जैन परम्परा में महापुरुषों का वर्णन गंडिकानुयोग में हुआ है। गंडिकानुयोग की रचना समय-समय पर मूर्धन्य मनीषी तथा आचार्यों ने की। पंचकल्प चूर्णी[2] के अनुसार कालकाचार्य ने गंडिकाएँ रची थीं, पर उन गंडिकाओं को संघ ने स्वीकार नहीं किया। आचार्य ने संघ से निवेदन किया—मेरी गंडिकाएँ क्यों स्वीकृत नहीं की गई हैं? उन गण्डिकाओं में रही हुई त्रुटियों

---

१. से किं तं गंडियाणुयोगे? गंडियाणुयोगे अणेगविहे पण्णत्ते.......

—श्री समवायांगवृत्ति, पृ० १२०

२. पञ्चकल्पचूर्णि—कालकाचार्य प्रकरण, पृ० २३-२४.

को बतायी जायें, जिससे उनका परिष्कार किया जा सके। संघ के बहुश्रुत आचार्यों ने उन गण्डिकाओं का गहराई से अध्ययन किया और उन्होंने उन पर प्रामाणिकता की मुद्रा लगा दी। इससे यह स्पष्ट है—कालकाचार्य जैसे प्रकृष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य की गण्डिकायें भी संघ द्वारा स्वीकृत होने पर ही मान्य की जाती थीं जिससे गडिण्काओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती हैं।

अनुयोग का अर्थ व्याख्या है। व्याख्येय वस्तु के आधार पर अनुयोग के चार विभाग किये गये हैं—चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग[1]। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह की टीका[2] में, पंचास्तिकाय[3] में, तत्त्वार्थवृत्ति[4] में, इन अनुयोगों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में नाम और क्रम में कुछ अन्तर अवश्य है पर भाव सभी का एक-सा है।

श्वेताम्बर दृष्टि से सर्वप्रथम चरणानुयोग है।[5] रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र[6] ने चरणानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है—गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में लिखा है—उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यति का धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है, वह चरणानुयोग है।[7] बृहद्द्रव्यसंग्रह अन-

---

१. चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, जहकम्मं ते महड्ढीया॥
—अभिधान राजेन्द्र कोश प्र० भाग पृ० ३५६

२. प्रथमानुयोगो..........चरणानुयोगो..........करणानुयोगो..........द्रव्यानुयोगो इत्युक्त लक्षणानुयोगचतुष्टयरूपे चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्।
—द्रव्यसंग्रह टीका, ४२/१८२

३. पंचास्तिकाय, १७३

४. तत्त्वार्थवृत्ति, २५४/१५.

५. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३—३७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४—२२९५.

६. गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥

७. द्रव्यसंग्रह टीका, ४२/१८२/६.

गार धर्मामृत[1] टीका आदि में भी चरणानुयोग की परिभाषा इसी प्रकार मिलती है। आचार सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोग में आता है।

धर्मकथानुयोग भी प्रथमानुयोग

जिनदास गणि[2] महत्तर ने धर्मकथानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है—सर्वज्ञोक्त अहिंसा आदि स्वरूप धर्म का जो कथन किया जाता है, अथवा अनुयोग के विचार से जो धर्म सम्बन्धी कथा कही जाती है, वह धर्मकथा है। आचार्य हरिभद्र[3] ने भी अनुयोगद्वार की टीका में अहिंसा लक्षण युक्त धर्म का जो आख्यान है, उसे धर्मकथा कहा है। महाकवि पुष्पदन्त[4] ने भी लिखा है—जो अभ्युदय, निःश्रेयस् की संसिद्धि करता है और सद्धर्म से जो निबद्ध है, वह सद्धर्मकथा है। धर्मकथानुयोग को ही दिगम्बर परम्परा में प्रथमानुयोग कहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार[5] में लिखा है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परमार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिसमें एक पुरुष या त्रिषष्टि श्लाघनीय पुरुषों के पवित्र चरित्र में रत्नत्रय और ध्यान का निरूपण है, वह प्रथमानुयोग है।

गणितानुयोग, गणित के माध्यम से जहाँ विषय को स्पष्ट किया जाता है, वह है। दिगम्बर परम्परा में इसके स्थान पर करणानुयोग यह नाम प्रचलित है। करणानुयोग का अर्थ है—लोक-अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के सदृश प्रगट करने वाले सम्यग्ज्ञान को करणानुयोग कहते हैं।[6] करण शब्द के दो अर्थ हैं (१) परिणाम और (२) गणित के सूत्र।

द्रव्यानुयोग—जो श्रुतज्ञान के प्रकाश में जीव-अजीव, पुण्य-पाप और

---

१. सकलेतर चारित्र-जन्म रक्षा विवृद्धिकृत्।
—अनगार धर्मामृत, ३/११. पं. आशाधरजी

२. धम्मकहा नाम जो अहिंसादिलक्खणं सव्वण्णुपणीयं धम्मं अणुयोगं वा कहेइ एसा धम्मकहा। —दशवैकालिकचूर्णि, पृ० २९.

३. अहिंसा लक्षण धर्मान्वाख्यानं धर्मकथा। —अनुयोगद्वार टीका, पृ० १०.

४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थ-संसिद्धिरंजसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥
—महापुराण, महाकवि पुष्पदन्त, १/१२०.

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४३.

६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४४.

बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वों को दीपक के सदृश प्रकट करता है, वह द्रव्यानुयोग है।[1] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है[2]—द्रव्य का द्रव्य में, द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्य हेतुक जो अनुयोग होता है, उसका नाम द्रव्यानुयोग है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का पर्याय के साथ अथवा द्रव्य का द्रव्य के ही साथ जो योग (सम्बन्ध) होता है, वह भी द्रव्यानुयोग है। इसी तरह बहुवचन—द्रव्यों का द्रव्यों में भी समझना चाहिए।

आगम-साहित्य में कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से इन अनुयोगों का वर्णन है। आर्य वज्र तक आगमों में अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथकता नहीं थी। प्रत्येक सूत्र की चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्या की जाती थी। आचार्य भद्रबाहु[3] ने इस सम्बन्ध में लिखा है—कालिक श्रुत अनुयोगात्मक व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं—उनमें चरणकरणानुयोग प्रभृति अनुयोगचतुष्टय के रूप में अविभक्तता थी। आर्य वज्र के पश्चात् कालिक श्रुत और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथक्ता (विभक्तता) की गई।

आचार्य मलयगिरि[4] ने प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—आर्य वज्र तक श्रमण तीक्ष्ण बुद्धि के धनी थे, अतः अनुयोग की दृष्टि से अविभक्त रूप से व्याख्या प्रचलित थी। प्रत्येक सूत्र में चरणकरणानुयोग आदि का अविभागपूर्वक वर्तन था। मुख्यता की दृष्टि से निर्युक्तिकार ने यहां

---

१. जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्ध-मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग-दीपः श्रुतविद्या लोकमातनुते॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४६.

२. दव्वस्स जोऽणुओगो दव्वे दव्वेण दव्वहेऊ वा।
दव्वस्स पज्जवेण व जोगो, दव्वेण वा जोगो॥
बहुवयण ओऽवि एवं नेओ जो वा कहे अणुवउत्तो।
दव्वाणुओग एसो............ —विशेषावश्यकभाष्य, १३९८-९९

३. जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ॥
—आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति, गाथा १६३, पृ० ३८३.

४. आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ३८३, प्रका. आगमोदय समिति

पर कालिक श्रुत को ग्रहण किया है अन्यथा अनुयोगों का कालिक-उत्कालिक आदि सभी में अविभाग था।[1]

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए लिखा है—आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे तब एक ही सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।

अनुयोगों का विभाग कर दिया जाय, उनकी पृथक्-पृथक् छँटनी कर दी जाय तो वहाँ उस सूत्र में चारों अनुयोग व्यवच्छिन्न हो जायेंगे। इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है जहाँ किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों अनुयोगों में होती थी, वहाँ चारों में से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या करने का यहाँ पर अभिप्राय है।

आर्य रक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था, उसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से की जाती थी। यह व्याख्या पद्धति बहुत ही क्लिष्ट और स्मृति की तीक्ष्णता पर अवलम्बित थी। आर्य रक्षित के १. दुर्बलिका पुष्यमित्र २. फल्गुरक्षित ३. विन्ध्य और ४. गोष्ठामाहिल ये चार प्रमुख शिष्य थे। विन्ध्य मुनि महान प्रतिभासम्पन्न शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्य रक्षित शिष्य मण्डली को आगम वाचना देते, उसे विन्ध्य मुनि उसी क्षण ग्रहण कर लेते थे। अतः उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए बहुत सा समय अवशिष्ट रहता। उन्होंने आर्य रक्षित से प्रार्थना की—मेरे लिए अध्ययन की पृथक् व्यवस्था करें। आचार्य ने प्रस्तुत महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। अध्यापनरत दुर्बलिका पुष्यमित्र ने कुछ समय के पश्चात् आर्य रक्षित से निवेदन किया—आर्य विन्ध्य को आगम वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित होती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी पूर्व ज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी। आर्य रक्षित ने सोचा—महामेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है तो आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना बहुत ही कठिन है। दूरदर्शी आर्य रक्षित ने गम्भीरता से चिन्तन कर जटिल व्यवस्था

---

१. अपुहुत्ते अणिओगो चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहुत्ताणुओग करणे ते अत्थ तओवि वोच्छिन्ना॥
किं वइरेहिं पुहुत्तं कयमह तदणंतरेहिं भणियम्मि।
तदणंतरेहिं तदभिहिय गहिय सुत्तत्थ सारेहिं॥
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२८६—२२८७.

को सरल बनाने हेतु आगम-अध्ययनक्रम को चार अनुयोगों में विभक्त किया। वह क्रम इस प्रकार है :—

१. चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि।

२. धर्म-कथानुयोग—ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।

३. गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।

४. द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद आदि।

यह महत्वपूर्ण कार्य दशपुर में वीर निर्वाण ५९२, वि० सं० १२२ के आस-पास सम्पन्न हुआ था। यह वर्गीकरण विषय सादृश्य की दृष्टि से किया गया है। प्रस्तुत वर्गीकरण करने के बावजूद भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में अन्य अनुयोगों का वर्णन नहीं है। उदाहरण के रूप में, उत्तराध्ययन सूत्र में धर्मकथा के अतिरिक्त दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा में है। भगवती सूत्र तो अनेक विषयों का विराट सागर है। आचारांग आदि में भी अनेक विषयों की चर्चायें हैं। कुछ आगमों को छोड़-कर अन्य आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है। यह जो वर्गीकरण हुआ है वह स्थूल दृष्टि को लेकर हुआ है। व्याख्या क्रम की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग के रूप में दो प्रकार का है।

हम यहाँ पर चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध में चिन्तन न कर धर्मकथानुयोग पर चिन्तन करेंगे क्योंकि यही हमारा यहाँ अभिधेय है। जैन कथा सहित्य विविध विधाओं में लिखा हुआ है। बहुत सी कथाएँ अत्यन्त मनोरंजक हैं। लोक कथाएँ, नीति कथायें, दन्त कथाएँ, परी कथाएँ, प्राणी कथाएँ, कल्पित कथाएँ, दृष्टान्त कथाएँ आख्यान आदि विविध कथाएँ हैं। इसलिए विश्व के विश्रुत विज्ञों ने उसे विश्व साहित्य की अक्षय निधि माना है। डा० विन्टरनित्स के शब्दों में कहा जाये तो जैन साहित्य में प्राचीन भारतीय कथा साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं। सुप्रसिद्ध डा० हर्टल ने जैन कथाकारों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इन विज्ञों ने हमें कितनी ऐसी अनुपम भारतीय कथाओं का परिचय कराया है जो हमें अन्य किसी स्रोत से उपलब्ध नहीं हो पाती थीं।

कथा का स्वरूप

जैन धर्म के मूर्धन्य मनीषियों ने जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सिद्धान्तों को प्रसारित करने की दृष्टि से कथाओं

का सहारा लिया। और कथाओं के माध्यम से वे दार्शनिक गूढ़ गुत्थियों को सहज रूप से सुलझाने में सफल भी हुए। जैन कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सत्य, अहिंसा, परोपकार, दान, शील आदि सद्-गुणों की प्रेरणायें सन्निहित हैं। कथा एक ऐसा माध्यम है जिससे विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता है। इसलिए अन्य अनुयोगों की अपेक्षा यह अनु-योग अधिक लोकप्रिय हुआ और यही कारण है कि दिगम्बर मनीषियों ने इसे प्रथमानुयोग की संज्ञा प्रदान की। मानव के सम्पूर्ण जीवन को उजागर करने वाली परम पुनीत भावनाएँ इस अनुयोग में मुखरित हुई हैं।

स्थानांग सूत्र में पहले विकथाओं का निरूपण किया गया है, वे हैं—स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा और राजकथा ।[1] उनके भेद-प्रभेदों का निरूपण करके शास्त्रकार ने साधकों को संकेत किया है कि उनसे बचें। वे कथाएँ जीवन में विकृति उत्पन्न करती हैं, इसलिए उन्हें विकथा कहा गया है। उसके पश्चात् कथा के चार प्रकार बताये हैं[2]—१. आक्षेपणी—वह कथा जो ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण पैदा करती हो। २. विक्षेपणी—वह कथा जो सन्मार्ग की स्थापना करती हो। ३. संवेदनी—वह कथा जो जीवन की नश्वरता, दुःख-बहुलता और शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करती हो। ४. निर्वेदनी—वह कथा जो कृत कर्मों के शुभाशुभ फल को दिखाकर संसार के प्रति उदासीन बनाती हो।

आक्षेपणी कथा[3] के चार प्रकार हैं। वे ये हैं—१. आचार आक्षेपणी—जिसमें आचार का निरूपण हो। २. व्यवहार आक्षेपणी—जिसमें व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त का निरूपण हो। ३. प्रज्ञप्ति आक्षेपणी—जिसमें संशय-ग्रस्त श्रोता को समझाने का निरूपण हो। ४. दृष्टिपात आक्षेपणी—जिसमें श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नय दृष्टियों से तत्त्व-निरूपण हो।

प्रस्तुत कथा चतुष्टय की परिभाषा दशवैकालिकनिर्युक्ति,[4]

---

१. स्थानांग, ४/२४१—२४५, पृ० ३४९.

२. चउव्विहा कहा पण्णत्ता—तं जहा—अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेयणी, णिव्वेदणी।
—स्थानांग—४/२४६.

३. अक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता....
—स्थानांग—४/२४७.

४. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १९५-२०१

मूलाराधना,[1] स्थानांगवृत्ति,[2] धवला[3] आदि विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

दशवैकालिक निर्युक्ति और मूलाराधना में प्रस्तुत कथा चतुष्टय की परिभाषा एक सदृश है। स्थानांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने आक्षेपणी की जो व्याख्या की है उसका मूल आधार दशवैकालिकनिर्युक्ति है। धवला में इसकी परिभाषा कुछ दूसरे प्रकार से मिलती है। उसके अभिमतानुसार विविध प्रकार की एकान्त दृष्टियों और दूसरे समयों की निराकरणपूर्वक शुद्धि कर छह द्रव्यों और नव पदार्थों का प्ररूपण करने वाली कथा आक्षेपणी है। इस कथा में केवल तत्त्ववाद की स्थापना प्रधान है।[4] धवलाकार ने एक श्लोक भी उट्टंकित किया है, उससे भी इसी अर्थ का समर्थन होता है।[5]

दशवैकालिक निर्युक्ति में एक गाथा है—

"आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठिवाए य।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ॥" [१६४]

आचार्य हरिभद्र[6] ने आचार का अर्थ आचरण, प्रज्ञप्ति का अर्थ समझाना, और दृष्टिवाद का अर्थ सूक्ष्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है। चूर्णिकार ने 'आयारे' 'ववहारे' 'पन्नत्ति' आदि शब्दों को द्व्यर्थक नहीं

---

१. मूलाराधना, ६५६-६५७.

२. स्थानांगवृत्ति, ४/२४७.

३. षट्खण्डागम, धवला, खण्ड १, पृ० १०४-१०५

४. तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्व-णव-पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर णिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। —षट्खण्डागम, धवला, भाग १, पृ० १०५

५. आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां, विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्।
संवेगिनी धर्मफलप्रपंचां, निर्वेगिनीं चाह कथां विरागाम्॥
—षट्खण्डागम, धवला, भाग १, पृ० १०६.

६. आचारो—लोचास्नानादिः, व्यवहारः—कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञप्तिश्चैव—संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च—श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि भावकथनम्।
—दशवैकालिक निर्युक्ति हरिभद्रीया वृत्ति प० ११०।

माना है। टीकाकार श्री हरिभद्र ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए आचार आदि को शास्त्रवाचक भी माना है।[1] स्थानांग में आक्षेपणी कथा के जो चार प्रकार बताये हैं, जिनका उल्लेख निर्युक्ति की प्रस्तुत गाथा में हुआ है।[2] आचार्य अभयदेव ने मतान्तर का जो उल्लेख किया है वह आचार्य हरिभद्र के शब्दों में ही किया है।

विक्षेपणी कथा के भी चार प्रकार हैं—१. सम्यग्दृष्टि व्यक्ति स्वयं के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर फिर दूसरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। २. दूसरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के पश्चात् अपने सिद्धान्त की संस्थापना करता है। ३. सम्यग्वाद का प्रतिपादन करने के पश्चात् मिथ्यावाद का प्रतिपादन करता है। ४ मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर पुनः सम्यग्वाद की स्थापना करता है। विक्षेपणी कथा की परिभाषा में टीका ग्रन्थों में कोई भिन्नता नहीं है।

संवेदनी कथा के भी चार प्रकार बताये हैं—१. इहलोक संवेदनी—मानव जीवन की असारता प्रदर्शित करने वाली कथा। २. परलोक संवेदनी—देव, तिर्यंच आदि के जन्मों की मोहमयता व दुःखमयता प्रदर्शित करने वाली कथा। ३. आत्म-शरीर संवेदनी—अपने शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा। ४. पर-शरीर संवेदनी—दूसरे के शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा।

स्थानांगवृत्तिकार ने संवेदनी कथा की जो व्याख्या की है, वह व्याख्या दशवैकालिकनिर्युक्ति[4] और मूलाराधना[5] की व्याख्या से पृथक है। उनके अभिमतानुसार इस कथा में वैक्रिय-शुद्धि तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शुद्धि का कथन होता है। अणिमा, महिमा आदि का नाम

१. दशवैकालिकनिर्युक्ति हरिभद्रीयावृत्ति, पृ० ११०

२. आयारअक्खेवणी ववहारअक्खेवणी पन्नत्तिअक्खेवणी दिट्ठवातअक्खेवणी।
—ठाणांग, ४२४७

३. स्थानांग, ४/२४८

४. वीरिय विउव्वणिड्ढी, नाण-चरण-दंसणाण तह इड्ढी।
उवइस्सइ खलु जहियं, कहाइ संवेयणीइ रसो॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २००

५. संवेयणी पुग कहा, णाण चरित्त तव वीरिय इड्ढिगदा।
—मूलाराधना ६५७

विक्रिया है। इन विक्रिया रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला शरीर वैक्रिय है। उसके निर्माण में जो दोष लगता है, उसका शुद्धिकरण करना "वैक्रिय-शुद्धि" है।[1] धवला की दृष्टि से इस कथा में पुण्य-फल का वर्णन किया जाता है।[2]

निर्वेदनी कथा के भी चार प्रकार हैं—१. इहलोक में दुश्चीर्ण कर्म इसी लोक में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। २. इहलोक में दुश्चीर्ण कर्म परलोक में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। ३. परलोक में दुश्चीर्ण कर्म इहलोक में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। ४. परलोक में दुश्चीर्ण कर्म परलोक में ही दुःखमय फल देने वाले होते हैं।

प्रकारान्तर से निर्वेदनी कथा के चार प्रकार और बताये हैं–१. इहलोक में सुचीर्ण कर्म इसी लोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं। २. इहलोक में सुचीर्ण कर्म परलोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं। ३. परलोक में सुचीर्ण कर्म इहलोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं। ४. परलोक में सुचीर्ण कर्म परलोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं।

निर्वेदनी कथा के स्थानांग में आठ विकल्प किये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पुण्य और पाप इन दोनों फलों का कथन करना इस कथा का विषय रहा है। निर्वेदनी की व्याख्या में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है। धवलाकार[3] की दृष्टि से इस कथा में पाप फल का कथन है।

उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में कथा के पाँच प्रकार बताये है,[4] वे इस प्रकार हैं :—१. सकल कथा २. खण्ड कथा ३. उल्लाप कथा ४. परिहास कथा और ५. संकीर्ण कथा। जिस कथा के अन्त में सभी प्रकार से

---

१. देखिए—सर्वार्थसिद्धि-२।३६ तथा तत्त्वार्थश्रुतसागरीया वृत्ति—२।३६।

२. संवेयणी नाम पुण्ण-फल-संकहा। काणि पुण्णफलानि? तित्थयर, गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुरविज्जाहररिद्धीओ।
—षट्खण्डागम, भाग १, पृ० १०५

३. णिव्वेयणी णाम-पाव-फल संकहा। संसार-सरीर-भोगेसु-वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम। —षट्खण्डागम, भाग १, पृ० १०५

४. ताओ पुण पंच कहाओ, तं जहा—सयलकहा, खण्डकहा, उल्लावकहा, परिहास-कहा तह संकिण्ण कहा त्ति णायव्वा। —कुवलयमाला ४.५.

अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, वह सकल कथा है।[1] खण्ड-कथा में कथावस्तु बहुत ही छोटी होती है। उल्लाप कथा में समुद्र यात्रा या साहसपूर्वक किये जाने वाले प्रेम का निरूपण होता है। परिहास कथा हास्य-व्यंग्यात्मक कथा होती है। इसमें कथा के अन्य तत्त्वों का प्रायः अभाव होता है। संकीर्ण कथा को दशवैकालिकनिर्युक्ति में मिश्र कथा भी कहा है।[2] जिस कथा में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का निरूपण हो, वह संकीर्ण कथा या मिश्र कथा है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत परिभाषा को स्वीकार करते हुए यह लिखा है कि कथा सूत्रों में परस्पर तारतम्य होना चाहिए। उद्योतनसूरि[3] का यह अभिमत है कि संकीर्ण कथा में कथा के सभी गुण विद्यमान होते हैं। यह कथा शृंगार की हुई युवती की भाँति मनोहर होती है। इस कथा में राजा, या विशिष्ट व्यक्तियों के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, शील, वैराग्य, समुद्री यात्रा में साहस, आकाश गमन, पर्वतीय प्रदेशों की विकट यात्रा, स्वर्ग-नरक का वर्णन, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि के दुष्परिणामों का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रमुख रूप से होता है।

उद्योतन सूरि ने धर्म-कथा, अर्थ-कथा और काम-कथा ये तीन भेद संकीर्ण कथा के किये हैं। जबकि दशवैकालिक में चारों को कथा के ही भेद माने हैं। अर्थ-कथा वह है, जिसमें मानव की आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में चिन्तन कर सही समाधान प्रस्तुत किया जाये और वह समाधान, आख्यान, दृष्टान्त के द्वारा व्यक्त करना चाहिए।[4] राजनैतिक कथाओं का समावेश भी इस कथा के अन्तर्गत होता है। काम-कथाओं में केवल रूप-सौन्दर्य का विश्लेषण ही नहीं होता परन्तु यौन समस्याओं का विश्लेषण भी होता है। समाज के परिशोधन में इन कथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

---

१. समस्त फलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकल कथा।
—काव्यानुशासन, अध्याय ५, सू० ९-१०, पृ० ४६५.

२. धम्मो अत्थो कामो उवइस्सइ जत्त सुत्त कव्वेसु।
लोगे वेए समये सा उ कहा मीसिया णाम॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति, गा० २०६, पृ० २२६.

३. सव्व-कहा गुण-जुत्ता सिंगार-मणोहरा सुरइयंगी।
सव्वंकलागम-सुहया, संकिण्ण-कहत्ति णायव्वा॥ —कुवलयमाला, ४.१३.

४. समराइच्च कहा, याकोबी, पृ० २

धर्म-कथा में जीवों के समय-समय पर उद्बुद्ध विविध परिणाम-भावों को उद्घाटित करने वाले जीवन प्रसंग, तथा धर्म, शील, संयम, तप आदि जीवन को उजागर करने वाली घटनाओं का अंकन होता है।[1] उद्योतन सूरि ने आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी कथाओं के चारों प्रकारों को धर्म-कथा के अन्तर्गत लिया है।

कथा साहित्य में धर्म-कथा जीवन को आमूलचूल परिवर्तन करने वाली श्रेष्ठतम कथा है। इसलिए आगम-साहित्य में आये हुए धर्म-कथाओं के विविध प्रसंग प्रस्तुत ग्रन्थ में पहली बार संकलित-आकलित किये गये हैं। हम अगली पंक्तियों में तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत करेंगे।

कुलकर : एक विश्लेषण

सुदूर अतीत में भगवान् ऋषभदेव से पूर्व यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। उस व्यवस्था में न कुल था, न वर्ग था, और न जाति ही थी। उस समय एक युगल ही सब कुछ होता था। वह युगल सहज, शान्त और निर्दोष जीवन जीने वाला था। काल के परिवर्तन के साथ व्यवस्था में परिवर्तन होने से जीवन अस्त-व्यस्त होने लगा, तब कुल व्यवस्था का विकास हुआ। प्रस्तुत व्यवस्था में लोग कुल के रूप में [संगठित होकर रहने लगे। प्रत्येक कुल का एक मुखिया होता था। वह कुलकर कहलाता था। समवायांग[2], स्थानांग[3] और भगवती[4] में सात कुलकर बताये गये हैं। आवश्यकनिर्युक्ति[5] और आवश्यकचूर्णि[6] में भी इसी तरह सात कुलकरों के नाम प्राप्त हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र[7], वसुदेवहिण्डी[8] और

---

१. सा उण धम्मकहा णाणाविह-जीव-परिणाम-भाव-विभावणत्थं।

—कुवलयमाला, ४-२१.

२. समवायांग १५७।

३. स्थानांग ७६७।

४. भगवती ५/६/३।

५. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरी वृत्ति १५२/१५४।

६. आवश्यकचूर्णि १२९।

७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १/२/१४२-२०६।

८. वसुदेवहिण्डी, नीलयशा लम्भक खण्ड—संघदास गणिविरचित।

भरतेश्वर बाहुबलीवृत्ति[1] प्रभृति परवर्ती साहित्य में भी उसका अनुसरण हुआ है। वे नाम ये हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशोमान, अभिचन्द, प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि।

आदि मानव : कुलकर

जैन दृष्टि से कालचक्र को दो भागों में बाँटा है—१. अवसर्पिणी, और २. उत्सर्पिणी। वे दोनों भी भाग छह-छह भागों में विभक्त किये गये हैं, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों में 'आरा' कहा गया है। अवसर्पिणी काल में प्रत्येक वस्तु में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सभी दृष्टियों से क्षीणता होती जाती है और उत्सर्पिणी काल में वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श की दृष्टि से प्रतिपल-प्रतिक्षण उत्कर्ष होता है। अवसर्पिणी काल के छह आरे इस प्रकार हैं—१. सुषमा-सुषम, २. सुषम, ३. सुषमा-दुषम, ४. दुषमा-सुषम, ५. दुषम, ६. दुषमा-दुषम। उत्सर्पिणी में उन्हीं का व्युत्क्रम होता है।

अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे, में सुख का साम्राज्य होता है। इस काल के मानव का शरीर वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान युक्त होता है। वे सामाजिक, राजकीय और आर्थिक बन्धनों से मुक्त होते हैं। वे स्वयं अपने आप के राजा होते हैं और उन्हें किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होती है। वे दिव्य रूप-सम्पन्न, सौम्य, मृदुभाषी, अल्पपरिग्रही, शान्त, सरल, क्रोध-मान-मद, मोह, मात्सर्य आदि दुर्गुणों की अल्पता वाले होते हैं। उस समय घोड़े-गधे, बैल आदि विविध प्रकार के पशु होने पर भी वे उनका उपयोग नहीं करते हैं।

उन मानवों के शरीर में से कमल के समान और कस्तूरी के समान सुगन्ध आती है। वे उत्कट साहस के धनी तथा सहज-शान्त स्वभाव वाले होते हैं। छह मास अवशेष रहने पर युगलिनी पुत्र और पुत्री युगल को जन्म देती, उन-पचासवें (४९) दिन तक प्रतिपालना करने के पश्चात् छींक और उबासी आने पर युगल-दम्पत्ति सदा के लिए आँखें लेते हैं।

द्वितीय आरे में प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में अनन्तगुनी हीनता हो जाती है। मानव की आयु तीन पल्योपम से कम होकर इस आरक में दो पल्योपम की रह जाती है। पुत्र-पुत्री का पालन

---

१. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति।

(६४) चौंसठ दिन तक करने के पश्चात् युगल दम्पत्ति का देहावसान हो जाता है।

तृतीय आरे में द्वितीय आरे की अपेक्षा अनन्तगुनी पूर्वापेक्षा अपकर्षता हो जाती है। प्रथम आरक में जहाँ मानव की ऊँचाई तीन कोस की थी, वहाँ दूसरे आरे में दो गाउ (कोस) की तो तृतीय आरे में दो हजार धनुष की ऊँचाई रह जाती है। मृत्यु के पूर्व छह मास अवशेष रहने पर एक युगल को जन्म देते हैं और उस युगल का वे उन्यासी (७९) दिन तक पालन-पोषण करते हैं। यह समय भोगभूमि के रूप में विश्रुत है। तीसरे आरे के प्रथम और मध्य विभाग तक यह स्थिति चलती है। उन सभी में किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होता।

तृतीय आरे के एक पल्योपम का आठवाँ भाग अवशेष रहता है, उस समय भरतक्षेत्र में कुलकर पैदा होते हैं।

पउमचरियं,[1] महापुराण,[2] हरिवंशपुराण[3] और सिद्धान्त संग्रह[4] में चौदह कुलकरों के नाम मिलते हैं। वे ये हैं—पउमचरियं में :—१. सुमति २. प्रतिश्रुति ३. सीमंकर ४. सीमन्धर ५. क्षेमंकर ६. क्षेमंधर ७. विमलवाहन ८. चक्षुष्मान् ९. यशस्वी १०. अभिचन्द्र ११. चन्द्राभ १२. प्रसेनजित १३. मरुदेव १४. नाभि। आचार्य जिनसेन ने संख्या की दृष्टि से चौदह कुलकर माने हैं, किन्तु पहले प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेत्रकृत, चौथे क्षेमंधर,

---

१. पउमचरियं—३/५०-५५।

२. आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सन्मतिर्मतः।
तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थः क्षेमधृन्मतः॥
सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः, षष्ठः सीमधृदिष्यते।
ततो विमलवाहांकश्, चक्षुष्मानष्टमो मतः॥
यशस्वान्नवमस्तस्मान्, नाभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः।
चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम्॥
प्रसेनजित्परं तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः॥
—महापुराण, जिनसेनाचार्य, १/३/२२९-२३२, पृ० ६६

३. हरिवंशपुराण में महापुराण की तरह ही चौदह कुलकरों के नाम उपलब्ध होते हैं। —हरिवंशपुराण, सर्ग ७, श्लोक १२४-१७०

४. सिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ १८।

पाँचवे सीमंकर और छठे सीमंधर इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम से संख्या दी है। विमलवाहन के आगे के दोनों ग्रन्थों में (पउमचरियं और महापुराण) नाम समान मिलते हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[1] में इन चौदह नामों के साथ ऋषभ को जोड़कर पन्द्रह कुलकर बताये हैं। इस तरह अपेक्षादृष्टि से कुलकरों की संख्या में मतभेद हुआ है। चौदह कुलकरों में पहले के छह और ग्यारहवाँ चन्द्राभ के अतिरिक्त सात कुलकरों के नाम स्थानांग आदि के अनुसार ही हैं। जिन ग्रन्थों में छह कुलकरों के नाम नहीं दिये गये हैं, उसके पीछे हमारी दृष्टि से वे केवल पथ-प्रदर्शक रहे होंगे, उन्होंने दण्ड-व्यवस्था का निर्माण नहीं किया। इसलिए उन्हें गौण मानकर केवल सात ही कुलकरों का उल्लेख किया गया हो।

भगवान् ऋषभदेव प्रथम सम्राट हुए और उन्होंने यौगलिक स्थिति को समाप्त कर कर्म-भूमि का प्रारम्भ किया था। इसलिए उन्हें कुलकर न माना हो। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में उन्हें कुलकर लिखा है। सम्भव है, मानव समूह के अर्थ में कुलकर शब्द व्यवहृत हुआ हो। कितने ही आचार्य इस संख्या भेद को वाचनाभेद मानते हैं।[2]

वैदिक परम्परा में कुलकर का स्वरूप

कुलकर के स्थान पर वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में मनु का उल्लेख हुआ है। आदिपुराण[3] और महापुराण[4] में कुलकरों के स्थान पर मनु शब्द आया है। स्थानांग आदि की भाँति मनुस्मृति[5] में भी सात महातेजस्वी मनुओं का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. स्वयंभू २. स्वारोचिष् ३. उत्तम ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत।

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, व० २, सूत्र २९,

२. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२०.

३. आदिपुराण, ३/१५.

४. महापुराण, ३/२२९, पृष्ठ ६६.

५. स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः, महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च, तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा, विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते, मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥

—मनुस्मृति १/६१-६३

अन्यत्र चौदह मनुओं के भी नाम प्राप्त होते हैं।[1] वे इस प्रकार हैं—
१. स्वायम्भुव २. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तापस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत ८. सावर्णि ९. दक्षसावर्णि १०. ब्रह्मसावर्णि ११. धर्मसावर्णि १२. रुद्रसावर्णि १३. रौच्यदेवसावर्णि १४. इन्द्रसावर्णि।

मत्स्य पुराण,[2] मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत् और विष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थों में भी स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओं के नाम प्राप्त हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. स्वायंभुव २. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तापस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत ८. सावर्णि ९ रौच्य १०. भौत्य ११. मेरुसावर्णि १२. ऋभु १३ ऋतुधामा १४. विश्वकसेन।

मार्कण्डेय[3] पुराण में वैवस्वत के पश्चात् पाँचवाँ सावर्णि, रौच्य और भौत्य आदि सात मनु और माने हैं।

श्रीमद्भागवत्[4] में उपर्युक्त सात नाम वे ही हैं, आठवें नाम से आगे के नाम पृथक् हैं। वे इस प्रकार हैं :—८. सावर्णि ९. दक्षसावर्णि १०. ब्रह्मसावर्णि ११. धर्मसावर्णि १२. रुद्रसावर्णि १३. देवसावर्णि १४. इन्द्रसावर्णि।

मनु को मानव जाति का पिता व पथप्रदर्शक व्यक्ति माना है। पुराणों के अनुसार मनु को मानव जाति का गुरु तथा प्रत्येक मन्वन्तर में स्थित कहा है। वह जाति के कर्त्तव्य का ज्ञाता था। वे मननशील और मेधावी व्यक्ति रहे हैं। वह व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, किन्तु उपाधि वाचक हैं। यों मनु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद,[5] अथर्ववेद,[6] तैत्तिरीय[7] संहिता, शतपथ[8] ब्राह्मण, जैमिनीय[9] उपनिषद् में हुआ है, वहाँ

---

१. (क) मोन्योर-मोन्योर विलियम : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ७८४.
(ख) रघुवंश १/११
२. मत्स्य पुराण, अध्याय ९ से २१.
३. मार्कण्डेय पुराण
४. श्रीमद्भागवत्, ८/५ अ
५. ऋग्वेद, १/८०, १६; ८/६३, १; १०. १००/५.
६. अथर्ववेद, १४/२, ४१.
७. तैत्तिरीय संहिता, १/५, १,३; ७/५, १५, ३; ६,७,१; ३,३, २,१; ५/४, १०, ५; ६/६, ६,१, का सं० ८१५,
८. शतपथ ब्राह्मण, १/१,४/१४
९. जैमिनीय उपनिषद्, ३/१५,२

मनु को ऐतिहासिक व्यक्ति माना गया है। भगवद्गीता[1] में भी मनुओं का उल्लेख है।

चतुर्दश मनुओं का काल-प्रमाण सहस्र युग माना गया है।[2]

कुलकर-कथा

आगम-साहित्य में जहाँ कुलकरों के नामों का निर्देश है, वहाँ उसके व्याख्या-साहित्य में और स्वतन्त्र ग्रन्थों में उस समय की परिस्थिति का भी चित्रण किया गया है। हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति[3] ग्रन्थ में जो चित्रण प्रस्तुत किया है, वह यहाँ दे रहे हैं; जिससे जिज्ञासुओं को परिज्ञान हो सके।

सर्वप्रथम मानवों ने अनन्त आकाश में जब चन्द्र और सूर्य को देखा तो भय से काँप उठे। वे सोचने लगे कि आपत्तियों की घनघोर घटाएँ मँडराने वाली हैं। उन भयभीत मानवों को 'प्रतिश्रुत' नामक प्रथम कुलकर ने आश्वस्त करते हुए कहा—ये चन्द्र और सूर्य नये उदित नहीं हुए हैं। ये तो प्रतिदिन इसी तरह से उदित और अस्त होते हैं किन्तु तेजांग जाति के अत्यन्त प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षों के कारण हम इन्हें देख नहीं पाते थे, अब तेजांग नामक कल्पवृक्षों का दिव्य आलोक मन्द हो रहा है, जिससे हमें चन्द्र और सूर्य दिखाई दे रहे हैं, अतः भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। जन-मानस के भय को नष्ट करने से वह कुलकर कहलाया।

प्रतिश्रुत कुलकर के देहावसान के पश्चात् तेजांग नाम के कल्पवृक्ष पूर्ण रूप से नष्ट हो गये थे जिससे गहन अन्धकार मँडराने लगा और अन्धकार होने से आकाश-मण्डल में असंख्य तारे जगमगाते हुए दिखाई देने लगे। मानवों ने सर्वप्रथम ताराओं को देखा तो उनका हृदय भावी आशंका से काँप उठा। 'सन्मति' कुलकर ने उन मानवों को आश्वस्त करते हुए कहा—आप भयभीत न हों, तेजांग नामक कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से रात्रि में अन्धकार का साम्राज्य होने से तारा-मण्डल दिखाई दे रहा है। यह पहले भी था, पर प्रकाश के कारण दिखाई नहीं देता था। सन्मति के कहने से लोगों को ढाढस बँधा और वह कुलकर के रूप में विश्रुत हुआ।

---

१. भगवद्गीता; १०/६.

२. (क) भागवत, स्कन्ध ८, अध्याय १४.
(ख) हिन्दी विश्वकोष, १६वाँ भाग, पृ० ६४८ से ६५५.

३. तिलोयपण्णत्ति महाधिकार, गाथा ४२१-५०६.

समय सरक रहा था और उसके प्रभाव से परिवर्तन आ रहा था। पहले भी जंगलों में व्याघ्र आदि पशुगण थे किन्तु उनमें क्रूरता नहीं थी, वे सौम्य स्वभाव के थे। पर समय ने उनमें भी क्रूरता पैदा की और वे मानवों को संत्रस्त करने लगे। क्षेमंकर ने मानवों को कहा—इन पशुओं का विश्वास न करो तथा समूह बनाकर रहो, जिससे वे तुम लोगों को कष्ट नहीं दे सकें। इसलिए वह तृतीय कुलकर के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

चतुर्थ कुलकर 'क्षेमंधर' ने जब पशु अधिक क्रूर बनकर मानव-समूह पर हमला करने लगे तो उसने कहा—पशुओं से बचने के लिए दण्ड आदि अपने पास रखो, जिससे वे सहसा आक्रमण न कर सकें। इसलिए वह कुलकर कहलाया।

पाँचवें कुलकर 'सीमंकर' के समय कल्पवृक्ष अल्प मात्रा में फल देने लगे, जिससे सभी मानवों को पूर्ति नहीं हो पाती थी। वे एक-दूसरे के वृक्ष पर अपना स्वामित्व स्थापित करने का प्रयास करने लगे। सीमंकर ने कहा—यों संघर्ष करने से समाधान नहीं होगा। समाधान का सही तरीका यही है कि सीमा का निर्धारण करलो। सीमा निर्धारण करने से संघर्ष मिट गया और वह कुलकर के रूप में विश्रुत हुआ।

इन पाँचों कुलकरों ने भोग-युग के समाप्त होने तक और कर्मयुग के आगमन की पूर्व सूचना देने के कारण अपने युग के मानवों को तदनुकूल जीवन बिताने की प्रेरणा दी, जो कोई भी व्यक्ति नीति का उल्लंघन करते तो वे 'हा तुमने यह काम किया' यह 'हाकार नीति' अपनाते, जिससे अपराधी पानी-पानी हो जाता। उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता।

छठे कुलकर 'सीमंधर' ने जब कल्प-वृक्षों के स्वामित्व को लेकर परस्पर संघर्ष होने लगा तब वृक्षों को चिह्नित कर संघर्ष का अन्त किया, इसलिए वह कुलकर कहलाया।

सातवें कुलकर का नाम 'विमलवाहन' है। आवश्यकनिर्युक्ति[1] और त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र[2] में विमलवाहन के सम्बन्ध में एक प्रसंग है—एक बार एक युगल वन में इधर-उधर परिभ्रमण कर रहा था, एक विराटकाय श्वेत हाथी सामने आया। उस युगल ने उसे बहुत ही स्नेह से निहारा।

१. आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० १५३.
२. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १/२/१४२-१४७.

निहारने से उस हाथी को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ कि हम दोनों ही पहले भव में पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में घनिष्ठ मित्र थे। यह सरल प्रकृति का धनी था, इसलिए यह मानव बना और मैं अत्यन्त मायावी होने से पशु-योनि में उत्पन्न हुआ। उसने अपनी सूँड़ से उस युगल दम्पत्ति का आलिंगन किया और उन्हें उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया। अन्य युगलों ने जब उसे वाहनारूढ़ देखा तो अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि इसके पूर्व कोई भी व्यक्ति वाहन पर आसीन नहीं हुआ था। उन्होंने सोचा—यह मानव सबसे अधिक शक्तिशाली है, इसलिए उसे अपना मुखिया बनाया और वह कुलकर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उज्ज्वल कान्ति युक्त हाथी पर आरूढ़ होने से वह विमलवाहन के नाम से पहचाना जाने लगा। उसका अनुसरण कर अन्य व्यक्तियों ने भी पशुओं को पालतू बनाना प्रारम्भ किया।

तिलोयपण्णत्ति के अनुसार आठवें 'चक्षुष्मान्' कुलकर के समय युगलों ने अपनी सन्तान को देखा। वे सन्तान को देखकर भयभीत हुए। चक्षुष्मान् ने उन्हें समझाया कि भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। यह तुम्हारी सन्तान हैं। वे अपनी सन्तान के मुख देखने लगे और मुँह देखते ही परलोकवासी होने लगे।

नौवें 'यशस्वी' कुलकर ने अपनी सन्तान का नामकरण-महोत्सव करने की शिक्षा दी, क्योंकि अब सन्तान को देखते ही माता-पिता उस समय ही काल-कवलित नहीं होते थे, इसलिए नाम संस्करण प्रारम्भ हुआ।

दशवें कुलकर 'अभिचन्द्र' ने कुलों की सुव्यवस्था के साथ ही बालकों के रुदन को रोकने के लिए उनको खिलाने-पिलाने की विधि बताई। तदनुसार युगल अपने बालकों को खिलाने-पिलाने लगे, उनका पालन-पोषण करने लगे। कुछ दिनों तक पालन-पोषण करने के बाद वे युगल-दम्पत्ति सदा के लिए आँखें मूँद लेते थे।

छठे से दशवें कुलकर तक 'हाकार' और 'माकार' ये दोनों नीतियाँ प्रचलित रहीं। 'हा! तुमने यह क्या किया, और 'मत करो' ये दोनों शब्द दण्ड प्रहार की तरह मानवों को आघात करने के सदृश प्रतीत होते।

ग्यारहवें 'चन्द्राभ' कुलकर के समय मौसम में भी परिवर्तन होने लगा। पहले मौसम बड़ा सुहावना था, न अतिशीत था, न अति उष्णता थी और न अति वर्षा ही थी; किन्तु अब प्रकृति में परिवर्तन आ गया था, अतः शीत और ताप में अभिवृद्धि हो गई थी। कुहरे के कारण सूर्य की

चिलचिलाती धूप मानवों को नहीं मिलती, जिससे वे ठिठुरने लगे। चन्द्राभ ने बताया कि यह शीत और तुषार सूर्य की किरणों से नष्ट होगा। लोगों को शान्ति का अनुभव हुआ।

बारहवें कुलकर 'मरुदेव' के समय आकाश में उमड़-घुमड़ कर घटायें आने लगीं, बिजलियाँ कौंधने लगीं और हजार-हजार धारा के रूप में पानी बरसने लगा। कल-कल छल-छल करती हुई नदियाँ प्रवाहित होने लगीं। यह दृश्य देखकर मानव भयभीत हो उठा। मरुदेव ने कहा—अब शीघ्र ही कर्मयुग प्रारम्भ होगा। तुम भयभीत न बनो, नौकाएँ बनाकर नदियों को पार करो। छाता बनाकर वर्षा और गर्मी से अपने आपको बचाओ। सीढ़ियाँ बनाकर पहाड़ों पर चढ़ो। इस प्रकार उपाय बताने के कारण मरुदेव कुलकर कहलाया।

तेरहवें कुलकर 'प्रसेनजित' के समय जरायु से वेष्टित युगल बालकों को देखकर वे बड़े भयभीत हुए। उन्होंने कहा—जरायु हटाओ और बालकों का उचित रूप से पालन करो। इस प्रकार शिक्षा देने के कारण प्रसेनजित कुलकर कहलाया।[1]

चौदहवें कुलकर 'नाभि' के समय बालकों का नाभिनाल बहुत बड़ा होने लगा। नाभि ने लोगों से कहा—इसे काटा जाये। इस समय तक प्रायः कल्पवृक्ष नष्ट हो गये थे। विविध धान्य और मधुर फल जंगलों में उत्पन्न हो रहे थे। नाभि ने उन फलों को और उन धान्यादि को खाने की सलाह दी जिससे यौगलिकों को शान्ति प्राप्त हुई, इसलिए नाभि कुलकर के रूप में विश्रुत हुआ।

जन-साधारण में क्रमशः धृष्टता बढ़ती जा रही थी। 'माकार नीति' असफल हो गई थी, इसलिए ग्यारहवें से चौदहवें कुलकर तक 'धिक्कार' नीति का प्रचलन हुआ। इस नीति के अनुसार 'तुझे धिक्कार है, ऐसा कार्य किया' इस प्रकार तिरस्कारसूचक शब्द को सुनकर वे मृत्युदण्ड से अधिक अपने आपको दण्डित समझते थे। इस युग में जघन्य अपराध के लिए खेद, मध्यम अपराध के लिए निषेध और उत्कृष्ट अपराध के लिए तिरस्कार मुख्य दण्ड था।

---

१. देखिए—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ८४२ द्वि सं०, आचार्य हस्तीमलजी महाराज

महापुराण में जिनसेन ने लिखा है—ये चौदह ही कुलकर पूर्वभव में महाविदेह क्षेत्र में उच्च कुलीन महापुरुष थे। इनमें से कितने ही कुलकर जाति-स्मरण ज्ञान के धारक थे और कितने ही अवधिज्ञान के धारक थे। इसलिए उन्होंने अपने ज्ञान बल से उपर्युक्त कार्य करने का आदेश दिया।

अन्तिम कुलकर नाभिराय

अन्य कुलकरों में नाभिराय अधिक प्रतिभासम्पन्न थे। श्रीमद्भागवतकार ने उन्हें आदि मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नींध्र तथा आग्नींध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है।[1] नाभिराय ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जो भी प्रश्न आये, उसका समाधान किया। वे जन-जन के त्राणकर्ता थे, इसलिए उन्हें क्षत्रिय कहा गया। आगे चलकर क्षत्रिय शब्द नाभि के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। अमरकोशकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' लिखा है।[2] अभिधान चिन्तामणि में भी आचार्य हेमचन्द्र ने 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है।[3] मेदिनीकोश में लिखा है कि चक्र के मध्य भाग में जैसे नाभि मुख्य है वैसे ही क्षत्रिय राजाओं में नाभि मुख्य थे।[4]

आचार्य जिनसेन ने तो नाभि के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए लिखा है—वे चन्द्र के सदृश अनेक कलाओं के आधार थे, सूर्य के समान तेजस्वी थे, इन्द्र के समान वैभवसम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फल प्रदान करने वाले थे।[5] अरबी में एक शब्द 'नबी' है, जिसका अर्थ है—'ईश्वर का दूत', पैगम्बर' और 'रसूल'।[6] यह शब्द संस्कृत में नाभि और

---

१. प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥
—भागवतपुराण, ११/२/१५.

२. अमरकोष, ३/५/२०.

३. अभिधान चिन्तामणि, १/३६.

४. नाभिर्मुख्य नृपे चक्रमध्यक्षत्रियोरपि । — मेदिनी कोष भ० वर्ग ५.

५. शशीव स कलाधारः तेजस्वी भानुमानिव ।
प्रभु शक्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥ —महापुराण, १२/११.

६. 'उर्दू-हिन्दी कोश' सम्पादक—रामचन्द्र वर्मा, प्रका० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, चतुर्थ संस्करण, अगस्त १९५३, पृ० २२४.

प्राकृत में 'णाभि' का रूपान्तर है। वे अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण ईश्वर के दूत के रूप में जनता के आदर-पात्र बने थे।

नाभि का अपर नाम 'अजनाभ' भी मिलता है, उन्हीं के नाम के आधार पर आर्यखण्ड को 'नाभिखण्ड' या 'अजनाभ वर्ष' कहा है। स्कन्द-पुराण में 'हिमाद्रि जलधेरन्तर्नाभि-खण्डमिति स्मृतम्' पद आया है।[1] डा० अवध बिहारीलाल अवस्थी ने लिखा है—जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नींध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही नाभि खण्ड कहा गया है।[2] नाभि का अपर नाम अजनाभ था, जिससे इस खण्ड का नाम 'अजनाभ वर्ष' हुआ। इस सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—'स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभदेव सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।[3] श्रीमद्भागवत में लिखा है 'अजनाभ वर्ष ही आगे चलकर "भारतवर्ष" इस संज्ञा से अभिहित हुआ।[4]

अतीत अनागत कुलकर

जैन आगमों में अतीत उत्सर्पिणी और अतीत अवसर्पिणी कुलकरों का उल्लेख हुआ है। स्थानांग में अतीत उत्सर्पिणी के दश कुलकर बताये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. स्वयंजल २. शतायु ३. अनन्तसेन ४. अमितसेन ५. तर्कसेन ६. भीमसेन ७. महाभीमसेन ८. दृढ़रथ ९. दशरथ १०. शतरथ। जबकि समवायांग में अतीत उत्सर्पिणी के केवल सात ही कुलकर गिनाये हैं। जो इस प्रकार हैं -१. मित्रदामा २. सुदामा ३. सुपार्श्व

---

१. स्कन्दपुराण—१/२/३७-५५.

२. प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, प्रका० कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, सन् १९६४, पृ० १२३, परिशिष्ट— २.

३ मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाद टिप्पण सं० १, पृ० १३८.

४. अजनाभं नामैतद्वर्षंभारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति।

—श्रीमद्भागवत, ५/७/३.

४. स्वयंप्रभ ५. विमलघोष ६. सुघोष और ७. महाघोष। दोनों ही आगमों के कुलकरों के नामों में बिल्कुल ही भेद है।

समवायांग में अतीत अवसर्पिणी के दस कुलकरों के नाम इस प्रकार बताये हैं :—

१. स्वयंजल २. शतायु ३. अजितसेन ४. अनन्तसेन ५. कार्यसेन ६. भीमसेन ७. महाभीमसेन ८. दृढ़रथ ९. दशरथ और १०. शतरथ। इन नामों के साथ यदि हम 'अजितसेन' और 'कार्यसेन' ये दो नाम हटा दें तो अन्य सभी के नाम एक सदृश हैं। हमारी दृष्टि से स्थानांग में उत्सर्पिणी के स्थान पर अवसर्पिणी पाठ होता तो अधिक उपयुक्त था। क्योंकि स्थानांग में सातवें स्थान में उत्सर्पिणी के सात कुलकर बताये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. मित्रवाहन २. सुभूम ३. सुप्रभ ४. स्वयंप्रभ ५. दत्त ६. सूक्ष्म ७. सुबन्धु। वे दस कुलकरों के जो नाम पहले बताये गये हैं, उनसे पृथक् हैं। और यही सातों नाम समवायांग में भी मिलते हैं। इसलिये ये नाम अतीत अवसर्पिणी के गिनने चाहिए। समवायांग के साथ जो दो नामों में भेद है वह हमारी दृष्टि से वाचना भेद हो सकता है।

युगलिक सभ्यता का मूलाधार : कल्पवृक्ष

प्रस्तुत विभाग में सात प्रकार के वृक्षों का भी उल्लेख है। मानव का वृक्षों के साथ अत्यन्त मधुर सम्बन्ध रहा है, उसकी सारी अपेक्षायें वृक्षों से पूर्ण होती थी, इसलिए वह खाद तथा पानी आदि से उनका संपोषण भी करता रहा है। कवि कुलगुरु कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला का वृक्षों पर सहोदर की भाँति स्नेह बताया है।[1]

यौगलिक युग में मानव की इच्छायें अल्प थीं। उसकी भूख-प्यास का शमन, वस्त्र-पात्र, मकान आदि सभी की पूर्ति वृक्षों से होती थी। उन वृक्षों को जैन आगम साहित्य में 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। यों कल्प शब्द अनेकार्थक है। सामर्थ्य, वर्णना, छेदन करना, औपम्य और अधिवास प्रभृति विविध अर्थ कल्प शब्द के हैं, पर यहाँ समर्थ अर्थ का प्रयोग उचित लगता है। जो वृक्ष विविध प्रकार के फल प्रदान करने में समर्थ हों, वह 'कल्पवृक्ष' हैं। नालन्दा हिन्दी शब्दकोष में स्वर्ग के बृक्ष का नाम 'कल्पतरु' लिखा है। यह सम्भव है, वह कल्पवृक्ष हो। यह बृक्ष देवलोक का वृक्ष माना गया है। कल्पना के अनुसार फल प्रदान करने के कारण यह वृक्ष 'कल्पवृक्ष' के नाम से विश्रुत है।

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल, अध्याय १, पृ० १३.

कितने ही लोगों में यह भ्रम है कि एक ही प्रकार का वृक्ष सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती उस वृक्ष के नीचे पहुँच जाता और इच्छित वस्तु को प्राप्त कर आह्लादित होता। कितने ही चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि इन वृक्षों के अधिष्ठाता देव विशेष थे, जो उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते थे, पर यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि स्थानांग[1] सूत्र के सातवें स्थान में सात प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख है। तो स्थानांग[2] के दसवें स्थान में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन है। समवायांग[3] और प्रवचनसारोद्धार[4] में भी दस प्रकार के कल्पवृक्ष बताये हैं। ये सभी वृक्ष अपनी-अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि सभी वृक्षों का अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान था और उस सीमा तक अपना कार्य करते थे।

स्थानांग में जो सात प्रकार के कल्पवृक्ष बताये गये हैं, वे 'विमलवाहन' कुलकर के समय के हैं। उन वृक्षों में दीप, ज्योतिष्क और त्रुटितांग वृक्षों के नाम नहीं आये हैं। सम्भव है, उस समय या उस क्षेत्र में वाद्य और प्रकाश देने वाले वृक्षों का अभाव होगा। जीवाभिगम[5] सूत्र में ये कल्पवृक्ष एकोरुक द्वीप में बताये गये हैं। इन दस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) **मत्तांगक**—स्वादु पेय की पूर्ति करने वाले।
(२) **भृत्तांग**—अनेक प्रकार के भाजनों की पूर्ति करने वाले।
(३) **तूर्यांग**—वाद्यों की पूर्ति करने वाले।
(४) **दीपांग**—सूर्य के अभाव में दीपक के समान प्रकाश देने वाले।
(५) **ज्योतिरंग**—सूर्य और चन्द्र के समान प्रकाश देने वाले।
(६) **चित्रांग**—विचित्र पुष्प (माला) देने वाले।

---

१. विमलवाहणे णं कुलगरे सत्तविधा रुक्खा भुवभोगत्ताते हव्वमागच्छिसु तं जहा—

मातंगता य भिंगा त्तित्तंगा चेव चित्तरसा होंति।
मणियंगा य अणियणा सत्तमगा कप्परुक्खा य॥

—ठाणांग, स्थान ७, सूत्र ६८८.

२. स्थानांग स्थान १०.
३. प्रवचनसारोद्धार, द्वार १२१.
४. समवायांग, समवाय १०.
५. जीवाभिगम पा० ३४७.

(७) **चित्र रसांग**—विविध प्रकार के भोजन देने वाले।

(८) **मण्यंग**—मणि, रत्न आदि आभूषण देने वाले।

(९) **गृहाकार**—घर के समान स्थान देने वाले।

(१०) **अनग्न**—वस्त्रादि की पूर्ति करने वाले।

ये कल्पवृक्ष मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। 'मत्तांगक' वृक्ष से चन्द्रप्रभा, मनःशीला, सिन्धुवारुणी आदि विशेष प्रकार के पौष्टिक पदार्थों से युक्त वह पेय उत्पन्न होता था, जिसे पीकर यौगलिकों में अभिनव स्फूर्ति का संचार होता था। समय पर उनसे स्वतः स्राव होता था। जिससे यौगलिक पूर्ण स्वस्थ रहते थे। वे वृक्ष उस समय सहज रूप में पैदा होते थे। उनका निर्माता कोई ईश्वर आदि नहीं था, वे वृक्ष स्वतः ही समय पर पकते थे और समय पर ही उनमें से स्वतः स्राव झरने लगता, उसका उपयोग कर मानव पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करते थे।[1]

'भृत्तांग' नामक वृक्ष से सहज रूप में उन्हें पात्र मिल जाते थे। आज जिस प्रकार के पात्रों का प्रचलन है, उस प्रकार के पात्र यौगलिक काल में नहीं थे। भृत्तांग नामक वृक्ष के पत्र और शाखाएँ बर्तनाकार होती थीं अथवा उनके पत्रों को सहज रूप से पात्र का आकार दिया जा सकता था। जीवाभिगम[2] सूत्र में उल्लेख है कि वे वृक्ष घट, कलश, करकरी (भाजन पीतल का) पादकांचनिका (पैरों को प्रक्षालन करने वाली स्वर्ण पात्री), उदक (पानी लेने का पात्र), भृंगार (लोटा), सरक (बाँस का पात्र) तथा मणिरत्नों की रेखाओं से खचित तथा विविध प्रकार के पत्र और फूलों के रूप में पात्र प्रदान करते थे।

जब मानव कार्य करते हुए थक जाता है, तब वह मनोरंजन की सामग्री जुटाता है। नृत्य, वाद्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन है। प्राग्-ऐतिहासिक काल के मनोरंजन के लिए वादित्र का मुख्य स्थान रहा है, वे वादित्र कृत्रिम नहीं किन्तु स्वतः निर्मित थे। उन वादित्रों में मृदंग, पणव, दर्दरक, करटी, डिमडिम, ढक्का, मुरज, शंखिका, विपंची, महत्ती, तलताल, कंसताल प्रभृति वाद्य मुख्य थे। 'तूर्याग' नामक वृक्ष समूह से स्वतः ही

---

१. देखिए—(क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, २० पृ० ९९
(ख) पन्नवणा ३६४

२. घड कलस कडग कक्करी········· —जीवाभि० पा० ३४७.

तत, वितत, घन, सुषिर प्रभृति विविध प्रकार के स्वर प्रस्फुटित होते थे। यौगलिक मानव इन वृक्षों से मनोरंजन करता था।

प्राचीन युग में जब विद्यु त शक्ति का विकास नहीं हुआ था, तब मशालों से या दीपकों से मानव अन्धकार में ज्योति प्राप्त करता था। यौगलिक काल में अग्नि का अभाव था। इसलिए उस समय वृक्षों से ही निर्मल प्रकाश प्राप्त होता था।[1] वे वृक्ष निर्धू म अग्नि की तरह चमकते थे। उन वृक्षों का प्रकाश सुवर्ण, केसुक, अशोक और जपा वृक्षों के विकसित फूलों की तरह और मणि रत्नों की किरणों की भाँति देदीप्यमान था। वह जात्य हिंगुल के रंग के सदृश सुन्दर 'ज्योतिष्क' नामक वृक्षों का समूह कहलाता था। अग्नि की तरह प्रकाशमान होने से अन्धकार का अभाव रहता था। शीत-काल में भी वे वृक्ष यौगलिक मानवों को शान्ति प्रदान करते थे। वे वृक्ष 'दीपांग' और 'ज्योतिरंग' के रूप में विश्रु त थे।

यौगलिक काल के मानव कृत्रिम कलाओं से परिचित नहीं थे। पर उस समय कुछ वृक्ष ऐसे थे वे जो चित्रमय थे। वे चित्र बड़े ही दर्शनीय, रम्य और विविध वर्ण वाले थे। वे वृक्ष 'चित्रांग' के नाम से जाने जाते थे।[2]

संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो आहार के अभाव में दीर्घ-काल तक जीवित रह सके। आहार जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। यौगलिक काल में मानव आजकल की तरह भोजन का निर्माण नहीं करता था। उस युग में 'चित्र रसांग' नामक ऐसे वृक्ष थे, जिन पर विविध प्रकार के फल लगते थे। जैसे—चक्रवर्ती[3] सम्राट के लिए सुगन्धित श्रेष्ठतम कलमा सालि चावलों से खीर बनाते हैं, विविध पदार्थों से मोदक तैयार करते हैं, उसे खाकर प्रत्येक व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करते हैं, वैसे ही अठारह प्रकार के विशिष्ट भोजन गुणों से युक्त वे फल मानव को पूर्ण तृप्ति प्रदान करते थे।

अनुसन्धित्सुओं का यह मन्तव्य[4] है कि आधुनिक युग में भी अमेरिका

---

१. जहा से……अइरुग्ग सरय सूर मण्डल…… —जीवा० पा० ३४८.

२. जहा से पेच्छा घरे विचित्ते…… —जीवा० पा० ३४८.

३. जहा से सुगन्धवर कलम सालि तन्दुल…… —जीवाभिगम, पा० ३४८.

४. भरतमुक्ति : एक अध्ययन, पृ० ४

में ऐसे वृक्ष हैं जो 'मिल्क ट्री' 'ब्रैड ट्री' और 'लाइट ट्री' आदि नामों से पुकारे जाते हैं। इन वृक्षों के फल, दूध, रोटी, और प्रकाश से व्यक्ति लाभान्वित होते हैं।

यौगलिक काल के मानवों का जीवन प्रकृति पर अवलम्बित था। आज के युग में सोने-चाँदी, हीरे-पन्ने आदि बहुमूल्य रत्नों से विविध प्रकार के आभूषण बनते हैं, पर उस युग में मानव वृक्षों के ही फल-पत्तों से तथा फूलों से आभूषण तैयार करता था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'[1] नाटक में शकुन्तला के आभूषणों का उल्लेख है। ऋषि कण्व ने आभूषणों को लाने का आदेश गौतमी को दिया। गौतमी जब आभूषण लेकर उपस्थित हुई तो उन्होंने पूछा—कहाँ से लाई हो? उसने उत्तर दिया—मैंने ये विविध वृक्षों से प्राप्त किये हैं। 'मण्यंग' नामक वृक्ष से विविध प्रकार के हार, अर्द्ध हार, मुकुट, कुण्डल, सूत्र, एकावली, चूड़ामणि, तिलक, कनकावली, हस्तमालक, केयूर, वलय, अंगूठी, मेखला, घण्टिका, नूपुर, आदि विविध प्रकार के आभूषण प्राप्त होते थे। अथवा उन वृक्षों के फूल और फलों से सहज रूप में आभूषण बन जाते होंगे, उन आभूषणों की कान्ति स्वर्ण, मणि और रत्नों से भी अधिक थी।

यौगलिक काल में मानव समूह के रूप में नहीं रहता था। न उन्हें परिवार की चिन्ता थी और न समाज की ही। वे युगल रूप में पैदा होते और युगल रूप में जीवन की सांध्य बेला तक साथ रहते पर उनके पास मकान निर्माण की कला नहीं थी। वे 'गृहाकार' वृक्षों में कारण धूप, छाया आदि से बचे रहते थे, वे वृक्ष भव्य भवनों का कार्य करते थे। वे अट्टालिका, गोपुर, प्रासाद, एकसाल, द्विसाल, चतुःसाल,[2] गर्भगृह, मोहनगृह, बल्लभी गृह, आपण, निर्यूह, अयवक्कुरक, चन्द्रशाला[3] आदि विविध प्रकार के मकान की तरह स्वतः निर्मित हो जाते थे। उन मकानों में ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ भी होती थीं और द्वार भी होते थे।[4]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ४, पृ० ८९-९०.

२. जिसमें एक आँगन के चारों ओर चार कमरे या दालान हों, जिसे हिन्दी में 'चौसल्ला' कहते हैं। गुप्त काल में इसे 'संजवन' कहते थे। देखिए—हर्षचरित्र : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९२— ले० वासुदेवशरण अग्रवाल।

३. जहा से अणेगाइगा खोय तणुय·········· —जीवाभिगम, पा० ३५०.

४. जहा से पागार हालय चरियदार गोपुर··········

—जीवाभिगम, पा० ३४९.

यौगलिक काल में मानव पशुओं की भाँति नग्न नहीं रहता था, वह अपनी लज्जा-निवारण करने के लिए वृक्षों की छाल आदि का भी उपयोग करता था। जीवाभिगम[1] में वर्णन है कि 'अनग्न' नामक वृक्ष से क्षौम, कम्बल, दुकूल, कौशेयक, चीनांशुक, श्लक्ष्ण, कल्याणक, आदि विविध प्रकार के वस्त्र यौगलिकों को प्राप्त होते थे। "यैर्जना नग्नाः न भवन्तीति अनग्नकाः" इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृक्षों के वस्त्र (छाल) पहनने के काम में आते थे। जीवाभिगम के टीकाकार ने लिखा है कि और भी अनेक वस्त्रों के नाम हैं—'शेषं सम्प्रदायादवसातव्यं, तदन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात्'। कितने ही चिन्तकों का यह अभिमत है कि यौगलिक काल में मानव वस्त्र नहीं पहनता था। धीरे-धीरे युग के परिवर्तन से वस्त्र पहनना प्रारम्भ हुआ। वस्त्र सभ्यता की निशानी है, यह सम्भव है। उस युग में मानवों की इच्छाएँ इतनी अल्प थीं कि वह आवश्यकताओं की पूर्ति सहज रूप से कर लेता था। जहाँ तृष्णा की आग प्रज्वलित होती है, वहाँ नित नई इच्छाएँ उद्बुद्ध होती हैं और वह उसकी पूर्ति में संलग्न रहता है। यही उसके दुःख का कारण है, जबकि वहाँ पर सुख का साम्राज्य था।

कल्पवृक्षों को ही इस्लाम धर्म में 'तोवे' कहा गया है और क्रिश्चियन धर्म में उसे 'स्वर्ग का वृक्ष' माना है।[2] पैरु देश में आज भी ऐसे वृक्ष हैं जो हवा में से पानी तत्व को खींचते रहते हैं, और गर्मी के दिनों में उन वृक्षों में से स्वतः पानी झरने लगता है। कितने ही वृक्षों के फूल आज भी लोग आभूषणों के रूप में धारण करते हैं, कितने ही फल भूख और प्यास को शांत करते हैं, कितने ही वृक्षों की छाल आज भी वस्त्र के रूप में उपयोग की जाती है। इस तरह वृक्ष मानवों के लिए सदा उपयोगी रहा है। कल्पवृक्ष कोई काल्पनिक वृक्ष नहीं था, क्योंकि आज वे वृक्ष नहीं हैं पर कुछ उनकी तुलना वाले वृक्ष आज भी हैं। इससे यह अनुमान हो सकता है कि किसी युग में इस प्रकार के वृक्ष रहे होंगे।

---

१. जीवाभिगम, पा० ३५०.

२. भरतमुक्ति : एक अध्ययन, ले० महेन्द्र मुनि, पृ० ८,

जैन आगम एवं व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत :—

उत्तम पुरुषों की कथाएँ

भगवान ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव भारतीय संस्कृति के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। जिनकी गौरव गाथाओं का उल्लेख जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में गाया गया है। वे विश्व-वन्द्य महापुरुष थे। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्प सूत्र आदि में उनके जीवन के कुछ स्रोतों पर प्रकाश डाला है।

भगवान् ऋषभ को कुलकर भी माना है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में वे पन्द्रहवें कुलकर हैं और प्रथम तीर्थंकर हैं। प्रथम राजा, प्रथम केवली और प्रथम धर्मचक्रवर्ती हैं, इसलिए उनकी जीवन गाथा यहाँ सर्वप्रथम दी जा रही है।[1]

तीर्थंकरों का प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याणक है। कल्पसूत्र में पाँच कल्याणक माने गये हैं, अतः सर्वप्रथम कल्याणकों का उल्लेख है। जन्मोत्सव मनाने के लिए छप्पन महत्तरिका दिशाकुमारियाँ और चौंसठ इन्द्र आते हैं। सबसे पहले अधोलोक में अवस्थित "भोगंकरा" आठ दिशाकुमारियाँ सपरिवार आकर मरुदेवी को नमन कर निवेदन करती हैं—हम जन्मोत्सव मनाने आई हैं। आप भयभीत न बनें। धूल और दुरभिगंध आदि को दूर कर एक योजन तक का समस्त वातावरण परम सुगन्धमय बनाती हैं तथा गीत गाती हुई मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो जाती हैं।

उसके पश्चात् ऊर्ध्वलोक में रहने वाली 'मेघंकरा' आदि दिक्कुमा- सुगंधित जल की वृष्टि करती हैं और दिव्य धूप से एक योजन के परिमण्डल को देवों के आगमन योग्य बना देती हैं। मंगल गीत गाती हुई मरुदेवी के सन्निकट खड़ी हो गईं। उसके बाद रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि दिक्कुमारियाँ हाथों में दर्पण लिए आती हैं, दक्षिण के रुचक पर्वत पर रहने वाली "समाहारा" आदि दिक्कुमारियाँ अपने हाथों में झारियाँ

---

१. उसह-चरियं, धम्मकहाणुओगे, पढम खंधे

लिए हुए, पश्चिम दिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली "इला देवी" आदि दिक्कुमारियाँ पंखे लिए हुए, उत्तर रुचक पर्वत पर रहने वाली "अलम्बुषा" आदि दिक्कुमारियाँ चामर लिए हुए मंगल गीत गाती हुई मरुदेवी के सामने खड़ी हो गईं। विदिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली चित्रा, चित्रकनका, सतेरा और सुदामिनी चारों दिशाओं में प्रज्वलित दीपक लिए हुए खड़ी होती हैं। उसी प्रकार मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपकावती ये चारों महत्तरिका दिशाकुमारियाँ नाभि-नाल को काटती हैं और उसे गड्ढे में गाड़ देती हैं। रत्नों से उस गड्ढे को भरकर उस पर पीठिका निर्माण करती हैं। पूर्व, उत्तर व दक्षिण इन तीन दिशाओं में तीन कदली-घर और उसमें एक-एक चतुःसाल और उसके मध्य भाग में सिंहासन बनाती हैं। मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली "रूपा" आदि दिक्कुमारियाँ दक्षिण दिशा के कदली गृह में माता मरुदेवी को ऋषभ के साथ सिंहासन पर लाकर बिठाती हैं। शतपाक, सहस्रपाक तैल का मर्दन करती हैं और सुगन्धित द्रव्यों से पीठी करती हैं। वहाँ से वे उन्हें पूर्व दिशा के कदली गृह में ले जाती हैं। गंधोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान कराती हैं। वहाँ से उत्तर दिशा के कदली गृह के सिंहासन पर बिठाकर गोशीर्ष चन्दन से हवन और भूतिकर्म निष्पन्न कर रक्षा पोटली बाँधती है और मणि रत्नों से कर्णमूल के पास शब्द करती हुई चिरायु होने का आशीर्वाद देती हैं। वहाँ से माता मरुदेवी के साथ भगवान ऋषभ को जन्म-गृह में लाती हैं और शय्या पर बिठाकर मंगल गीत गाती हैं।

उसके पश्चात् आभियोगिक देवों के साथ सौधर्मेन्द्र आता है और माता मरुदेवी को नमस्कार कर उन्हें अवस्वापिनी निद्रा देता है। ऋषभ का दूसरा रूप बनाकर माता के पास रखता है तथा स्वयं वैक्रिय शक्ति से अपने पाँच रूप बनाता है। एक रूप से भगवान् ऋषभ को उठाता है, दूसरे रूप से छत्र धारण करता है और दो रूप इधर-उधर दोनों पार्श्व में चामर बींजते हैं तथा पाँचवाँ शक्र रूप हाथ में वज्र लिए हुए आगे चलता है। इस प्रकार से देवगण दिव्य वाद्य-ध्वनियों से वातावरण को मुखरित करते हुए द्रुत गति से मेरु पर्वत के पण्डक वन में पहुँचते हैं उन्हें अभिषेक सिंहासन पर भगवान् को बिठाते हैं। चौंसठ इन्द्र भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

अच्युतेन्द्र ने आभियोगिक देवों को आदेश दिया—महार्घ्य महाभिषेक के योग्य एक हजार आठ स्वर्णकलश रजतमय, मणिमय, स्वर्ण और रूप्य

मय, स्वर्ण-मणिमय, स्वर्ण-रजत-मणिमय मृत्तिकामय, चन्दन के कलश, लोटे, थाल, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरण्डक, पंखे, एक हजार आठ प्रकार के धूप, सभी प्रकार के फूल, आदि विविध प्रकार की सामग्री लेकर उपस्थित होओ। जब वे उपस्थित हो गये तो उन कलशों में क्षीरोदक, पुष्करोदक भरत, ऐरवत, क्षेत्र के मागधादि तीर्थों के जल, गंगा आदि महानदियों के जल, सभी वर्षधर चक्रवर्ती विजयों, वक्षस्कार पर्वत के द्रहों, महानदियों के जल से पूर्ण करके उन कलशों पर क्षीर सागर के सहस्रदल कमलों के ढक्कन लगाकर सुदर्शन, भद्रसाल, नन्दन आदि वनों के पुष्प, गोशीर्ष चन्दन और श्रेष्ठतम औषधियाँ लेकर अभिषेक करने के लिए तैयार हुए।

अच्युतेन्द्र चन्दन चर्चित कलशों से ऋषभदेव का महाभिषेक करते हैं। चारों ओर पुष्पवृष्टि होती है। अन्य त्रेसठ इन्द्र भी अभिषेक करते हैं। शक्रेन्द्र चारों दिशाओं में चार श्वेत वृषभों की विकुर्वणा कर उनके शृंगों से आठ जल-धाराएँ बहाकर अभिषेक करते हैं। उसके पश्चात् शक्र प्रभु को पुनः माता के पास लाता है और माता के सिरहाने क्षोमयुगल तथा कुण्डल युगल रखकर प्रभु के दूसरे रूप को माता के पास से हटाकर माता की निद्रा का संहरण करता है। कुबेर आदि को आदेश देकर विराट निधि कुलकर नाभि के महल में प्रस्थापित करवाते हैं। सभी को यह आदेश देते हैं—भगवान् ऋषभ का और उनकी माता का यदि कोई अशुभ चिन्तवन करेगा तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा। वहाँ से सभी इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप जाकर अष्टाह्निका महोत्सव मनाते हैं। नाभि कुलकर ने भी ऋषभ का जन्मोत्सव मनाया।[1]

ऋषभदेव व तथागत बुद्ध-जन्म : तुलनात्मक अध्ययन

जैन आगम साहित्य में जिस प्रकार तीर्थंकर के जन्मोत्सव का वर्णन है, उसी तरह बौद्ध परम्परा में भी तथागत बुद्ध के जन्मोत्सव का वर्णन मिलता है।[2] तथागत बुद्ध की माता महामाया लुम्बिनी वन में पहुँचती हैं, शाल के नीचे पहुँचते ही उसने शाखा को पकड़ना चाहा, शाल शाखा उसी क्षण महामाया के हाथ के समीप आ गई। उसने उसको पकड़ लिया, शाखा हाथ में लिए गर्भ उत्थान हो गया। उसी समय चारों शुद्ध चित्त महाब्रह्मा सोने का जाल हाथ में लिए वहाँ पहुँचे। बोधिसत्व को उस जाल में लेकर माता के सम्मुख रखा और बोले—तुमने महाप्रतापी पुत्र को

१. धम्मकहाणुओगे, पढम खंधे पृ० ६ से १९ तक।
२. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृ० १५४-१५६

जन्म दिया है। बोधिसत्व अन्य मानवों की तरह माता की कुक्षि से गन्दे व मलविलिप्त नहीं निकलते, वे धर्मासन से उतरते हुए पुरुष के समान दोनों हाथ और दोनों पैर फैलाये हुए, खड़े मानव की तरह मल से सर्वथा अलिप्त, काशी देश के शुद्ध व निर्लिप्त वस्त्र में रखे हुए, मणि रत्न के समान चमकते हुए माता के उदर से निकलते हैं। बोधिसत्व और उनकी माता के सत्कारार्थ आकाश में से दो जल-धारायें निकलती हैं और वे दोनों के शरीर को शीतल करती हैं।

ब्रह्माओं के हाथों से चारों महाराजाओं ने उन्हें मांगलिक समझे जाने वाले कोमल मृगचर्म में ग्रहण किया, उनके हाथ से मानवों ने दुकूल की तह में ग्रहण किया। बोधिसत्व उन मानवों के हाथ से छूटकर पृथ्वी पर खड़े हो गये। उन्होंने पूर्व दिशा की ओर निहारा, अनेक सहस्र चक्रवाल एक आंगन से हो गये। वहाँ पर देव और मानव गन्धमाला प्रभृति से अर्चना करते हुए बोले—हे महापुरुष! आपके सदृश यहाँ पर कोई नहीं है। आप से विशिष्ट व्यक्ति यहाँ कहाँ से आयेगा? बोधिसत्व ने चारों दिशाओं और अनुदिशाओं को ऊपर नीचे अच्छी तरह से देखा। किसी को वहाँ पर न देखकर बोधिसत्व उत्तर दिशा में सात कदम आगे बढ़े। महाब्रह्मा ने उस समय उन पर श्वेत छत्र धारण किया। सुयामों ने तालव्यजन और अन्य देवताओं ने राजाओं के अन्य ककुधभाण्ड अर्थात् खड्ग, छत्र, मुकुट, पादुका और पंखा लिये हुए उनका अनुगमन किया। सातवें कदम पर अवस्थित होकर 'मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ हूँ', इस प्रकार सिंहनाद किया।

लुम्बिनी बन में जिस समय बोधिसत्व उत्पन्न हुए, उसी समय राहुल माता देवी, अमात्यछन्न, अमात्य-कालदाई, हस्तीराज, आजानीय, अश्वराज, कन्धक, महाबोधि वृक्ष और निधि सम्भृत चार कलश पैदा हुए। वे कलश क्रमशः गव्यूति, आधा योजन, तीन गव्यूति, एक योजन की दूरी पर थे। ये सात एक ही समय पैदा हुए। दोनों नगरों के निवासी बोधिसत्व को लेकर कपिलवस्तु नगर में आये।[1]

कालदेवल तपस्वी जो आठ समाधि से सम्पन्न थे, वे भोजनादि से निवृत्त होकर मनोविनोदार्थ त्रयस्त्रिंश देवलोक में गये। वहाँ विश्रान्ति लेते

---

१. देखिए—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० १५५ डा० मुनि नगराज जी

हुए देवगणों से उसने पूछा—आप सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा किस तरह से कर रहे हैं ? हमें भी इसका रहस्य बतायें। देवों ने कहा—राजा शुद्धोदन के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा, उसकी अनन्त लीला देखने और सुनने का हमें अवसर मिलेगा। यही हमारी प्रसन्नता का मुख्य कारण है।

तपस्वी देवलोक से उतर कर राजमहल में पहुँचा। राजा को जाकर कहा कि मैं आपके पुत्र को देखना चाहता हूँ। राजा ने उसी क्षण पुत्र को अपने पास मँगवाया और पुत्र को तपस्वी के चरणों में लगाना चाहा पर बोधिसत्व के चरण इतने लम्बे हो गये कि तापस की जटा में जा लगे, क्योंकि बोधिसत्व किसी को भी नमस्कार नहीं करते। यदि वही चरण अनजाने में लग जाता तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते। तथागत के दिव्य तेज को देखकर तापस उनके चरणों में गिर पड़ा। बोधिसत्व के चरण-स्पर्श से उसे अस्सी कल्प की स्मृति हो आई। उसने बालक के शारीरिक लक्षणों को देखा, उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि यह अवश्य ही बुद्ध बनेगा और वह ज्ञान से यह सोचने लगा कि मैं यहाँ मरकर अरुप लोक में पैदा होऊँगा जिससे इनके दर्शन नहीं हो सकेंगे। इस तरह बोधिसत्व के जन्म की घटनाओं में भी अलौकिकता रही हुई है। यह अलौकिकता यह सिद्ध करती है कि ये घटनायें श्रद्धा के युग में लिखी हुई हैं। श्रद्धालु घटना-विशेष को तर्क की कसौटी पर नहीं कसता। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी श्रद्धा युग की अनेक घटनायें मिलती हैं।

ऋषभ कथा का विस्तार

भगवान् ऋषभदेव के जन्म, वंश, उत्पत्ति, विवाह, राज्याभिषेक और उनके एक सौ दो सन्तान आदि का उल्लेख जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में विस्तार से नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति[1] आवश्यक चूर्णि,[2] आवश्यक हरिभद्रियावृत्ति[3] आवश्यक मलयगिरी वृत्ति[4] चउपन्न महापुरिस चरियं,[5] त्रिषष्टिशलाका

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, पूर्वभाग, प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति, सन् १९२८।
२. आवश्यकचूर्णि, ऋषभदेवजी केशरीमल जी श्वे० संस्था, रतलाम, सन् १९२८।
३. आवश्यक हरिभद्रिया वृत्ति, प्रथम विभाग, प्रकाशक—आगमोदय समिति।
४. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पूर्व भाग, प्रकाशक—आगमोदग समिति।
५. चउप्पन महापुरिस चरियं—आचार्य शीलांक विरचित—वाराणसी।

पुरुष चरित्र[1] आदि में विस्तार से घटनाओं के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवन-प्रसंग धीरे-धीरे अधिक विकसित हुए हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति[2] और आवश्यकचूर्णि[3] के अनुसार जब ऋषभदेव गर्भ में आये थे तब माता ने ऋषभ का स्वप्न देखा था और जन्म के पश्चात् शिशु के उरु स्थल पर ऋषभ का लांछन भी था, इसलिए उनका गुणनिष्पन्न नाम ऋषभ रखा। श्रीमद्भागवत् के अनुसार उनके सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा।[4] आचार्य जिनसेन[5] ने ऋषभदेव के स्थान पर 'वृषभदेव' लिखा है। वृष कहते हैं श्रेष्ठ को, भगवान् श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान थे, इसीलिए उन्हें 'वृषभ स्वामी' के नाम से पुकारा गया है। वे धर्म और कर्म के आद्य निर्माता थे, इसीलिए आदिनाथ के नाम से भी वे विश्रुत रहे हैं। आचार्य जिनसेन[6] और आचार्य समन्तभद्र[7] ने उनका एक गुणनिष्पन्न नाम 'प्रजापति' लिखा है। जब वे गर्भ में आये तब हिरण्य की वृष्टि हुई, इसलिए उनका एक नाम 'हिरण्यगर्भ'[8] भी है। इक्षुरस का पान करने के कारण वे 'काश्यप' भी कहलाये।[9] इसके अतिरिक्त वे विधाता,

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र—हेमचन्द्राचार्य, प्रका० आत्मानन्दसभा, भावनगर
२. आवश्यकनिर्युक्ति, १९२/१
३. उरुसु उसभलंछणं उसभो सुमिणंमि तेण कारणेण उसभोत्ति णामं कयं।
—आवश्यकचूर्णि, पृ० १५१
४. श्रीमद्भागवत, ५/४/२, प्र० खण्ड, गोरखपुर संस्करण ३, पृ० ५५६।
५. महापुराण, १३/१६०-१६१।
६. महापुराण, १६०/१६/३६३।
७. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदाम्बरः॥
—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
८. महापुराण; पर्व १२/९५.
९. (क) कासं—उच्छू, तस्य विकारो कास्यः—रसः सो जस्स पाणं सो कासवो—उसभस्वामी। —दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
(ख) काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्।
—महापुराण १६/२६६, पृ० ३७०.

विश्वकर्मा, स्रष्टा आदि विविध नामों से भी पुकारे जाते हैं।[1]

आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि जब भगवान् एक वर्ष से कुछ कम के थे तब पिता की गोद में बैठे हुए शक्रेन्द्र के हाथ से इक्षु लेकर खाने इच्छा व्यक्त की, तो शक्रेन्द्र ने उनके वंश को 'इक्ष्वाकुवंश' के नाम से अभिहित किया।[2] सर्वप्रथम इसी वंश की स्थापना हुई। आचार्य जिनसेन ने लिखा है—ऋषभदेव के समय इक्षु-दण्ड अपने आप पैदा होते थे किन्तु लोग उसका उपयोग करना नहीं जानते थे। ऋषभदेव ने रस निकालने की विधि बताई, इसलिए वे 'इक्ष्वाकु' कहलाये।[3]

यौगलिक काल में भाई और भगिनी ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। सुनन्दा के भ्राता की अकाल में मृत्यु हो जाने से नाभि ने ऋषभदेव सहजात सुमंगला और सुनन्दा का पाणिग्रहण ऋषभदेव के साथ करवाकर एक नई व्यवस्था स्थापित की।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—ऋषभदेव ने लोगों में विवाह-प्रवृत्ति चालू रखने के लिए विवाह किया।[5] आचार्य जिनसेन[6] ने सुमंगला के स्थान पर 'नन्दा' का नाम दिया है। सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया और सुमंगला ने भरत, ब्राह्मी आदि निन्यानवें पुत्रों को जन्म दिया। पद्म पुराण में ऋषभदेव की 'यशस्वती' रानी से भरत का जन्म हुआ, ऐसा लिखा है।[7] श्वेताम्बर परम्परा में ऋषभदेव के सौ पुत्र तथा दो पुत्रियां, इस तरह एक सौ दो सन्तान मानी हैं तो दिगम्बर परम्परा में एक सौ तीन सन्तान मानी हैं।[8]

---

१. विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः।
प्रजास्तं व्याहरन्ति स्म, जगतां पतिमच्युतम्॥—महापुराण १६/२६७/३७०.

२. (क) सक्को वसट्ठवणे इक्खु अगू तेण हुन्ति इक्खागा।
—आवश्यकनिर्युक्ति, १८६.

(ख) आवश्यकचूर्णि—१५२.

३. आकानाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्।
इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः॥ —महापुराण १६/२६४.

४. आवश्यकनिर्युक्ति, १५१-१९३.

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, १/२/८८१.

६. हरिवंशपुराण, ६/१८.

७. पद्मपुराण—रविषेणाचार्य, २०/१०४.

८. महापुराण, १६/३४६.

यौगलिक युग में शासन एवं नीति व्यवस्था

हम यह पूर्व ही बता चुके हैं कि यौगलिक काल में मानव स्वयं शासित था, उसमें किसी भी प्रकार की उच्छृंखलता नहीं थी और ज्यों-ज्यों उच्छृंखलता बढ़ती गई, त्यों-त्यों 'हाकार', 'माकार' और 'धिक्कार' नीति का विकास हुआ और वह धिक्कार नीति ऋषभदेव तक चलती रही। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर माना है साथ में प्रथम राजा के रूप में भी उल्लेख किया गया है।[1] नाभि कुलकर थे और उनकी उपस्थिति मे ही वे राजा बने, इसीलिए ऋषभदेव ने कुलकर पद को ग्रहण नहीं किया होगा, यह स्पष्ट है। क्योंकि एक ही स्थान पर दो कुलकर नहीं हो सकते। फिर यहाँ जो उल्लेख हुआ है, वह हमारी दृष्टि ने कुलकर की भाँति कार्य करने से ऋषभदेव कुलकर कहलाये होंगे। वह संक्रांति काल था। प्राचीन मर्यादाएँ विच्छिन्न हो रही थीं, यौगलिकों ने घबराकर उस स्थिति पर नियन्त्रण करने हेतु ऋषभदेव से प्रार्थना की।[2] ऋषभदेव ने कहा—आप नाभि कुलकर से निवेदन करें, वे आपको राजा प्रदान करेंगे। जो इस सारी स्थिति को नियन्त्रित कर सुव्यवस्था करेंगे। यौगलिकों की प्रार्थना पर नाभि कुलकर ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक कर राजा घोषित किया।[3]

राज्य की सुव्यवस्था के लिए आरक्षक दल की स्थापना की, जिसके अधिकारी 'उग्र' कहलाये। मंत्रिमण्डल बनाया, जिसके अधिकारी 'भोग' के नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्राट के पास रहने वाले और परामर्श देने वाले 'राजन्य' कहलाये तथा अन्य कर्मचारी 'क्षत्रिय' के नाम से पहचाने गये।[4] दुष्टों के दमन तथा प्रजा व राज्य के संरक्षणार्थ चार प्रकार की सेना व 'सेनापतियों' की व्यवस्था की गई।[5] गज, अश्व, रथ, पादातिक, चतुर्विध

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सू० २९-३०.

२. नीतीण अइक्कमणे निवेयणं उसभसामिस्स।

—आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरी, १९३.

३. आवश्यकचूर्णि, पृ० १५३-१५४.

४. (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरी वृत्ति, १९८/१९५/१.

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, १/२/९७४/९७६.

५. त्रिषष्टि० १/२/९२५-९३२.

सेना का संगठन किया। अपराधों के निरोध हेतु साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रचलन किया। साथ ही चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था भी बनाई।[1]

दण्डनीति

१. **परिभास**—कुछ समय के लिए अपराधी को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।

२. **मण्डलबन्ध**—सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड प्रदान करना।

३. **चारक**—बन्दीगृह में बन्द रहने का दण्ड देना।

४. **छविच्छेद**—कर आदि अंगों का छेदन करना।

आचार्य उभयदेव का अभिमत है—परिभास और मण्डलबन्ध ये दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय चलीं तथा चारक और छविच्छेद ये दो नीतियाँ भरत के समय चलीं।[2] आचार्य भद्रबाहु[3] और आचार्य मलयगिरि[4] की दृष्टि से बन्ध, (बेड़ी का प्रयोग) घात, ये दो दण्ड ऋषभ के समय में प्रारम्भ हुए। मृत्युदण्ड का प्रारम्भ भरत के समय में हुआ। जिनसेन[5] आचार्य ने लिखा है—वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड भरत के समय में प्रचलित हुए।

जीवन संरक्षिणी कलाओं का विकास

ऋषभदेव के समय कल्पवृक्ष पूर्णतया नष्ट हो चुके थे। मानव स्वतः पैदा होने वाले, कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि का उपयोग करते थे। साथ ही चावल, गेहूँ, मूँग, चना आदि का भी उपयोग करते थे। पकाने के साधन के अभाव में अपक्व अन्न दुष्पाच्य हो गया तो वे लोग ऋषभदेव के पास पहुँचे। ऋषभ ने समस्या का समाधान करते हुए कहा—पहले छिलके उतार लें और फिर मल कर खायें। कुछ समय के बाद जब वह भी दुष्पाच्य हो गया तो पानी में भिगोकर मुट्ठी व बगल में रखकर खाने की सलाह दी, पर यह भी स्थाई समाधान नहीं था।

---

१. आवश्यकचूर्णि—१५६.

२. स्थानांग वृत्ति—७/३/५५७.

३. निगडाइजमो बन्धोघातो दण्डादितालणया।

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २१७.

४. आवश्यकमलयगिरी वृत्ति—१९९ / २०२.

५. शरीरदण्डनञ्चैव वधबंधादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥ —महापुराण ३/२१६/६५

ऋषभदेव जानते थे कि यह एकान्त स्निग्ध काल है, इस समय अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती। अग्नि की उत्पत्ति के लिए एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष ये दोनों ही काल उपयुक्त नहीं हैं। समय द्रुत गति से आगे बढ़ रहा था। वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि उत्पन्न हुई। मानवों ने जब अग्नि देखी तो रत्न राशि समझकर उसे हाथ में लेना चाहा पर हाथ जल गये। उन्होंने ऋषभदेव से निवेदन किया कि कोई भूत जंगल में पैदा हुआ है, जो हमारे को कष्ट दे रहा है। ऋषभदेव ने कहा-स्निग्ध-रूक्ष काल आ गयाहै, इसलिए अब तुम्हारी समस्या का स्थाई समाधान हो जायेगा। उन्होंने मिट्टी का पात्र बनाकर एवं अन्नादि पकाकर खाने की सलाह दी। यही कारण है कि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त में ऋषभदेव के अन्य विशेषणों के साथ 'जातवेदस्' [अग्नि] के रूप में स्तुति की है।[1] वहाँ लिखा है—'रक्षा करने वाला, सभी को अपने भीतर रखने वाला, स्थिर स्वभावी, अन्नवान ऋषभ संसार के उदर का परिपोषण करता है। उस दाता ऋषभ को परम ऐश्वर्य के लिए विद्वानों के जाने योग्य मार्गों से बड़े ज्ञान वाला, अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष प्राप्त करें।'

शिल्पों में सर्वप्रथम कुम्भकार का शिल्प प्रचलित हुआ। उसके पश्चात् भवन-निर्माण करने की कला सिखाई। मनोरंजन के लिए चित्र शिल्प का आविष्कार हुआ। वस्त्र निर्माण की शिक्षा दी। बाल, नाखून आदि की अभिवृद्धि से शरीर अभद्र प्रतीत होने लगा तब नापित शिल्प का प्रशिक्षण दिया। इन पाँच मुख्य शिल्पों के बीस-बीस अवान्तर भेद हुए, इस तरह कुल सौ शिल्प विकसित हुए।

आचार्य जिनसेन ने ऋषभदेव के समय प्रचलित छह आजीविकाओं के साधनों का उल्लेख किया है। जो निम्न प्रकार से हैं :—

(१) **असि**—अर्थात् सैनिक वृत्ति (२) **मषि**—लिपि विद्या (३) **कृषि**—खेती का कार्य (४) **विद्या**—अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य (५) **वाणिज्य**—व्यापार, व्यवसाय (६) **शिल्प**—कला कौशल[2]। उस समय के मानवों को 'षट्कर्म जीवीनाम्' कहा गया है।[3]

१. पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः॥ —अथर्ववेद—९/४/३
२. असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥ —आदिपुराण १६/१७९.
३. आदिपुराण, ३९/१४३.

कला-कौशल

ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का[1] और लघु पुत्र बाहुबली को प्राणी-लक्षणों का ज्ञान कराया[2]। आचार्य जिनसेन[3] ने आदि-पुराण में लिखा है कि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, संग्रह प्रकरण और नृत्यशास्त्र की शिक्षा दी। वृषभसेन को गान्धर्व विद्या की, अनन्तविजय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद की शिक्षा दी। बाहुबली को काम नीति, स्त्री-पुरुष लक्षण, धनुर्वेद, अश्वलक्षण, गजलक्षण, रत्न परीक्षा एवं तंत्र-मंत्र की शिक्षा दी थी। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दक्षिण हस्त से अठारह लिपियों का अध्ययन कराया[4] तथा सुन्दरी को वाम हस्त से गणित विद्या का परिज्ञान कराया।[5] व्यवहार-साधन हेतु मान, (माप), उन्मान (तोला-माशा आदि), अवमान (गज, फीट, इंच आदि), प्रति-मान (छटांक सेर-मन आदि) सिखाये।[6] ब्राह्मी लिपि जो आज प्रचलित है, उसका आविष्कार ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के द्वारा हुआ। विश्व में आज जितनी भी लिपियाँ प्रचलित हैं, उनका मूल आधार ब्राह्मी लिपि है। आज जो गणित शास्त्र (Mathematics) है, वह सुन्दरी के गणित शास्त्र का ही विकसित रूप है। इस तरह ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए पुरुषों को बहत्तर कलाओं, स्त्रियों को चौंसठ कलाओं और सौ प्रकार के शिल्पों का परिज्ञान कराया।[7] संक्षेप में कहें तो असि, मषि और कृषि की व्यवस्था की।

वर्ण व्यवस्था

ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों की स्थापना की। यह स्थापना ऊँचता और नीचता की दृष्टि से नहीं, किन्तु आजीविका

---

१. समवायांग सूत्र, समवाय ७४.

२. भरहस्स रूवकम्मं, नराइ लक्खणमहोइयं बलिणो।
—आवश्यकनिर्युक्ति २१३.

३. आदिपुराण, १६/११८-१२५.

४. (क) ऋषभदेव : एक परिशीलन, परिशिष्ट विभाग चौथा, ले० देवेन्द्रमुनि
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, २१२.

५. (क) ऋषभदेव : एक परिशीलन, द्वितीय संस्करण, पृ० १४९.
(ख) विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति, १३२.

६. "माणुम्माणवमाणपमाणंगणिमाई वत्थूणं" —आवश्यकनिर्युक्ति, २१३.

७. कल्पसूत्र, १९५/५७ पुण्य० सं०

को व्यवस्थित रूप देने के लिए की[1]। ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्राट भरत ने की थी, ऐसा स्पष्ट उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में है।[2] ऋग्वेद[3] संहिता में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है, वहाँ ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उरु और शूद्र को पैर बताया है। यह लाक्षणिक वर्णन समाज रूप विराट शरीर के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीमद्‌भागवत[4] आदि में भी इस सम्बन्ध में चर्चा है। वैदिक साहित्य में ऋषभदेव को अनेक स्थलों पर ब्रह्मा भी कहा है।

ऋषभदेव : अध्यात्म साधना का प्रथम चरण

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभदेव की दीक्षा का उल्लेख है, पर वैराग्य किस कारण से उद्‌बुद्ध हुआ, इसकी चर्चा नहीं है[5]। जबकि आचार्य हेमचन्द्र[6] ने और शीलाचार्य[7] ने लिखा है—बसन्त ऋतु में नागरिकगण विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ कर रहे थे, क्रीड़ाएँ देखकर वे चिन्तन करने लगे—क्या इससे भी अधिक सुख कहीं पर है ? चिन्तन करते हुए अवधिज्ञान से पूर्वभव में अनुत्तर विमान में जो सुखोपभोग अनुभव किया था, उसके सामने यह कुछ भी नहीं है ? वह लम्बे समय का सुखोपभोग आज स्वप्नवत् हो गया है, अतः वे संयम के पथ पर बढ़ गये। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ हरिवंश पुराण[8] और

---

१. महापुराण, १८३/१६/३६२.
२. (क) आवश्यक निर्युक्ति पृ० २३५/१
(ख) आवश्यक चूर्णि २१२-२१४
(ग) त्रिषष्टि० १/६
३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
—ऋग्वेद संहिता १०/९०, ११-१२
४. विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा, मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाताय आत्माचार लक्षणः ॥
—भागवत ११/१७/१३ द्वि भा० पृ० ८०९
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सूत्र ३०.
६. त्रिषष्टिशलाका० १/२/९८५-१०३३.
७. चउपन्न महापुरिस चरियं
८. सोऽथ नीलाञ्जसां दृष्ट्वा नृत्यन्तीमिन्द्रनर्तकाम्।
बोधस्याभिनिबोधस्य, निर्विवेदोपयोगतः ॥ —हरिवंशपुराण ९/४७

अन्यान्य ग्रन्थों में 'नीलांजना' नर्तकी नृत्य करते-करते मृत्यु को प्राप्त हुई, उसे देखकर ऋषभदेव प्रतिबुद्ध हुए, ऐसा उल्लेख है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अभिनिष्क्रमण के पूर्व ऋषभदेव ने वार्षिक दान दिया, ऐसा उल्लेख नहीं है, पर आवश्यकनिर्युक्ति[1] और त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र[2] में उनके वार्षिक दान का उल्लेख है।

ऋषभदेव ने चार मुष्टिक लुंचन किया, यह उल्लेख जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में है। जबकि अन्य तीर्थंकरों के वर्णन में पंचमुष्टि लुंचन का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—जिस समय भगवान् लोच कर रहे थे, उस समय उनके स्वर्ण सदृश केश राशि को देखकर इन्द्र ने प्रार्थना की—एक मुष्टि केश इसी तरह रहने दें। भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना से उसी प्रकार केशों को रहने दिया[3]। केश रहने से वे 'केशी' या 'केशरिया जी' के नाम से विश्रुत हुए। पद्मपुराण[4], हरिवंश पुराण[5] में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख है। ऋग्वेद[6] में ऋषभ की स्तुति 'केशी' के रूप में की गई है। वहाँ पर कहा है—केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी विश्व के समस्त तत्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान् ज्ञान ज्योति कहलाता है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में चार हजार उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय वंश के व्यक्तियों के साथ ऋषभदेव की दीक्षा का उल्लेख है।[7] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवन् ऋषभ ने उनको दीक्षा नहीं दी थी पर उन्होंने भगवान् का अनुसरण कर स्वयं ही लुंचन आदि क्रियायें की थीं।[8]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, २३६.
२. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, १/३/२३.
३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २ सूत्र ३०.
४. वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः। —पद्मपुराण ३/२८८.
५. स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुः। —हरिवंशपुराण, ६/२०४.
६. केश्यग्नि विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ ऋग्वेद १०/१३६/१.
७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सूत्र ३०.
८. चउरो साहस्सीओ, लोयं काऊण अप्पणा चेव।
जं एस जहा काही तं तह अम्हेवि काहामो॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ३३७

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा के पश्चात् कब प्रथम आहार ग्रहण किया, इसका उल्लेख नहीं है। समवायांग[1] में "संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" इस प्रकार उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत होने पर भिक्षा मिली। किस तिथि को उन्हें भिक्षा प्राप्त हुई ? इसका उल्लेख वसुदेव हिण्डी[2] और हरिवंश पुराण[3] में नहीं हुआ है। वहाँ केवल संवत्सर का ही उल्लेख है। खरतरगच्छ बृहत्गुर्वावली[4], त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[5] तथा महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण[6] में अक्षय तृतीया के दिन ऋषभदेव का पारणा हुआ, यह स्पष्ट उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने बेले का तप धारण किया था, और दिगम्बर परम्परा के अनुसार उन्होंने छह मास का तप धारण किया था। पर लोग आहार-दान देने की विधि से अनभिज्ञ थे। अतः स्वतः आचीर्ण तप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और एक वर्ष से अधिक अवधि व्यतीत होने पर उनका पारणा हुआ। श्रेयांसकुमार ने ईक्षु रस उन्हें प्रदान किया। इसका सूचन वाचस्पत्याभिधान के निम्न श्लोकों से भी होता है—

> "वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
> अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृत्तिकारोहिणीयुता॥
> तस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतम्।........"

---

१. समवायांग—सूत्र १५७

२. "भयवं पियामहो निराहारो परमधिति-बल-सायरो सयंभुसागरोइव थिमियो अणाउलो संवच्छरं विहरइ, पत्तो य हत्थिणाउरं".........ततो परमहरिसियो पडिलाहेइ सामि खोयरसेणं। —वसुदेव हिण्डी

३. हरिवंशपुराण, सर्ग ९, श्लोक १८०-१९१.

४. श्री युगादिदेव पारणकपवित्रितायां वैशाख शुक्लपक्ष तृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः। —खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली [सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई]

५. राधशुक्ल तृतीयायां, दानमासीत्तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, १/३/३०१.

६. सेयंसहु घणएण णिउंजिय, उक्कहिं उडमाला इव पंजिय।
पूरियसंवच्छर उववासे, अक्खयदाणु मणिउ परमेसे॥
—महापुराण, सन्धि ९, पृ० १४८-१४९

इन प्रमाणों के आलोक में यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव का पारणा अक्षयतृतीया के दिन हुआ। भगवान् ऋषभ एक वर्ष तक इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को धारण करते रहे। उसके पश्चात् वे अचेलक हो[1] गये। साधनाकाल में देव सम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी और तिर्यंचसम्बन्धी जो भी उपसर्ग आये, उन उपसर्गों को उन्होंने बहुत ही शान्त भाव से सहन किया।[2] वे अपने साधनाकाल में व्युत्सर्ग काय और त्यक्त देह की भाँति रहे। श्रीमद्भागवत[3] में श्रमण बनने के बाद ऋषभदेव को अज्ञानी लोगों ने दारुण कष्ट दिये, यह उल्लेख है, पर हमारी दृष्टि से उस युग के मानव इतने क्रूर नहीं थे जो ऋषभ को इतना कष्ट देते।

भगवान् के जीवन और साधना का शब्द-चित्र विविध उपमाओं के द्वारा शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है। एक सहस्र वर्ष के पश्चात् भगवान् को केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। जिसे जैनागमों में केवलज्ञान कहा है, उसे बौद्ध ग्रन्थों में 'प्रज्ञा', सांख्य-योग में 'विवेक-ख्याति' कहा है।[4] उन्होंने तीर्थ की स्थापना की। उनके चौरासी गण तथा चौरासी गणधर हुए। वैदिक पुराणों में भी भगवान् ऋषभदेव को दस विध धर्म का प्रवर्तक माना है। तृतीय आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष रहने पर भगवान ऋषभदेव दस हजार श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर आरूढ़ हुए। चतुर्दश भक्त से आत्मा को भावित करते हुए अभिजित नक्षत्र के योग में पर्यंकासन से स्थित शुक्लध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों को नष्ट कर सदा-सर्वदा के लिए अक्षर-अजर अमर पद को प्राप्त हुए,[5] इसे जैन परिभाषा में 'निर्वाण' या 'परिनिर्वाण' कहा है। शिवपुराण में अष्टापद पर्वत के स्थान पर कैलाश पर्वत का उल्लेख किया है।[6]

---

१. उसभे णं अरहा कोसलिए संवच्छर-साहियं चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेलए। —धम्मकहाणुओगे, पढम खन्धे, पृ० २०.
२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार १, सूत्र ३१.
३. भागवत ५/५/३०/५६४.
४. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। —योग सूत्र २/२६.
५. चुलसीतीए जिणवरो, समण सहस्सेहि परिवुडो भगवं।
दसहिं सहस्सेहि समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥—आवश्यकचूर्णि २२१.
६. कैलाशे पर्वते रम्य, वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ —शिवपुराण ५९.

ऋषभदेव और शिव

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[1], कल्पसूत्र,[2] त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र[3] के अनुसार ऋषभदेव की निर्वाण तिथि माघ कृष्णा त्रयोदशी है और तिलोयपण्णत्ति[4] एवं महापुराण[5] के अनुसार माघ कृष्णा चतुर्दशी है। मूर्धन्य मनीषियों का यह मानना है कि भगवान् की स्मृति में उस दिन श्रमणों ने उपवास रखा और रात भर धर्म-जागरणा करते रहे। इसलिए वह रात्रि 'शिवरात्रि' के रूप में प्रसिद्ध हुई। ईशान[6] संहिता में उल्लेख है—माघ कृष्णा चतुर्दशी की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव शिवगति प्राप्त हो जाने से शिव—इस लिङ्ग से प्रकट हुए, जो निर्वाण के पूर्व आदिदेव कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे।

ऋषभदेव का महत्त्व केवल जैन परम्परा में ही नहीं रहा है, अपितु ब्राह्मण परम्परा में भी वे उपास्य देव रहे हैं। डा० राधाकृष्णन, डा० जिमर, प्रो० विरूपाक्ष, वॉडियर प्रभृति अनेक विद्वानों ने इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि वेदों में भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है। वैदिक ऋषि भक्ति की भावना से तल्लीन होकर महाप्रभु ऋषभ की स्तुति करते हुए कहते हैं—हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परमसुख प्राप्त करने के लिए हम आपकी शरण में आना चाहते हैं।[7] ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है।[8] यजुर्वेद में भी कहा है—मैंने उस महापुरुष को

---

१. जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचम पक्खे।
माह बहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसी पक्खेणं ॥ —जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४८/९१

२. कल्पसूत्र १९९/५९

३. त्रिषष्टि० १/६

४. 'माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय—जम्मणक्खत्ते अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोभि। —तिलोयपण्णत्ति

५. महापुराण २७/३.

६. माघे कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि। शिवलिंग तयोद्भूतः कोटि सूर्य-समप्रभ। तत्काल व्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः॥ —ईशान संहिता

७. मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियाभि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां देवी नामुत पूर्वयावा॥
—ऋग्वेद २/३४/२.

८. ऋग्वेद—१९/१६६/१.

जाना है, जो सूर्यवत् तेजस्वी तथा अज्ञान आदि अन्धकार से बहुत दूर है, उसी का परिज्ञान कर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है। मुक्ति के लिए इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं।[1] अथर्ववेद के ऋषि ने मानवों को यह प्रेरणा दी कि वे ऋषभदेव का आह्वान करें। हे सहचर बन्धुओ! तुम आत्मीय श्रद्धा द्वारा उसके आत्मबल और तेज को धारण करो।[2] क्योंकि वे प्रेम के राजा हैं, उन्होंने उस संघ की स्थापना की है, जिसमें पशु भी मानव के सदृश माने जाते हैं तथा उनको कोई भी नहीं मार सकता।

वैदिक ऋषियों ने विविध प्रतीकों के द्वारा भी ऋषभदेव की स्तुति की है। कहीं वे जाज्वल्यमान अग्नि के[3] रूप में, कहीं परमेश्वर के रूप में[4] कहीं रुद्र के रूप में,[5] कहीं शिव[6] के रूप में, कहीं हिरण्यगर्भ[7] के रूप में, कहीं ब्रह्मा[8] के रूप में, कहीं विष्णु[9] के रूप में, कहीं वातरसना[10]

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

२. अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां, विराजन्तं प्रथमध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुं वे धिय, इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोज॥
—अथर्ववेद, कारिका १९/४२/४.

३. अथर्ववेद ९/४/३; ९/४/७; ९/४/१८.

४. अथर्ववेद ९/४/७.

५. (क) ऋग्वेद १०/१३६., २/३३/१५.
(ख) यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता १/८/६, वाजसनेयी ३/५७/६३.

६. प्रभासपुराण ४९.

७. (क) ऋग्वेद १०/१२१/१.
(ख) तैत्तिरीयारण्यक भाष्य-सायणाचार्य, ५/५/१/२.
(ग) महाभारत, शान्तिपर्व ३४९.
(घ) महापुराण १२/९५.

८. ऋषभदेव : एक परिशीलन, द्वि० संस्करण, पृ० ४९.

९. सहस्रनाम ब्रह्मशतकम् श्लोक १००-१०२.

१०. (क) ऋग्वेद १०/१३६/२. (ख) तैत्तिरियारण्यक २/७/१. पृ० १३७.
(ग) बृहदारण्यकोपनिषद ४/३२२.
(घ) एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९१६, पृ० ९७-९८.
(ञ) ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्टस आव द इण्डिया आव मैगस्थनीज, बान १८४६, पृ० १७५.

श्रमण के रूप में, कहीं केशी[1] के रूप में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हैं।

श्रीमद्भागवत[2] में तो ऋषभदेव का बड़ा ही विस्तार से निरूपण है, लगता है कि जैन परम्परा के ग्रन्थ को ही हम पढ़ रहे हैं। उनके माता-पिता के नाम, सुपुत्रों का उल्लेख, उनकी ज्ञान साधना, उपदेश, धार्मिक-सामाजिक नीतियों का प्रवर्तन, और भरत के अनासक्त योग का चित्रण हुआ है। श्रीमद्भागवत में ही नहीं, अपितु लिङ्गपुराण[3], शिवपुराण[4], आग्नेयपुराण[5], ब्रह्माण्डपुराण[6], विष्णुपुराण[7], कूर्मपुराण[8], नारदपुराण,[9] वाराहपुराण[10], स्कन्दपुराण[11], प्रभृति पुराणों में ऋषभदेव का केवल नामोल्लेख ही नहीं हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं उनके जीवन-प्रसंग भी उट्टंकित हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में ऋषभदेव का उल्लेख जितना विस्तार के साथ होना चाहिए, उतना नहीं हो पाया। 'धम्मपद' में ऋषभ और महावीर का नाम एक साथ आया है, उसमें ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ धीर अभिहित किया।[12] धर्मकीर्ति ने 'न्याय बिन्दु' ग्रन्थ में सर्वज्ञ का दृष्टान्त देते हुए ऋषभदेव और भगवान् महावीर का उल्लेख किया है।[13] जो सर्वज्ञ अथवा आप्त हैं, वे ज्योतिज्ञानादिक के उपदेष्टा होते हैं।

पाश्चात्य और पौर्वात्य सभी ने ऋषभदेव को आदिपुरुष माना है

---

१. (क) पद्मपुराण ३/२८८. (ख) हरिवंश पुराण ९/२०४.
(ग) ऋग्वेद १०/१३६/१.

२. श्रीमद्भागवत १/३/१३; २/७/१०; ५/३/२०; ५/४/२०; ५/४/५; ५/४/८, ५/४/९-१३; ५/५/१६; ५/५/१९; ५/५/२८; ५/१४/४२-४४; ५/१५/१.

३. लिंगपुराण, ४८/१९-२३. ४. शिवपुराण, ५२/८५.

५. आग्नेयपुराण, १०/११-१२. ६. ब्रह्माण्डपुराण पूर्व, १४/५३.

७. विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अ० १/२६-२७. ८. कूर्मपुराण, ४१/३७. ३८.

९. नारदपुराण, पूर्वखण्ड, अ० ४८. १०. वाराहपुराण, अ० ७४.

११. स्कन्दपुराण, अ० ३७.

१२. उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —धम्मपद ४२२.

१३. यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। —न्यायबिन्दु

और विविध रूप में उनका चित्रण किया है। विस्तार भय से हम यहाँ उन सभी के विचार उट्ट‌ंकित नहीं कर रहे हैं, विशेष जिज्ञासुजन लेखक का 'ऋषभदेव : एक परिशीलन' ग्रन्थ अवलोकन करें।

ऋषभदेव का निर्वाण उत्सव : प्रथम धर्मोत्सव

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जन्मोत्सव का जैसे विस्तार से निरूपण हुआ है, वैसे ही उनके निर्वाण का भी विस्तार से निरूपण है। निर्वाण महोत्सव मनाने के लिए चौंसठ इन्द्र अपने विशाल परिवार के साथ वहाँ उपस्थित होते हैं। शक्र ऋषभदेव के शरीर को क्षीरोदक से स्नान करवाता है, अन्य देव गण, गणधर तथा अन्य अन्तेवासी शिष्यों के पार्थिव शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाते हैं फिर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन करते हैं। तीन प्रकार की शिविकायें तैयार करते हैं। एक में ऋषभदेव को, दूसरी में गणधरों को और तीसरी शिसिका में सामान्य साधुओं को रखते हैं। "जय-जय नन्दा, जय-जय भद्दा" के दिव्य आघोष से आकाश को गुंजायमान करते हुए तीन चिताओं में तीर्थंकर, गणधर तथा सामान्य साधुओं को स्थापित करते हैं। शक्र की आज्ञा से अग्निकुमार देव ने अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देव ने अग्नि को प्रज्वलित किया। गोशीर्ष चन्दन की बनी हुई चितायें जलने लगीं। जब सभी के पार्थिव शरीर जल गये तब शक्रेन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव ने क्षीरोदक से उन चिताओं को ठण्डा किया। सभी इन्द्र अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की डाढ़ों और दाँतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया। तीनों चिताओं पर स्मृति चिन्ह बनाकर वे देवेन्द्र अपने परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप गये और अष्टाह्निका महोत्सव मनाया।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव का ओजस्वी, तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कृतित्व अत्यन्त प्रेरणादायी है। यहाँ पर उनके जीवन के कुछ बिन्दुओं पर चिन्तन किया है और ये ही बिन्दु आगम साहित्य के पश्चात् निर्मित साहित्य के उपजीव्य रहे हैं।

मल्ली भगवती : अध्यात्म क्षेत्र में नारी का चरम उत्कर्ष

मल्ली भगवती के चरित्र का मूल आधार ज्ञाताधर्मकथा (सू० १/८) है। मल्ली भगवती का जीव अपने तीसरे पूर्वभव में 'महाबल' नामक राजा बना था। वह छह स्नेही साथियों के साथ श्रमणधर्म में दीक्षित हुआ और साथ ही समान तप करने का निश्चय किया। पर महाबल के अन्तर्मानस में

ये विचार उद्‌बुद्ध हुए कि मैं गृहस्थाश्रम में भी इनसे बढ़कर था। यदि इस समय समान साधना की ती इन्हीं के समान भविष्य में रहना पड़ेगा। अत: महाबल ने विशिष्ट तप की साधना प्रारम्भ की। यदि छहों साथी षष्ठभक्त तप करते तो महाबल अष्टमभक्त तप करते, यदि अन्य साथी अष्टमभक्त तप करते तो वे दशम भक्त तप करते। साथी मुनियों के पूछने पर शारीरिक और मानसिक कारण बताकर वे पारणा नहीं करते। माया के कारण उन्होंने स्त्रीनामकर्म का अनुबन्धन किया। स्त्रीवेद का बन्ध कर लेने के पश्चात् सभी प्रकार के शल्यों से मुक्त होकर निष्काम भाव से उग्र तप के साथ तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध किया। सातों ही श्रमणों ने भिक्षु की द्वादश प्रतिमाओं को धारण किया, लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तथा महासिंहनिष्क्रीड़ित आदि विविध प्रकार की तपस्याएँ करने के बाद अन्त में पादपोपगमन संथारा कर स्वर्गस्थ हुए। महाबल जीव बत्तीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति सहित अनुत्तर विमान में पैदा हुआ और अन्य छहों मुनि बत्तीस सागर से कुछ कम स्थिति वाले देव बने।

वहाँ से च्युत होकर महाबल का जीव मिथिला नगरी में महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती की कुक्षि से मल्ली भगवती के रूप में उत्पन्न हुआ और उनके पूर्वभव के छह मित्र जिनमें से "अचल" का जीव कौशल की राजधानी अयोध्या में 'प्रतिबुद्ध' नामक राजकुमार हुआ। 'धारण' का जीव अंग की राजधानी चम्पा में 'चन्द्रछाय' नामक राजकुमार, 'अभिचन्द्र का जीव काशी की राजधानी वाराणसी में 'शंख' राजकुमार बना। 'पूरण" का जीव कुणाला की राजधानी कुणाला नगरी में 'रुक्मी' नामक राजकुमार हुआ। 'वसु' का जीव पुरु की राजधानी हस्तिनापुर में 'अदीनशत्रु' नामक राजकुमार के रूप में पैदा हुआ तथा 'वैश्रमण" का जीव पांचाल की राजधानी काम्पिल्यपुर में 'जितशत्रु' राजा बना।

द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति मल्ली कुमारी दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। उसका रूप अद्‌भुत था। जो भी उसे निहारता, वह ठगा-सा रह जाता। राजकुमारी ने अपने विशिष्ट ज्ञान से देखा कि मेरे छहों मित्र मेरे रूप की ख्याति सुनकर मेरे से विवाह करने के लिए तत्पर होंगे, अत: उन्हें प्रतिबोध देने हेतु उसने विशिष्ट कलाकारों को बुलवाया और अशोक वाटिका में मोहन गृह का निर्माण करवाया, छह गर्भगृहों के बीच एक जाल-गृह का निर्माण करवाया। उस जाल-गृह में मणि पीठिका पर अपने ही समान स्वर्ण पुतली बनवाई, उस पुतली को देखने वाला यही समझता कि साक्षात् मल्ली

भगवती ही खड़ी है। उस पुतली के सिर पर एक छिद्र बनवाया और पद्म पत्र की तरह उसका ढक्कन निर्माण करवाकर प्रतिदिन अपने भोजन के बाद एक कवल उस पुतली में डालने लगी। वह अन्न प्रतिदिन अन्दर ही अन्दर सड़ने लगा, जिससे दुसह्य दुर्गन्ध पैदा हुई। छहों मित्र राजाओं ने मल्ली भगवती के रूप की प्रशंसा सुनी तो उन सबने उसे अपनी-अपनी पत्नी बनाने के लिए कुम्भ राजा के पास दूत प्रेषित किये। छहों दूतों को एक साथ आया हुआ देखकर महाराजा कुम्भ यह निर्णय न ले सके कि किसके साथ राजकुमारी का पाणिग्रहण कराया जाय, अतः छहों दूतों को निषेध कर दिया। छहों राजकुमारों के दूतों ने अपने-अपने राजाओं को निवेदन किया तथा वे छहों सेना से सुसज्जित होकर आक्रमण करने हेतु मिथिला की ओर बढ़े जिससे कुम्भ राजा अत्यन्त चिन्तित हुआ। मल्ली भगवती के संकेत से छह राजाओं को पृथक्-पृथक् गर्भगृहों में ठहरा दिया गया। छहों ने मल्ली भगवती की प्रतिकृति देखी, वे देखते ही उस पर मन्त्र-मुग्ध हो गये। मल्ली भगवती जाल-गृह में से अपनी कनकमयी प्रतिकृति के पास आई और पद्म कमल के ढक्कन को पुतली के सिर पर से हटा दिया। ढक्कन हटते ही असह्य और भीषण दुर्गन्ध निकली, जिससे सारा वायुमण्डल दुसह्य दुर्गन्ध से व्याप्त हो गया। छहों राजाओं ने अपने उत्तरीय वस्त्रों से नाक को ढक लिया और मुख को मोड़कर बैठ गये। राजकुमारी मल्ली भगवती ने उन सभी राजाओं को सम्बोधित कर कहा—आप सभी मुख को मोड़कर और नाक आदि ढक कर क्यों बैठे हैं? इस स्वर्णमूर्ति में प्रतिदिन एक-एक ग्रास श्रेष्ठ भोजन का डाला गया है। जब एक ग्रास से भी इतनी भयंकर सड़ान पैदा हुई है तो हम इस शरीर में प्रतिदिन कितने ग्रास डालते हैं? यह शरीर मल-मूत्र, श्लेष्म, रज आदि अशुचियों का भण्डार है, इसमें आप क्यों आसक्त हो रहे हैं? स्मरण करो अपने पूर्वभव को! हम पूर्वभव में मित्र थे। साधना करते हुए मैंने माया का सेवन किया, जिसके कारण मैंने स्त्रीनामकर्म का बन्धन किया। छहों राजाओं को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और वे प्रतिबुद्ध हुए। तीन सौ पुरुष और तीन सौ महिलाओं के साथ मल्ली भगवती ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उसी दिन उन्हें केवलज्ञान एवं केवलदर्शन हो गया। एक प्रहर से कुछ अधिक समय तक वे छद्मस्थ अवस्था में रहे। केवलज्ञान होने पर छहों राजा भी उनके प्रथम उपदेश को सुनकर दीक्षित हुए।

कथा का कथ्य

प्रस्तुत कथा में भोग के दलदल में फँसने वाले, रूप और लावण्य के

पीछे पागल बने हुए छहों राजाओं को विशुद्ध सदाचार का मार्ग बताया है। जो शरीर ऊपर से चमक-दमक रहा है, जिसकी चमक-दमक से उसके प्रति आकर्षण पैदा होता है, उस शरीर में रही हुई अपार गन्दगी को बताकर राजाओं का हृदय परिवर्तन किया गया है। बौद्ध साहित्य में भिक्षुणी शुभा का एक प्रसंग है। शुभा का सौन्दर्य निराला था। एक कामुक व्यक्ति उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उस कामुक व्यक्ति ने कहा—तुम्हारे नेत्र कितने सुन्दर और आकर्षक हैं कि उनको पाये बिना मुझे चैन नहीं पड़ेगा। भिक्षुणी ने अपने शील की रक्षा के लिए तीक्ष्ण नाखूनों से अपने नेत्र निकाल कर उसके हाथ में दे दिये और उस कामुक व्यक्ति से कहा—जिन नेत्रों पर तुम मुग्ध हो, वे नेत्र तुम्हें समर्पित कर रही हूँ। किन्तु उस कथा से भी मल्ली भगवती की कथा अधिक आकर्षक और प्रभावशाली है।

रूपक की भाषा में यदि कहा जाये तो वे छहों राजा काम, क्रोध, मद, मोह आदि षट् रिपुओं के रूप में हैं। सभी धर्म और सम्प्रदायों ने षट् रिपुओं को जीतने पर बल दिया है। उन रिपुओं को कला से ही जीता जा सकता है। मल्ली भगवती की तरह साधक उन रिपुओं पर विजय-वैजयन्ती फहरा सकता है।

प्रस्तुत कथा में उत्कृष्ट चित्रकला का रूप भी देखने को मिलता है। प्राचीन भारत में चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ था। चित्रों को बनाने के लिए चित्रकार अपनी कूँची और विविध प्रकार के रंगों का उपयोग करता था। चित्रकार सर्वप्रथम भूमि को तैयार करता फिर उसको सजाता-संवारता। मल्ली भगवती के भ्राता मल्लदत्त कुमार ने हाव-भाव, विलास और शृंगार चेष्टाओं से युक्त एक चित्र सभा बनवाई थी। चित्रकार श्रेष्ठतम चित्र बनाने में संलग्न हो गये। उनमें एक चित्रकार अद्भुत प्रतिभा का धनी था। वह द्विपद, चतुष्पद, अपद [वृक्ष आदि] के किसी एक हिस्से को निहार कर उसके सम्पूर्ण रूप को चित्रित कर देता था। राजा-महाराजा और श्रेष्ठी गणों को चित्र-कला अत्यन्त प्रिय थी। वे विविध प्रकार की चित्र-शालायें बनवाते थे।

बृहत्कल्पभाष्य में आचार्य संघदासगणि ने चित्र कर्म के निर्दोष और सदोष ये दो प्रकार बताये हैं। वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, भवन, बल्ली, लता वितान, पूर्ण कलश, स्वस्तिक, आदि मांगलिक पदार्थों का आलेखन निर्दोष चित्र कर्म माना है और स्त्रियों के शृंगार आदि आलेखन को सदोष चित्र

कर्म माना है।[1] चित्र मुख्य रूप से भित्तियों पर और पट्ट फलक पर बनाये जाते थे। चित्र-सभायें उस युग में राजाओं के लिए अत्यन्त गर्व की वस्तु होती थीं। चित्र सभाओं में सैकड़ों खम्भे होते थे।

प्रस्तुत कथा में कुछ अवान्तर कथायें भी हैं। चोक्खा परिव्राजिका राजा जितशत्रु के दरबार में पहुँचती है। जितशत्रु को अपने अन्तःपुर पर बड़ा गर्व था। वह सोचता था कि मेरे अन्तःपुर के सदृश सुन्दरियाँ अन्यत्र कहीं पर भी नहीं हैं। विश्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य मेरे अन्तःपुर में सिमटा हुआ है, अतः वह अभिमान के साथ परिव्राजिका से बोला—आप तो देश-विदेशों में घूमती हैं। क्या आपने मेरे अन्तःपुर सदृश्य अन्य अन्तःपुर देखा है। परिव्राजिका ने मुस्कराते हुए कहा—तुम तो कूप-मण्डूक सदृश हो; और वह कूप-मण्डूक की कथा सुनाती है।

कथाओं में समुद्र यात्राएँ :

प्रस्तुत कथानक में अरणक श्रावक की सुदृढ़ धर्म-श्रद्धा का भी उल्लेख है। वणिक् लोग मूल धन की रक्षा करते हुए धनोपार्जन करते थे।[2] कितने ही व्यापारी एक स्थान पर दुकान लगाकर व्यापार करते थे और कितने ही व्यापारी बिना दुकान लगाये इधर-उधर घूम-फिरकर व्यापार करते थे।[3] निशीथचूर्णि[4] में 'समुद्द जाणी' शब्द प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है—समुद्र यात्री। ज्ञातृधर्मकथा[5] में अनेक स्थलों पर 'पोत पट्टन' और 'जल पत्तन' शब्द आये हैं, जो समुद्री बन्दरगाह के सूचक हैं, जहाँ पर विदेशों से माल उतरता था और देशी माल का वहाँ से निर्यात होता था। आचारांग[6] और उत्तराध्ययन[7] में नाव और पोत शब्द भी प्राप्त होते हैं। पोतवह[8] शब्द जहाज का वाचक है। आधुनिक युग में 'वाणिय' शब्द सामान्य व्यापारी

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १/२४२९.
२. निशीथचूर्णि ११/३५३२.
३. निशीथभाष्य १६/५७५०. की चूर्णि.
४. समुद्दजाणीए चेव णावए —निशीथचूर्णि
५. णायाधम्मकहा, अध्य० ८वाँ
६. आचारांग, ३.२.
७. उत्तराध्ययन, अध्य० २३.
८. णायाधम्मकहा, अध्य० ८, ९, १७.

के अर्थ में व्यवहृत होता है, पर ज्ञाताधर्मकथा में 'वाणिय' शब्द समुद्री यात्री के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1]

आगम साहित्य में व धर्मकथानुयोग में अनेक स्थलों पर समुद्र यात्रा का निरूपण है। आवश्यकचूर्णि[2] से यह पता चलता है कि दक्षिण मदुरा से सुराष्ट्र में जहाज चलते थे। समुद्र यात्रा के लिए वायु का अनुकूल होना आवश्यक माना गया है।[3] निर्यामकों को समुद्री हवा के बारे में कुशल होना आवश्यक माना गया है। समुद्र में "कालियावात" न चलने पर और साथ ही गर्भज वायु के चलने पर जहाज सकुशल बन्दरगाहों पर पहुँच जाते थे। "कालियावात' यानी तूफानों में जहाजों को डूबने का अत्यधिक खतरा रहता था। उस युग में समुद्र-यात्रा निर्विघ्न नहीं थी।[4] जहाज आज की भाँति दोनों प्रकार के होते थे—चढ़ने योग्य और माल ढोने योग्य।[5] जो जहाज व्यापार के लिए जाते थे, उनमें जो माल भरा जाता था; वह १. गणिम—सुपारी, नारियल आदि जो गिन करके भरा जाता था। २. धरिम—शक्कर आदि जिसे तोलकर भरते थे। ३. मेय—चावल, घी आदि जो पाली आदि से मापकर दिया जाता था। ४. परिच्छेद्य—जिसे केवल आँखों से जाँचकर देते थे जैसे—कपड़ा, हीरे-पन्ने, माणिक-मोती आदि जवाहरात।[6] बन्दरगाह तक व्यापारी लोग हाथी, घोड़ा, शकट तथा गाड़ियों पर बैठकर पहुँचते थे। विविध भाषाओं का परिज्ञान न होने पर लोग संकेतों से काम लेते थे। जब तक सौदा पूरा नहीं होता वहाँ तक लोग माल को ढँक कर रखते थे।[7]

उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार गुप्तकाल में भारत का ईरान के साथ अत्यन्त मधुर सम्बन्ध था। शंख, चन्दन, अगर-तगर, रत्न आदि भारत से ईरान में जाते थे और ईरान से मजीठ, स्वर्ण, चाँदी, मूँगे,

१. णायाधम्मकहा, अध्य० ८, ९, १७.
२. आवश्यकचूर्णि, पृ० ७०९.
३. आवश्यकचूर्णि पृ० ६९.
४. णायाधम्मकहा, अध्ययन ९.
५. उपासकदशांग सूत्र ५.
६. (क) णायाधम्मकहा, अध्ययन ८, ९, १७.
(ख) निशीथचूर्णि ५६३२.
७. आवश्यकचूर्णि, पृ० ४२.

मुक्ताएँ प्रभृति अनेक वस्तुएँ भारत में आती थीं।[1] यह भी ज्ञात होता है कि भारत में सोमाली-लैण्ड, बंक्षु प्रदेश, यूनान, सिंहल, अरब, हटगना, फारस प्रभृति देशों से अनेक दास-दासियाँ अन्तःपुर में महारानियों की सेवा के लिए आती थीं।[2] उनके लालन-पालन में बढ़ती हुई सन्तान सहज रूप से वहाँ की भाषाओं से परिचित हो जाते थे। उन्हें भाषाओं के अध्ययन के लिए विशेष श्रम करने की आवश्यकता नहीं होती थी। धाय-माताओं की घूँट के साथ ही भाषा भी उन्हें हृदयंगम हो जाती।

आज के युग की तरह प्राचीन युग में भी विदेशों से जो बहुमूल्य माल आता था, उस माल का (राजस्व) कर न चुकाना पड़े, इसलिए व्यापारीगण राजमार्ग का परित्याग कर बीहड़-पथ पर भी चल पड़ते थे और जब वे पकड़े जाते तो राजागण उन्हें कठोर दण्ड देते थे।[3] इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में सभी ईमानदार व्यक्ति पैदा नहीं होते। लोभ की वृत्ति से मानव अनैतिकता की ओर बढ़ता है।

जैनश्रमण की आचार संहिता अत्यधिक कठिन थी इसलिये वह समुद्र यात्रा नहीं करते थे, पर जैन सार्थवाह और व्यापारीगण व्यापार के क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति करना चाहते थे, इसलिये वे समुद्र-यात्रा किया करते थे। एक बार नहीं, किन्तु अनेक बार वे माल को इधर से उधर आयात और निर्यात करते रहते थे। आगम व व्याख्या साहित्य और स्वतन्त्र कथा-साहित्य में सैकड़ों व्यक्तियों के समुद्र-यात्रा के प्रसंग प्राप्त हैं। उन्हें समुद्री मार्गों का भी विशेष परिज्ञान था। यह सत्य है कि आज के युग की तरह उस युग में वाहन इतने सबल नहीं थे। पवन की प्रतिकूलता से वाहन क्षत-विक्षत भी हो जाते थे, तथापि व्यापारी हिम्मत नहीं हारते थे।

प्रस्तुत कथानक में छह राजाओं का परिचय भी दिया गया है। मल्ली भगवती के युग में राज्य-व्यवस्था कैसी थी? इसका भी इससे पता चलता है। राजाओं के पास चतुरंगिणी सेनायें होती थीं। वे स्वाभिमानी होते थे। उनके अहंकार को जरा सी ठेस पहुँचने पर वे युद्ध के लिए भी

---

१. उत्तराध्ययन टीका, पृ० ६४.

२. अन्तगडदसाओ, बारनेट का अनुवाद, पृ० २८ से २६.

३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र २५२.

सन्नद्ध हो जाते। सभी राजाओं की यही इच्छा रहती कि विश्व में जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, उसके अधिपति हम ही हैं। यही कारण है कि मल्ली भगवती के सौन्दर्य-रस का पान करने के लिए छहों राजा रूपी भँवरे एक साथ मँडराये और अधिकार की भाषा में सभी ने अपना-अपना अधिकार व्यक्त किया।

प्रस्तुत कथानक के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में आज की तरह लड़की माता-पिता के लिए एक समस्या ही थी। यदि लडकी अत्यन्त रूपवान होती तो रूप-लुब्धक व्यक्ति उसे पाने के लिए अपनी जान दाँव पर लगा देते और जब एक से अधिक व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाते तो माता-पिता के लिए गम्भीर समस्या बन जाती थी। यदि वह लड़की सुरूपा नहीं होती तो भी विवाह की समस्या ही बनी रहती। इस तरह दोनों ही प्रकार से लड़की की समस्या रहती थी।

इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में सांस्कृतिक, धार्मिक सामग्री रही हुई है।

प्रस्तुत कथानक के द्वारा इस बात का भी प्रतिपादन किया गया है कि पुरुष जो स्त्री के रूप पर अनुरक्त हो उसे तर्कदृष्टि से प्रतिबोध दिया है। इस प्रकार प्रतिबोध देने की परम्परा प्राचीन कथा साहित्य में अनेक स्थलों पर देखा जा सकती है।[1] बौद्ध साहित्य में भिक्षुणी शुभा की कथा भी इसी 'प्रकार की है।[2] जिसकी चर्चा पृष्ठ ९८ पर की जा चुकी है, इस घटना से यह ध्वनित होता है कि उस युग में नारी का आत्मबल इतना प्रबल रूप से जागृत था कि वह पुरुष की कामना-वासना के प्रवाह को अपने रूप-सौन्दर्य का बलिदान करके भी मोड़ दे सकती थी और उत्सर्ग करने में कभी पीछे नहीं रहती। उत्तराध्ययन[3] में राजीमती ने रथनेमि को वमन के उदाहरण से प्रतिबोधित किया। आख्यानकमणिकोश[4] में रोहिणी की कथा है। रोहिणी, जिस पर एक राजा मुग्ध हो गया था,

१. देखें, पेन्जर; 'द ओसन आफ स्टोरी' भूमिका।
२. जैन, शिवचरणलाल, आचार्य बुद्धघोष और उनकी अट्ठकथाएँ, दिल्ली, १९६९।
३. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २२, गा० ४१-५२
४. आख्यानकमणिकोश, कथानक संख्या १५, पृ० ६१

वह विभिन्न कथाएँ सुनाकर राजा के हृदय को परिवर्तित करती है। रयणचूडरायचरियं[1] में और कथासरित्सागर में इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त करने वाली कथाएँ आई हैं। किन्तु उन सभी कथाओं से मल्लि भगवती की जो कथा है अधिक प्रभावशाली है। इसमें प्रतीक के द्वारा जिस सत्य को उजागर किया है वह अद्भुत और दर्शनीय है। स्वर्ण प्रतिमा का जो रूप है, वह नारी सौन्दर्य को व्यक्त कर रहा है। प्रतिमा के ऊपर छेद पर ढका हुआ कमल बाहरी सौन्दर्य के आकर्षण को व्यक्त करता है। और प्रतिमा के अन्दर आहार की सड़ाँध नारी शरीर के भीतर रही हुई अशुचिता को व्यक्त करती है। साथ ही कमल के नीचे रहने वाले कीचड़ को भी व्यक्त करती है। जिस भयंकर दुर्गन्ध से सभी राजा मुँह फेर लेते हैं और उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। संयम ग्रहण करने वाले साधक की आसक्ति समाप्त हो जाती है और वह सदा के लिए भोगों से विमुक्त हो जाता है।[2]

भगवान् अरिष्टनेमि :

भगवान् ऋषभदेव और मल्ली भगवती ये दोनों तीर्थंकर प्राग् ऐतिहासिक काल में हुए हैं। आधुनिक इतिहासकार भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। क्योंकि कर्मयोगी श्रीकृष्ण को इतिहासकार इतिहास के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र मानते हैं। उसी युग में अरिष्टनेमि का भी प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिए उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच की आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है।[3] "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः" [ऋग्वेद १/१४/८९/६] यहाँ पर 'अरिष्टनेमि' शब्द भगवान् अरिष्टनेमि के लिए प्रयुक्त हुआ है। कितने ही मूर्धन्य मनीषीगणों का यह मन्तव्य है कि 'छान्दोग्योपनिषद्' में भगवान् अरिष्टनेमि का नाम 'घोर आंगिरस' के नाम से आया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा प्रदान की। उसकी दक्षिणा दान, तपश्चर्या, ऋजुभाव,

---

१. रयणचूडरायचरियं, सं० श्री विजयकुमुद सूरि, पृ० ५४

२. तीसे कणगपडिमाए, मत्थयाओतं पउमं अवणेइ।

—धम्मकहाणुओगो, मूल पृ० ४३

३. (क) ऋग्वेद १/१४/८९/६. (ख) ऋग्वेद १/२४/१८०/१०
(ग) ऋग्वेद ३/४/५३/१७. (घ) ऋग्वेद १०/१२/१७८/१.

अहिंसा, सत्यवचन रूप थी।[1] धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'आंगिरस' ऋषि को भगवान् अरिष्टनेमि का ही अपर नाम माना है।[2]

ऋग्वेद,[3] यजुर्वेद[4] और सामवेद[5] में भगवान् अरिष्टनेमि को 'ताक्ष्र्य अरिष्टनेमि' लिखा है। "स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषाः विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्र्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिदधातु"[6]। वेदों में जो अरिष्टनेमि शब्द प्रयोग हुआ है, वह भगवान् अरिष्टनेमि ने लिए है। महाभारत में भी 'ताक्ष्र्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह भी भगवान् अरिष्टनेमि का ही दूसरा नाम होना चाहिए।[7]

यजुर्वेद में लिखा है—'अध्यात्मयज्ञ को प्रगट करने वाले, संसार के भव्य जीवों को यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से आत्मा पवित्र बनती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ'।[8]

डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है—यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम हैं।[9]

'स्कन्दपुराण'[10] में एक प्रसंग है—वामन ने तप किया। तप के दिव्य प्रभाव से प्रभावित होकर शिव ने वामन को दर्शन दिये। शिव उस समय

---

१. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमितिता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३/१७/४.

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ५७.

३. (क) त्यम् षु वाजिनं सहावान तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये ताक्ष्र्यमिहा हुवेम॥
—ऋग्वेद १०/१२/१७८/१.
(ख) ऋग्वेद १/१/१६

४. यजुर्वेद २५/१९. ५. सामवेद ३/९. ६. ऋग्वेद १/१/१६

७. एवमुक्तस्तदा ताक्ष्र्यः सर्वशास्त्र विदांवरः।
विबुध्य संपदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत्॥
—महाभारत, शान्ति पर्व, २८८/४.

८. वाजसनेयि-माध्यंदिनशुक्लयजुर्वेद, अध्याय ९, मंत्र २५, सातवलेकर संस्करण (विक्रम १९८४)

९. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Aristanemi.
—Indian Philosophy, Vol. I, p. 287.

१०. स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड

श्याम वर्ण, अचेल और पद्मासन में बैठे हुए थे। वामन ने उनका नाम 'नेमिनाथ' रखा। ये नेमिनाथ कलिकाल के सभी घोर पापों को नष्ट करने वाले हैं। इनके दर्शन और चरण-स्पर्श से करोड़ों यज्ञ का फल प्राप्त होता है। प्रभासपुराण[1] में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। महाभारत[2] में भी उनकी स्तुति के स्वर प्रस्फुटित हुए हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० रायचौधरी ने 'वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास' में भगवान् अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई लिखा है।[3]

अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में कर्नल टॉड[4] ने लिखा है—मुझे ऐसा ज्ञात होता है, अतीत काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं, उनमें प्रथम आदिनाथ और द्वितीय नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डीनेविया निवासियों के प्रथम ऑडिन तथा चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।

डा० नगेन्द्रनाथ वसु, डा० फुहरर, प्रोफेसर बॉरनेट, मि० कर्वा, डा० हरिदत्त, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार आदि अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक एवं प्रभावशाली महापुरुष माना है।

उनके कल्याण, गर्भ में आने पर माता ने जो चौदह महास्वप्न देखे, उनका उल्लेख है। जन्म, प्रव्रज्या, केवलज्ञान, गणधर, अन्तकृत भूमि और कुमारावस्था में निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख हुआ है।

'वसुदेव हिण्डी', 'चउपन्नमहापुरिस चरियं', त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, नेमिनाह चरिउं, भव-भावना, उपदेशमाला प्रकरण, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, नेमि निर्वाण काव्य, अरिष्टनेमि चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, आदि लगभग सौ से भी अधिक रचनायें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषा में उपलब्ध हैं। जिन रचनाओं में भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन के पावन-प्रसंग उट्टंकित हैं। विशेष जिज्ञासु मेरे द्वारा लिखित 'भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन' ग्रन्थ का अवलोकन करें।[5]

---

१. प्रभास पुराण ४९-५०.
२. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४९, श्लोक ५०-८२.
३. वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास—डा० रायचौधरी
४. अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट-पत्रिका जिल्द २३. पृष्ठ १२२.
५. 'भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन'
—ले० देवेन्द्र मुनि शास्त्री प्रका० तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)

भगवान् अरिष्टनेमि लोकोत्तर महापुरुष थे। जीवन के उषा काल से ही उनमें विरक्ति की भावना अँगड़ाइयाँ ले रही थी। नारी उन्हें पराजित करने के लिए तुली हुई थी। वह हाव-भाव और विलास के द्वारा उनके वैराग्य को विचलित करना चाहती थी। श्रीकृष्ण की महारानियाँ विविध प्रकार की शृंगार चेष्टाएँ कर उन्हें संसार के प्रति आकर्षित करना चाहती थीं। मोह-मुग्ध रानियों की स्थिति पर चिन्तन करते हुए अरिष्टनेमि के मुख पर हल्की सी स्मित रेखा उभरती तो रानियाँ झूम उठतीं अपनी सफलता पर! वे यह कल्पना करतीं कि हमने इनके हृदय को जीत लिया है। पर अरिष्टनेमि तो हिमालय की तरह अडोल थे।

भगवान् अरिष्टनेमि के युग का हम अध्ययन करें तो सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट होगा कि उस युग में क्षत्रियगण मांस और मदिरा के पीछे पागल बने हुए थे। वे उसे अपना गौरव मानते थे। अरिष्टनेमि के विवाह के पावन-प्रसंग पर पशुओं को एकत्रित किया गया। हिंसा की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन-मानस का ध्यान केन्द्रित करने के लिए तथा क्षत्रियों को मांस-भक्षण से विरत करने के लिए वह बिना विवाह किये ही लौट गये। उनका यह लौटना क्षत्रियों के पापों का प्रायश्चित्त था। उसका अद्भुत प्रभाव बिजली की भाँति हुआ। उससे सारा समाज विचलित हो उठा। अरिष्टनेमि के त्याग ने मानव समाज को नया मार्गदर्शन दिया। जो मानव अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे जीवों के जीवन साथ खिलवाड़ करते थे, उन्हें आत्मालोचन की प्रेरणा मिली कि हम किसी भी प्राणी को कष्ट न देंगे। भगवान् अरिष्टनेमि का यह अपूर्व उद्बोधन सभी प्राणियों के लिए वरदान था।

मदिरा ने ही द्वारिका का विनाश किया था। मदिरा के विरोध में अरिष्टनेमि ने जोरदार स्वर बुलन्द किया, जिसके फलस्वरूप द्वारिका में मदिरा-पान बिल्कुल ही बन्द हो गया। अरिष्टनेमि अध्यात्म जगत के तेजस्वी सूर्य थे। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने गौ-पालन पर बल दिया; किन्तु भगवान् अरिष्टनेमि ने सभी प्राणियों की रक्षा पर बल दिया जिसके कारण भारत में अहिंसा की सुरीली स्वरलहरियाँ झंकृत हुईं और वे इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख बहुत ही गौरव के साथ हुआ है।

भगवान् पार्श्वनाथ :

पाश्चात्य और पौर्वात्य सभी मूर्धन्य मनीषी भगवान् पार्श्व को

ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं। वे भगवान् महावीर के जन्म से तीन सौ पचास वर्ष पूर्व जन्मे थे। सर्वप्रथम डा० हरमन जेकोबी ने जैनागमों के साथ ही बौद्ध त्रिपिटकों के आधार पर पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किया है।[1] उसके बाद कॉलब्रुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड टामस, डा० बेलवलकर, दासगुप्ता, डा० राधाकृष्णन,[2] शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मजूमदार, ईलियट, पुसिन आदि विज्ञों ने सप्रमाण यह प्रमाणित किया है कि श्रमण भगवान् महावीर से पूर्व एक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय था, जो बहुत प्रभावशाली था। उस निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रधान नायक पार्श्वनाथ थे। डा० चार्ल्स शार्पेन्टियर का अभिमत है कि हमें इन दो बातों का स्मरण रखना होगा—जैन धर्म निश्चित रूप से महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व निश्चित रूप से एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं। परिणामस्वरूप, मूल सिद्धान्तों की प्रमुख बातें महावीर से पूर्व सूत्र रूप धारण कर चुकी होंगी।[3]

भगवान् पार्श्व के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सूचना श्वेताम्बर आगमों में समवायांग और कल्पसूत्र में मिलती है। समवायांग में पार्श्व के माता-पिता, उनकी दीक्षा नगरी, शिविका, चैत्य वृक्ष और उनके प्रमुख शिष्य एवं शिष्याओं का नाम निर्दिष्ट हुआ है। जीवन वृत्त के क्रम से एक ही घटना उसमें नहीं आई है। नामों के अतिरिक्त पार्श्व के साथ दीक्षा लेने वालों की संख्या, प्रथम तप के दिनों की संख्या बताई है तथा

---

1. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, page 21. "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable,............"

2. Indian Philosophy, Vol. I. p. 287.

3. The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, p. 21 : "We ought also to remember that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

पार्श्व के पूर्वभव का नाम 'सुदर्शन' बताया है। उस भव में वे माण्डलिक राजा थे। मुनि बनने के पश्चात् ग्यारह अंग के ज्ञाता बने।

कल्पसूत्र में पार्श्व का जीवन-वृत्त प्राप्त होता है पर उसमें पार्श्व के पूर्वभवों का कोई उल्लेख नहीं है। पार्श्व के कुशस्थल जाने का, रवि-कीर्ति या प्रसेनजित के सहयोग से कलिंगराज यवन से युद्ध करने का तथा राजकुमारी प्रभावती से विवाह करने का कोई भी वर्णन नहीं है। उसमें कमठ व सर्प की घटना, मेघमाली कृत उपसर्गों का भी वर्णन नहीं है। भगवान् पार्श्व को किस निमित्त से वैराग्य हुआ? उसका भी उसमें उल्लेख नहीं है।

आगम ग्रन्थों के पश्चात् रचित 'चउपन्न महापुरिस चरियं' जिसके रचयिता आचार्य शीलांक हैं और 'सिरि पासनाह चरियं' जिसके रचयिता आचार्य अभयदेव के शिष्य आचार्य देवभद्र सूरि हैं, 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र', जिसके रचयिता आचार्य हेमचन्द्र हैं। इन श्वेताम्बर आचार्यों ने पार्श्वनाथ के कथानक को विकसित किया है।

दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में, महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण में, वादिराज सूरि ने 'पासनाह चरिउ' में भगवान् पार्श्वनाथ के मौलिक प्रसंगों को उट्टंकित किया है। पार्श्वाभ्युदय काव्य, जिसके रचयिता आचार्य जिनसेन है, यह काव्य उत्तरपुराण से भी पहले का है, पर यह काव्य-ग्रन्थ है। इसकी रचना कालिदास के 'मेघदूत' की भाँति हुई है। इस काव्य में "भगवान् पार्श्व" ध्यानावस्था में अवस्थित हैं और शम्बर देव उन्हें उपसर्ग प्रदान करता है, इसका चित्रण हुआ है। किन्तु जीवन वृत्त का परिचायक यह ग्रन्थ नहीं है। 'जिनरत्न कोष'[1] से पता चलता है कि आचार्य मल्लीसेण ने भी महापुराण या त्रिषष्टिशलाका पुराण की रचना की है पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। उसमें भी पार्श्व के जीवन के प्रसंग हैं।

समवायांग में तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नामों का कुल उल्लेख हुआ है, उसका विकसित रूप हमें विमलसूरि रचित 'पउमचरियं' में मिलता है। विमलसूरि ने अन्तिम दो भवों से पहले भव का विवरण प्रस्तुत किया है। सभी तीर्थंकरों के उस भव से सम्बन्धित जन्म, नगरियों के नाम, स्वयं के

१. जिनरत्न कोष, लेखक—हरि दामोदर वेलनकर, पृ० १६२.

नाम, गुरुओं के नाम तथा उनके अग्रिम देवभवों के नाम बताये गये हैं।[1] इस तीसरे भव के अतिरिक्त अन्य किसी पूर्वभव से सम्बन्धित कोई भी विवरण 'पउमचरियं' में नहीं है। समवायांग में चौबीस तीर्थंकरों के नाम आये हैं, उनमें से कुछ ही नाम मिलते हैं, शेष नाम पृथक् हैं। जैसे-- 'समवायांग' में पार्श्व का नाम 'सुदर्शन' है, जबकि 'पउमचरियं' में आनन्द है। समवायांग के "सुदर्शन" नाम का विवरण अन्य किसी भी पार्श्व चरित्र में नहीं मिलता है।

विमलसूरि रचित पउमचरियं के समान ही आचार्य रविषेण ने भी पद्मपुराण में पार्श्वनाथ का विवरण दिया है।

पूर्वभवों का सर्वप्रथम व्यवस्थित उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में 'चउपन्न महापुरिस चरियं' में है तथा दिगम्बर परम्परा में 'उत्तरपुराण' में है। फिर उसके बाद रचित ग्रन्थों में प्रायः उन्हीं का अनुसरण हुआ है।

समवायांग और कल्पसूत्र में पार्श्व का नामकरण किस कारण हुआ? इसकी कोई सूचना वहाँ पर नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम इसके निमित्त की चर्चा की गई है। वहाँ लिखा है—"सप्पं सयणे जणणी तं पासइ तमसि तेण पास[2] जिणो।"

आचार्य हरिभद्र[3] ने प्रस्तुत विषय पर विस्तार से चिन्तन करते हुए लिखा है कि पार्श्व की माता वामा भगवान् के गर्भ में आने पर स्वप्न में नाग देखती है तथा पार्श्वनाथ के दिव्य प्रभाव से अन्धकार में भी सन्निकट में से निकलते हुए सर्प को देखती है, इसलिए भगवान् का नाम 'पार्श्व' रखा गया। आचार्य हेमचन्द्र,[4] भावदेव,[5] विनयविजय[6] जी आदि ने नामकरण में 'पार्श्व' में जाते हुए सर्प को देखा, इसलिए उनका नाम पार्श्व हुआ, ऐसा

---

१. पउमचरियं २०/१-२५. डा० हरमन जेकोबी इसकी रचना तीसरी शताब्दी मानते हैं। ग्रन्थ की प्रशस्ति में रचनाकाल वीर नि० सं० ५३० अर्थात् ई० सन् ३ बताया है। पर सभी विज्ञों में एकमत नहीं।

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०९१.

३. आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्रियावृत्ति, पृ० ५०६.

४. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, ९/३/४३-४४.

५. पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग ५.

६. कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका पृ० २०३.

स्पष्ट उल्लेख किया है। उत्तरपुराण,[1] पासनाहचरिउं[2] प्रभृति ग्रन्थों में इन्द्र ने बालक का नाम 'पार्श्व' रखा, ऐसा उल्लेख है। दिगम्बर ग्रन्थों में सर्प के देखने का उल्लेख नहीं है और न उसका नाम के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है।

पार्श्वनाथ के गृहस्थ जीवन की दो मुख्य घटनाएँ हैं। प्रथम घटना है—कुशस्थलपुर का युद्ध और प्रभावती के साथ विवाह; और दूसरी घटना है—कमठ के साथ विवाद और नाग उद्धार।

कुशस्थलपुर युद्ध के लिए जाने का वर्णन न आगम ग्रन्थों में है और न चउपन्न महापुरिस चरियं में ही है। सर्वप्रथम पद्मकीर्ति रचित पासनाहचरिउ में तथा देवभद्र सूरि रचित पासनाहचरियं में यह वर्णन मिलता है। पर दोनों ग्रन्थों में श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा-भेद होने से कथानक में ही मतभेद होना स्वाभाविक है। आचार्य शीलांक ने कुशस्थलपुर जाने का वर्णन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने प्रभावती के साथ पार्श्व का विवाह होना बताया[3] है। दिगम्बर आचार्य पद्मकीर्ति के अनुसार प्रभावती के साथ पार्श्व का विवाह सम्बन्ध स्वीकृत होता है[4] पर उसी समय कुशस्थलपुर में ही कमठ और नाग की घटना घटित होने से पार्श्व प्रभावती से विवाह न कर वे विरक्त हो जाते हैं।[5] जबकि देवभद्रसूरि ने विवाह होना माना है। पार्श्वनाथ के जितने भी अन्य चरित्र ग्रन्थ हैं, उन सभी में कमठ और नाग की घटना वाराणसी में मानी है। केवल पद्मकीर्ति ने ही वह कुशस्थलपुर में मानी है।

---

१. जन्माभिषेक कल्याण पूजा निर्वृत्यनन्तरम् पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य पितृभ्यां तं समर्पयन्। —उत्तरपुराण ७३/९२, पृ० ४३५.

२. पासनाहचरिउ, पद्मकीर्ति ८/२३/७०.

३. एत्थावसरम्मि य सयलगुणगणालंकियसविसेसीकयरु, वसोहग्गाइसयस्स भय-वओ पसेणइणा अच्चन्तसोहग्गसालिणी पहावती णाम णिययधूया पणामिया। —चउपन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २६१,

४. जोव्वसियइ बहु-गुण कहिउ लग्गु। णरणाहहो तं णिय-चित्ति लग्गु॥
गउ वियसिय-वयणु खणेण तित्थु। अच्छइ धवलहरि कुमारु जित्थु॥
करि लेवि णरिंदे वुत्तु देउ। महु कण्ण परणि करि वयणु एउ॥
पडिवण्णु कुमारे एउ होउ॥ —पासणाहचरिउ, १३/६.

५. पासणाहचरिउ, १३/६-१३,

कमठ-विवाद का प्रसंग सर्वप्रथम हमें चउपन्न महापुरिस चरियं और उत्तरपुराण से प्राप्त होता है। दोनों में अन्तर यही है कि आचार्य शीलांक ने तो अग्नि में जलते काष्ठ में नाग को पीड़ित होते बताया है,[1] जबकि गुणभद्र ने काष्ठ को चीरने पर नाग-नागिन को पीड़ित होते बताया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र[3] ने तथा भावदेव[4] सूरि ने शीलांकाचार्य का अनुसरण किया है। पद्मकीर्ति[5] ने पासनाहचरिउ में केवल एक नाग को ही जलते बताया है, जबकि वादिराज[6] सूरि ने पार्श्वनाथ चरित्र में नागयुग्म का धरणेन्द्र-पद्मावती के रूप में उल्लेख किया है। दोनों ही परम्पराओं के अर्वाचीन ग्रन्थों में नाग-नागिन और धरणेन्द्र पद्मावती का उल्लेख हुआ है। कितने ही लेखकों ने यह लिखा है कि नागिन मरकर धरणेन्द्र की स्त्री पद्मावती देवी बनी।[7] पर स्थानांग,[8] भगवती,[9] ज्ञातासूत्र[10] में धरणेन्द्र नागराज की

१. चउपन्नमहापुरिस चरियं, पृष्ठ २६१
२. उत्तरपुराण ७३/१०१-१०३.
३. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, अँग्रेजी अनुवाद, खण्ड ५, पृ० ३६१-३६२.
४. पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग छठा   ५. पासनाह चरिउ
६. परिणमदनलामपाकजात-श्रम भरितं भुजंग प्रियासमेतम्।
जिनवरविरदयन् स्वाधाम्वा सकलमपास्य तताप तापसस्य ॥८४॥
परिगतदहनं क्षुदस्य देहं भुजगपति भवेन बभूव देवः।
समजनि भुजगी च तस्य देवी-वदलस्कोमल नीलनीरजाक्षी ॥८६॥
पद्मावती च धरणश्च कृतोपकारं तत्काल जातमवधि प्रणिधायबुद्ध्वा।
आनम्र मौलिकविरच्छ विचर्चिताङ्घ्रि मानर्चतुः सुरतरुप्रसवैर्जिनेन्द्रम् ॥८७॥
—श्री पार्श्वनाथ चरितं, सर्ग १०२, श्लोक ८४, ८६, ८७.
७. उत्तरपुराण ७३/११८-११९, पृष्ठ ४३६-४३७.
८. धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ तंजहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणा, इन्दा, घणविज्जुया।
—स्थानांग सूत्र ३५, घासीलाल जी, म० द्वारा सम्पादित, भा० ४, पृ० ३७१.
९. धरणस्स णं भंते! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ? अज्जो! छ अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—१. इला २. सुक्का ३. सतारा ४. सोदामिणी ५. इन्दा ६. घणविज्जुआ।
—भगवती, शतक १०, उद्देशक ५, खण्ड ३ पृष्ठ १०१.
१०. ज्ञातासूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, तृतीय वर्ग, पृ० ६०६. प्रकाशक—तिलोक रत्न स्था० परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी.

१. आला, २. शक्रा, ३. सतेरा, ४. सौदामिनी, ५ इन्द्रा, ६. घनविद्युता, ये छह अग्रमहिषियाँ बताई गई हैं, उनमें पद्मावती का नामोल्लेख नहीं है।

जिस प्रकार इन्द्रों के नाम शाश्वत हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता वैसे ही अग्रमहिषियों के नाम भी शाश्वत हैं। ज्ञातासूत्र के अनुसार वर्तमान में धरणेन्द्र की जो अग्रमहिषियाँ हैं, वे भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में बनी हैं। अग्रमहिषियों की स्थिति अर्धपल्योपम से भी अधिक बताई है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि धरणेन्द्र के पूर्व जो अग्रमहिषियाँ थीं, वे सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ के समय बनी होंगी, इसलिए वे भगवान् पार्श्व के गृहस्थाश्रम तक जीवित थीं।[2]

आचार्य हेमचन्द्र[3] और भावदेव[4] ने भगवान् पार्श्व के शासनदेव का नाम 'पार्श्व यक्ष' दिया है तथा शासनदेवी का नाम 'पद्मावती यक्षिणी' दिया है। कहीं-कहीं पर धरणेन्द्र और पार्श्व ये दोनों एकार्थक रूप में व्यवहृत हुए हैं।[5] लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ[6] तथा हार्ट ऑफ जैनिज्म[7] में भी धरणेन्द्र और पद्मावती को शासनदेव और शासनदेवी माना है। वादिराज सूरि विरचित पार्श्वनाथ चरित[8] तथा बृहद् पद्मावती स्तोत्र[9] में

---

१. णवरं धरणस्स अग्गमहिसित्ताए उववाओ सातिरेगअद्धपलिओवमठिई।
—ज्ञातासूत्र, द्वि० श्रुतस्कंध, २/३/पृ० ६०६

२. समर्थ समाधान, भाग १ला, पृष्ठ ६५.

३. (क) त्रिषष्टि—९/३/पृष्ठ ४८६-४८७. गुजराती।
(ख) अभिधान चिन्तामणि ४३.

४. पार्श्वचरित, सर्ग ७, श्लोक ८२७.

५. श्री पार्श्वचरित सर्ग ६, श्लोक १९०-१९४.

६. लाइफ एण्ड स्टोरीज् ऑफ पार्श्वनाथ, फुटनोट, पृ० ११८, १६७.

७. हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ०३१३.

८. पद्मावती जिनमतस्थितिमुन्नयती, किं नैव तत्सदसि शासनदेवतासीत्।
तस्याः पतिस्तु गुणसंग्रहदक्षचेता, यक्षो बभूव जिनशासनरक्षणज्ञः॥
—श्री पार्श्वनाथ चरितम् १२/४२, पृष्ठ १९३.

९. पातालाधिपति प्रिया प्रणयिनी चिन्तामणि प्राणिनां।
श्रीमत्पार्श्वजिनेश शासन-सुरी पद्मावती देवता॥
—बृहद् पद्मावती स्तोत्र २२.

(प्रकाशक—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, बम्बई)

भी यह वर्णन है। मेरी दृष्टि से लेखकों ने भूल से ऐसा किया है क्योंकि पद्मावती को यक्षिणी और धरणेन्द्र को यक्ष लिखा गया है। यक्ष और यक्षिणी यह वाणव्यन्तर देवों का ही एक प्रकार है।[1] जबकि धरणेन्द्र भवनपति के इन्द्र हैं।[2] इसलिए पद्मावती यक्षिणी उनकी देवी किस प्रकार हो सकती है? वाणव्यन्तर की देवी भवनपतियों की देवी नहीं बन सकती, अतः प्रस्तुत कथन आगमसम्मत नहीं है। आगमज्ञों के लिए चिन्तनीय है।

चउपन्नमहापुरिसचरियं[3] में लिखा है कि एक बार पार्श्वकुमार बावीसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के भीति-चित्रों का अवलोकन कर रहे थे। अवलोकन करते-करते उनके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना जागृत हुई। उत्तरपुराण[4] में लिखा है कि भगवान् पार्श्व जब गृहस्थाश्रम में थे, तब अयोध्या का दूत बाराणसी आया, उस दूत ने भगवान् ऋषभदेव का वर्णन सुनाया, जिससे उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। आचार्य देवभद्र सूरि ने पासनाह चरिउं[5] में शीलांक का ही अनुकरण किया है। पद्मकीर्ति[6] के अभिमतानुसार कमठ और नाग की घटना उनके वैराग्य का निमित्त बनी। आचार्य हेमचन्द्र[7] और बादिराज[8] सूरि ने उनके वैराग्योत्पत्ति का कोई कारण नहीं दिया है। आधुनिक श्वेताम्बर साहित्य में शीलांक का विशेष रूप से अनुसरण हुआ है।

समवायांग और कल्पसूत्र में कमठ कृत उपसर्गों की बिल्कुल चर्चा नहीं है। पर चउपन्नमहापुरिसचरियं,[9] श्री पासनाह चरियं,[10] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[11] में यह घटना आई है।

कमठ तापस मरकर मेघमाली देव बना। विभंगज्ञान से भगवान् पार्श्व को ध्यान मुद्रा में देखकर उसका अहंकार जागृत हो उठा। इसने मुझे पूर्वभव में पराजित किया था। अब मैं इसे पराजित कर अपनी शक्ति प्रदर्शित करूँ। उसने सर्प, बिच्छू आदि के विविध रूप बनाकर भगवान् को

---

१. स्थानांग-समवायांग, पृष्ठ ४५५. २. स्थानांग-समवायांग, पृष्ठ ४८१.
३. चउपन्नमहापुरिस चरियं, पृष्ठ २६३. ४. उत्तरपुराण ७३/१२०-१२४.
५. पासनाह चरिउ १६२. ६. पासनाह चरिउ १३/१२.
७. त्रिषष्टि० ९/३/२३१. ८. पार्श्वनाथ चरित्र ११वाँ सर्ग, श्लोक १-५५.
९. चउपन्नमहापुरिस चरियं २६६. १०. श्री पासनाह चरियं ३/१९१.
११. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र ९/३।

भयंकर यातनायें दीं, किन्तु वे मेरु की तरह अडोल रहे। तब खिसियाकर भयंकर गर्जना करते हुए अपार जल की वृष्टि की की।[1] नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भ० पार्श्व ध्यान से विचलित नहीं हुए।[2] धरणेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से मेघमाली के उपसर्ग को देखा। सात फनों का छत्र बनाकर मेघमाली देव के उपसर्ग का निवारण किया।[3]

भक्ति-भावना से विभोर होकर धरणेन्द्र ने भगवान् की स्तुति की। पर समतायोगी भगवान् पार्श्व न धरणेन्द्र पर तुष्ट हुए और न कमठ के जीव पर रुष्ट ही हुए। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है[4]—

"कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचिते कर्म कुर्वति।
प्रभोस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः॥

धरणेन्द्र के भय से भयभीत बना हुआ मेघमाली प्रभु के चरणों में गिरकर अपने अपराधों की क्षमायाचना करने लगा।

चउप्पन्नमहापुरिस चरियं,[5] सिरिपासनाह चरियं,[6] त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र,[7] पद्मकीर्तिकृत पासनाह चरिउ[8] प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों में विघ्नकर्ता का नाम मेघमालिन् दिया है। उत्तरपुराण,[9] पुष्पदन्त कृत महापुराण और रइधू के पासचरिय में विघ्न उपस्थित करने वाले का नाम 'शम्बर' दिया है। वादिराज[10] ने उसका नाम 'भूतानन्द' लिखा है। आचार्य सिद्धसेन[11] दिवाकर ने लिखा है—हे स्वामिन्! उस शठ कमठ ने जो धूलि आप पर फेंकी, वह धूलि आपकी छाया पर भी आघात नहीं पहुँचा सकी।[12]

---

१. सिरि पासनाह चरियं—देव०, ३/१६२. २. सिरि पासनाह चरियं ३/१६३.
३. (क) चउपन्नमहापुरिस चरियं २६७ (ख) सिरिपासनाहचरियं ३/१६३.
४. त्रिषष्टि० पर्व ६, सर्ग १, श्लोक, २५.
५. चउप्पन्न० २६६.
६. ताव पुव्वत्तकढो, मेहकुमारत्तणेण वट्टंतो! —सिरिपास० ३/१६१
७. त्रिषष्टि० ६/३.
८. तं पेक्खेवि धवलुज्जलु थक्कउ अविचलु मेहमल्लिभडु कुद्धउ।
—पासणाह चरिउ १४/५/११६
९. उत्तरपुराण ७३/१३६-१३७.
१०. श्री पार्श्वनाथ चरित्र १०/८८.
११—१२. कल्याणमन्दिर स्तोत्र ३१.

पद्मकीर्ति[1] के अनुसार भगवान् पार्श्व को जब कमठ उपसर्ग दे रहा था, तब उनको केवलज्ञान हुआ। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार कमठ के उपसर्ग के कुछ दिनों बाद भगवान् पार्श्व को केवलज्ञान हुआ।[2]

समवायांग और कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्व के प्रथम शिष्य 'दिन्न' [आर्यदत्त] हुए तथा प्रथम शिष्या 'पुष्पचूला' हुई।[3] प्रथम श्रावक सुनन्द तथा प्रथम श्राविका सुनन्दा हुई। दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रथम शिष्य का नाम 'स्वयंभू' है और प्रथम शिष्या का नाम 'सुलोका' या 'सुलोचना' है।[4] पद्मकीर्ति के अनुसार प्रथम शिष्या का नाम प्रभावती है।[5]

स्थानांग,[6] समवायांग[7] और कल्पसूत्र[8] के अनुसार भगवान् पार्श्व के आठ गण और आठ गणधर थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. शुभ २. शुभघोष ३. वसिष्ठ ४. ब्रह्मचारी ५. सोम ६. श्रीधर ७. वीरभद्र और ८. यश। आवश्यकनिर्युक्ति[9] आवश्यक[10] मलयगिरी वृत्ति, त्रिष-

---

१. पासणाह चरिउ १४/३०/१३२.

२. भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १०४-१०५
—दे० देवेन्द्रमुनि

३. (क) समवायांग १५७, गा० ३९-४१.
(ख) पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अज्जदिण्णपामोक्खाओ।
—कल्पसूत्र १५७
(ग) पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पुप्फचूलापामोक्खाओसुनन्दपामोक्खाणं.........सुनन्दापामोक्खाणं....। —कल्पसूत्र १५७.
(घ) समवायांग १५७/४२-४.

४. (क) तिलोयपण्णत्ति ४/९६६, पृष्ठ २७१. प्र० भाग
(ख) पासणाह चरिउ १५/१२/१३८.
(ग) तिलोयपण्णत्ति ४/११/८०.

५. तहो दुहिय पहावइ वर-कुमारि। अवयरिय जुवाणहं णाहु मारि। सा अज्जिय संघहो वर-प्रहाण........ —पासणाह चरिउ, १५/१२/१३८.

६. स्थानांग, ६१७.

७. समवायांग ८/८.

८. कल्पसूत्र १५६, पृष्ठ २२३.

९. आवश्यकनिर्युक्ति, गा० २९०.

१०. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्र २०९.

षिटशलाका पुरुष चरित्र,[1] सिरि पासनाह चरिउ,[2] तिलोयपण्णत्ति[3] ग्रन्थों में भगवान् पार्श्व के दस गणधर लिखे हैं। उनके नामों में भी अन्तर है। उदाहरण के रूप में, द्वितीय गणधर का नाम कल्पसूत्र में 'आर्यघोष' है, तो समवायांग में 'शुभघोष' है। कल्पसूत्र में प्रथम गणधर का नाम 'शुभ' है तो श्री पासनाह चरियं में 'शुभदत्त' है। गणधरों की संख्या के सम्बन्ध में उपाध्याय विनयविजयजी[4] ने यह समाधान दिया है कि भगवान् पार्श्वनाथ के दो गणधर अल्प आयुष्य वाले थे, इसलिए समवायांग और कल्पसूत्र में आठ गणधरों का उल्लेख हुआ है। अन्य ग्रन्थों में दस गणधरों का उल्लेख हुआ है।

आवश्यकनिर्युक्ति[5] के अनुसार भगवान् पार्श्व मुख्य रूप से अंग, बंग तथा मगध में विचरे थे। पर भारत के दक्षिण-पश्चिम अंचल को भी उन्होंने स्पर्श किया था। भगवान् पार्श्व ने कर्नाटक से सौराष्ट्र तक एवं अनार्य देशों में भी विहार किया था। सकलकीर्ति[6] की दृष्टि से भगवान् पार्श्व का विहार-क्षेत्र इस प्रकार रहा—कुरु,कौशल, काशी, सुम्ह्, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में उन्होंने विहार किया था। अन्य आचार्यों ने[7] भी इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के विहार का वर्णन किया है। भगवान् पार्श्व शाक्य द्वीप में पधारे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में थी। वहाँ पर पार्श्वनाथ के अत्यधिक अनुयायी गण रहते थे।

---

१. त्रिषष्टि० ६/३.

२. (क) सिरि पासणाह चरियं ४/२०२.
   (ख) पार्श्व चरित्र ५/४३७-४३८.

३. तिलोय पण्णत्ति

४. द्वौ अल्पायुष्कत्वादिकारणान्नोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम्।
—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ० ३०१.

५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा २५६

६. सकलकीर्ति—पार्श्वनाथ चरित्र २३/१८-१९, १५/७६-८५.

७. (क) पार्श्वनाथ चरित, सर्ग १५/७६-८५.
   (ख) त्रिषष्टि०—६/४ पृ० २९३-३०८ (गुजराती अनुवाद)
   (ग) सिरिपासणाहचरियं सर्ग ८

तथागत बुद्ध के चाचा भगवान् पार्श्व के अनुयायी श्रावक थे।[1]प्राचीन काल से भारत और शाक्य प्रदेश में अत्यन्त मधुर सम्बन्ध रहे हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ भगवान् पार्श्व का परिनिर्वाण सम्मेत-शिखर मानते हैं, जो पर्वत आज भी बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में स्थित है और 'पार्श्वगिरी' के नाम से विश्रुत है। उसके निकटस्थ रेलवे स्टेशन का[2] नाम भी पारसनाथ है।

भगवान् महावीर

श्रमण भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त क्रान्तिकारी था। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक मूलभूत समस्याओं का मौलिक समाधान किया था। जिस समय ईरान में जरथोस्त्र, फिलिस्तीन में जारेमिया, तथा ईजकिल, चीन में कन्फ्यूशियस एवं लाओत्से, यूनान में पाइथागोरस, अफलातून और सुकरात आदि विविध चिन्तक अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे, उसी समय भारत में पूरण कश्यप, मंखली गोशालक, अजित केसकम्बली, प्रकुद्ध कात्यायन, संजयविरट्ठीपुत्र, तथागत बुद्ध, आदि विचारक तात्कालिक समस्या का समाधान कर रहे थे।

उस समय वैदिक संस्कृति में उच्छृंखलता, अमानवीयता एवं घन-घोर अहंकार के मद में क्रूरता प्रदीप्त थी। यज्ञ में मूक पशु-पक्षी और निरपराधी नर नारी तथा शिशु समुदाय को समर्पित किया जा रहा था। "यज्ञार्थम् पशवः स्रष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा" तथा "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'— इस प्रकार के अनुचित नारे लगाकर यज्ञ आदि अनुष्ठानों का औचित्य प्रगट किया जा रहा था। जातिवाद एवं वर्णवाद की सीमाएँ अत्यन्त संकीर्ण हो गई थीं। शूद्र वर्ग को पतित माना जाता था। वेदाध्ययन का उसे अधिकार नहीं था। यदि वेद के शब्द उनके कर्ण कुहरों में गिर जाते तो उनके कानों में शीशा भर दिया जाता तथा वेद के शब्दोच्चार होने पर जिह्वा छेदन कर देते थे। इस प्रकार जन-जीवन के साथ खिल-वाड़ की जा रही थी। यज्ञ-हिंसा के साथ जातिगत हिंसा भी कम नहीं थी।

---

१. अंगुत्तरनिकाय की अट्ठ कथा; भाग २, पृ० ५५६.

२. भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन—लेखक देवेन्द्रमुनि 'शास्त्री'

गरीब-अमीर तथा दास और स्वामी आभिजात्य और निम्न वर्गों के बीच गहरी खाई पैदा हो गई थी। सम्पूर्ण समाज में कुण्ठा थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म होता है।

महावीर के जीवन में गर्भापहरण की घटना प्राचीनतम आगम ग्रन्थों में मिलती है।[1] मथुरा में प्राप्त एक प्लेट क्रमांक १८ पर भी डा० बूलर ने "भगवानेमेसो" पढ़ा है, जो भगवान् महावीर के गर्भ-परिवर्तन का सूचक है।[2] कल्पसूत्र में यह घटना विस्तार से निरूपित है। बयासी रात्रि व्यतीत होने पर इन्द्र के आदेश से हरिणैगमेषी देव ने देवानन्दा की कुक्षी से संहरण कर उन्हें त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी में प्रस्थापित किया। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान् महावीर का जन्म हुआ। आचारांग, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आदि प्राचीन साहित्य में महावीर के द्वारा मेरु कम्पन का उल्लेख नहीं है। सर्वप्रथम पउमचरियं में विमलसूरि ने लिखा है– मेरुपर्वत को अपने अंगूठे से क्रीड़ा मात्र भगवान् ने हिला दिया था, इस लिए सुरेन्द्रों ने उनका नाम 'महावीर' रखा।[3] उसके पश्चात् आचार्य शीलांक,[4] आचार्य नेमिचन्द्र,[5] आचार्य गुणचन्द्र[6], आचार्य हेमचन्द्र[7] और कल्पसूत्र की विविध टीकाओं में विस्तार से इस प्रसंग को लिखा है।

विमलसूरि तथा दिगम्बर आचार्य रविषेण इन दोनों ने प्रस्तुत प्रसंग के साथ भगवान् महावीर के नामकरण का सम्बन्ध भी जोड़ा है,

---

१. (क) स्थानांग ७७०.
   (ख) समवायांग ८३.
   (ग) आचारांग २/१५.
   (घ) भगवती, शतक ५, उद्दे० ४.

२. The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, p. 25.

३. आकम्पिओ य जेणं, मेरु अंगुट्ठएण लीलाए।
   तेणेह महावीरो, नामं सि कयं सुरिन्देहिं ॥ —पउमचरियं २/२६ पृ० १०.

४. चउप्पन्न महापुरिस चरियं, २७१ पृष्ठ

५. महावीर चरियं, गा० १-३४, पृष्ठ ३०-३१.

६. महावीर चरियं, गा० १-३ तथा पृष्ठ १२०-१२१.

७. त्रिषष्टि० १०/२/५८-६६.

किन्तु अन्य आचार्यों ने नहीं। पं० सुखलाल जी सिंघवी ने भागवत् में आये हुए श्रीकृष्ण के जीवन के उस प्रसंग के साथ तुलना की है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्र के द्वारा किये गये उपद्रवों से रक्षण करने के लिए योजन प्रमाण गोवर्धन पर्वत को सात दिन तक ऊपर उठाये रखा।[1] किन्तु जन्मते हुए महावीर ने अंगूठे से मेरुपर्वत को कंपा दिया।[2]

बौद्ध परम्परा के मज्झिमनिकाय ग्रन्थ में वर्णन है—भिक्षु मौद्गल्यायन ने वैजयन्त प्रासाद को अंगुष्ठ-स्पर्श से प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित किया।[3] इस तरह मेरु-कम्पन, गोवर्द्धन-धारण एवं प्रासाद-कम्पन की घटनायें उस युग में अपने-अपने आराध्य पुरुषों के सामर्थ्य, पराक्रम और ऐश्वर्य की प्रतीक बन गई थीं। राजा सिद्धार्थ ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। डा० हार्नेल[4], डा० जेकोबी[5] ने अपने लेखों में सिद्धार्थ को राजा न मानकर एक प्रतिष्ठित उमराव व सरदार माना है। उनका यह मानना आगम-सम्मत नहीं है। आचारांग एवं कल्पसूत्र आदि में 'सिद्धत्थे खत्तिए' शब्द का प्रयोग हुआ है, लगता है जिसके कारण उनको यह भ्रम पैदा हुआ हो। क्षत्रिय का अर्थ सामान्य क्षत्रिय ही नहीं, अपितु राजा भी है। अभिधान चिन्तामणि में कहा है—क्षत्रिय, क्षत्र आदि शब्दों का प्रयोग राजा के लिये भी होता है।[6] प्रवचनसारोद्धार में 'महसेणे य खत्तिए' शब्द आया है। वहाँ टीकाकार ने क्षत्रिय का अर्थ राजा किया है।[7]

आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि में वर्णन है—भगवान् महावीर का जन्म होने पर देवों ने स्वर्ण, रत्न आदि सिद्धार्थ राजा के घर

---

१. भागवत, दशमस्कन्ध, अ० ४३, श्लोक २६-२७
२. चार तीर्थकर पं० सुखलाल जी, पृष्ठ ६०.
३. मज्झिमनिकाय, चूलतण्हासंखयसुत्त।
४. 'महावीर तीर्थंकरनी जन्मभूमि' लेख—जैन साहित्य संशोधक, खण्ड १, अंक ४, पृष्ठ २१६.
५. 'जैन सूत्रोनी प्रस्तावना का अनुवाद'—जैन साहित्य संशोधक, खण्ड १, अंक ४, पृष्ठ ७१.
६. क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः।
—अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लोक ५२७.
७. (क) प्रवचनसारोद्धार सटीक पत्र ८४.
(ख) चन्द्रप्रभस्य महासेनः क्षत्रियो राजा।
—प्रवचनसारोद्धार, सटीक पत्र ८४.

पर लाकर रखे तथा जृम्भक देवों ने भी रत्न आदि की वृष्टि की, इसलिए भगवान् का नाम 'वर्धमान' हुआ, ऐसा उल्लेख नहीं है। पर आचारांग,[1] महावीर चरियं[2] चउपन्नमहापुरिस चरियं[3], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[4] आदि के वर्णन से यह स्पष्ट है, कि निरन्तर धन-धान्य की अभिवृद्धि होने से उनका नाम 'वर्धमान' रखा गया। वे किसी भी प्रकार के भय उत्पन्न होने पर भी विचलित नहीं हुए। इसलिए उनका दूसरा नाम 'महावीर' हुआ। आचारांग,[5] कल्पसूत्र,[6] आवश्यकनिर्युक्ति,[7] महावीर चरियं,[8] त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र[9] आदि में भी इसका समर्थन है।

वर्धमान्, महावीर, सन्मति, काश्यप, समण, ज्ञातपुत्र, विदेह, वैशालिक आदि विविध नाम अनेक ग्रन्थों में प्राप्त हैं।[10]

भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वापत्य श्रमणोपासक थे। जीवन की सांध्य वेला में संलेखना सहित आयु पूर्ण कर वे देव बने। आचा

---

१. चूलिका २/१५/१२-१३.

२. (क) महावीर चरियं, गुणचन्द्र, प्र० ४, पृष्ठ ११४-१२४।
(ख) महावीर चरियं ७७०, पृष्ठ ३४, नेमिचन्द्र।

३. चउप्पन्न० पृष्ठ २७१.

४. त्रिषष्टि० १०/२/९८-९९.

५. 'भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परिसहं सहइ त्ति कट्टु, देवेहिं से णामं कयं 'समणे भगवं महावीरे'। —आयारो० आयार० २-१५-१६.

६. अयले भयभेरवाणं परीसहोवसग्गाणं खंतिखए पडिमाणं पालए धीयं अरतिरति सहे दविए वीरियसम्पन्ने देवेहिं से णामं कयं 'समणे भगवं महावीरे'!

७. (क) घोरं परीसहचमुं अधियासित्ता महावीरो। —आवश्यकनिर्युक्ति ४२०
(ख) विशेषावश्यक भाष्य १९७२
(ग) आ० हरिभद्रीय० ५३७

८. महावीर चरियं ४/१२५

९. महोपसर्गैरप्येष न कम्प्यं इति वज्रिणा। महावीर इत्यपरं नाम चक्रे जगत्पतेः॥ —त्रिषष्टि० १०/२/१००

१०. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—ले० देवेन्द्रमुनि "शास्त्री", पृष्ठ २३८-२५८.

रांग तथा कल्पसूत्र में उनके तीन-तीन नाम आये हैं एवं पारिवारिक जनों के नाम भी वर्णित हैं। महावीर वार्षिक दान देकर बड़े ही उल्लास के क्षणों में एकाकी दीक्षित होते हैं।[1] दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। एक संवत्सर से अधिक मास तक भगवान् वस्त्रधारी रहे। उसके बाद वे अचेलक बन गये। उन्होंने नाना प्रकार के अभिग्रह ग्रहण किये। जो भी मनुष्य, देव तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग उपस्थित हुए, उन्हें शान्तभाव से प्रभु ने सहन किये। आचारांग आदि में केवल उपसर्गों का संकेत है किन्तु कौन-कौन से उपसर्ग उन्हें साधना-काल में उपस्थित हुए, इसका किंचित् मात्र भी वर्णन नहीं है। सर्वप्रथम आवश्यनिर्युक्ति एवं आवश्यक चूर्णि आदि में उनके विविध उपसर्गों का क्रमबद्ध वर्णन है। सर्वप्रथम ग्वाला बैल गुम हो जाने से भगवान् को चोर समझकर बैलों को बाँधने की रस्सी से उन्हें मारने दौड़ा। इन्द्र ने, प्रभु से, साथ में रहने की प्रार्थना की, किन्तु महावीर ने उसकी प्रार्थना को यह कहकर टाल दिया कि आत्मसिद्धि या मुक्ति दूसरों के सहारे प्राप्त नहीं हो सकती। शूलपाणि यक्ष ने भी प्रभु को रोमांचकारी कष्ट दिए। प्रथम बार इतने कष्ट एक साथ आये, जिससे उन्हें कुछ थकान महसूस हुई, और भगवान् को दस स्वप्न आये। उन दश स्वप्नों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। ये दस स्वप्न भगवान् के भावी जीवन को प्रतिबिम्बित कर रहे थे।

अंगुत्तरनिकाय[2] में तथागत बुद्ध ने भी अपने साधना काल की अन्तिम रात्रि में पांच स्वप्न देखे, जिनका सम्बन्ध उनके भावी जीवन से था। बुद्ध ने स्वप्न में देखा—मैं एक महापर्यंक पर सोया हुआ हूँ, मैंने हिमालय का उपधान [तकिया] लगा रखा है। बायें हाथ से मैं पूर्वी समुद्र को छू रहा हूँ और दायें हाथ से पश्चिमी समुद्र को स्पर्श कर रहा हूँ। मेरे पैर दक्षिण समुद्र को छू रहे हैं। इस स्वप्न का अर्थ है—मुझे पूर्ण बोधि प्राप्त होगी।[3] बुद्ध ने दूसरे स्वप्न में देखा—"तिर्या" नामक एक वृक्ष उनके हाथ में पैदा हुआ और वह वृक्ष अनन्त आकाश को छूने लगा।

१ आचाराङ्ग २/१५/२६.

२ (क) अंगुत्तरनिकाय २-२४०.

(ख) महावस्तु २/१३६.

३ प्रस्तुत स्वप्न का फल भगवती में उसी जन्म में मोक्ष में मोक्ष-प्राप्ति माना है।

—भगवती १६/६, सूत्र ५८०

इस स्वप्न का फल होगा—मैं अष्टाङ्गिक मार्ग का निरूपण करूंगा। तीसरे स्वप्न में उन्होंने देखा श्वेत कीट, जिसका सिरोभाग काला है, वह कीट मेरे घुटने तक रेंग रहा है। इसका अर्थ है श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों का शरणागत होना। बुद्ध ने चतुर्थ स्वप्न में देखा—रंग-बिरंगे चार पक्षी चार दिशाओं से आ रहे हैं और वे पक्षी चरणों में गिर रहे हैं, गिरते ही वे श्वेत हो जाते हैं। इस स्वप्न का तात्पर्य है—चारों वर्ण वाले लोग मेरे पास दीक्षित-होंगे तथा वे निर्वाण को प्राप्त करेंगे। पांचवें स्वप्न में उन्होंने देखा—वे एक गोमय पर्वत पर चल रहे हैं, उस पर्वत पर वे न तो फिसल रहे हैं और न ही गिर रहे हैं। इस स्वप्न का फल यह होगा कि मैं भौतिक सुख-सुविधाओं के होने पर भी अनासक्त रहूँगा।

भगवान् महावीर ने साधना काल में दस स्वप्न देखे तो बुद्ध ने पाँच स्वप्न देखे। भगवती सूत्र आदि में यह स्पष्ट नहीं है कि वे स्वप्न साधना काल के कौन से वर्ष में देखे ? कुछ लेखकों ने केवलज्ञान के पहले भगवान् महावीर ने दस स्वप्न देखे, यह उल्लेख किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में भगवान् महावीर ने वे स्वप्न प्रथम वर्षावास के सोलहवें दिन देखे, ऐसा स्पष्ट संकेत है।[1] चण्डकौशिक को प्रतिबोध देने की घटना भी आचारांग तथा कल्पसूत्र आदि में नहीं है। आवश्यकचूर्णि[2] महावीर चरियं-नेमीचन्द[3] गुणचन्द्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र,[4] आदि में, चण्डकौशिक को महावीर के द्वारा प्रतिबुद्ध किया गया, यह वर्णन है। विनयपिटक महावग्ग में बुद्ध के द्वारा चण्डनाग विजय का उल्लेख है।[5] दोनों घटनाओं में बहुत कुछ समानता है। तथागत बुद्ध एक बार काश्यपजटिल के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने कहा—काश्यप ! मैं तुम्हारी अग्निशाला में निवास करना चाहता हूँ। काश्यप उरुवेल ने सनम्र निवेदन किया—भगवन् ! मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किंतु वहाँ पर अत्यन्त चण्ड, दिव्य शक्तिसम्पन्न आशीविष नागराज रहता है, जो आपको कहीं कष्ट न दे ! तथागत बुद्ध ने उत्तर में कहा—वह नाग मुझे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देगा। बहुत बार कहने

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ २६६.

२ आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ २७८.

३ महावीर चरियं—नेमीचन्द्र ६६३—गुणचन्द्र ५/१४६

४ त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १०/३/२२५-२२८

५ विनयपिटक महावग्ग, महाखंधक !

पर पुरुवेल ने बुद्ध को वहाँ रहने की स्वीकृति प्रदान की। बुद्ध अपना आसन लगाकर वहाँ बैठ गये। नागराज बुद्ध को देखकर बहुत ही क्रुद्ध हुआ। वह जहरीला धुआँ उगलने लगा। बुद्ध ने अपने विशिष्ट योगबल से नागराज के चर्म, माँस, अस्थि, मज्जा को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये उसका सारा तेज खींच लिया। प्रातः उसे अपने पात्र में रखकर पुरुवेल काश्यप को दिखाते हुए कहा—अब यह नागराज पूर्णरूप से निर्विष हो गया है। यह नागराज अब किसी को भी क्षति नहीं पहुँचायेगा। भगवान् महावीर ने चण्डकौशिक नाग का उद्धार किया तो तथागत बुद्ध ने चण्डनाग पर विजय पताका फहराई। घटना समान होने पर भी दोनों की क्रिया और शैली में अत्यधिक अन्तर है। महावीर की घटना अधिक प्रभावोत्पादक है। महापुरुष स्नेह, सद्भावना, प्रेम, करुणा और अहिंसा का अमृत बाँटते हैं। वे राग, द्वेष, ईर्ष्यारूपी नागों के भयंकर विष से स्वयं तो मुक्त होते ही हैं और विश्व को भी अभय बनाते हैं।

संगमदेव ने भगवान् महावीर को एक रात्रि में बीस भयंकर उपसर्ग दिये और उसके पश्चात् भी वह छह माह तक प्रभु के साथ रहकर उन्हें भयंकर कष्ट देता रहा, किन्तु भगवान् को वह विचलित न कर सका। यह प्रसंग भी आचारांग और कल्पसूत्र आदि में नहीं है। किन्तु आवश्यक निर्युक्ति,[1] विशेषावश्यकभाष्य[2] आदि अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह प्रसंग मिलता है।

एक बार भगवान् महावीर ने घोर अभिग्रह ग्रहण किया—'द्रव्य से—उड़द के बाकुले हों, शूर्प के कोने में हों, क्षेत्र से—दाता का एक पैर देहली के अन्दर व एक बाहर हो, काल से—भिक्षाचरी की अतिक्रान्त वेला हो, भाव से—राज्यकन्या हो, दासत्व प्राप्त हो, शृंखला-बद्ध हो, सिर से मुण्डित हो, तीन दिन की उपोसित हो, ऐसे संयोग में मुझे भिक्षा लेना है, अन्यथा छह मास तक मुझे भिक्षा नहीं लेना है।'[3]

कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर भगवान् महावीर कोशाम्बी की झोंपड़ियों से लेकर उच्च अट्टालिकाओं में पधारते, पर बिना कुछ लिये ही

१ आवश्यकनिर्युक्ति ३८०
२ विशेषावश्यकभाष्य १९३२
३ आवश्यकचूर्णि ३१६-३१७

लौट जाते। पाँच मास और पच्चीस दिन व्यतीत हो जाने पर भी उनकी मुख-मुद्रा उसी तरह तेजोदीप्त थी। अन्त में चन्दनबाला के हाथ से भगवान् का अभिग्रह पूर्ण हुआ।[1]

भगवान् महावीर के साधनाकाल में प्रविष्ट होते ही प्रथम उपसर्ग भी ग्वाले ने दिया था एवं अन्तिम उपसर्ग भी ग्वाले के द्वारा दिया गया। ग्वाले ने भगवान् महावीर के कानों में कीलें (कांस्य की तीक्ष्ण शलाकाएँ) ठोंकी। उन शलाकाओं को कोई न देख ले, अत: उनका बाह्य भाग छेद दिया। प्रभु को अत्यधिक वेदना होने पर भी वे पूर्ण शान्त एवं प्रसन्न थे। खरक वैद्य ने जब भगवान् ध्यानस्थ थे, तब शरीर पर तेल का मर्दन किया और संडासी से पकड़कर शलाकायें निकालीं। कानों से रक्त की धारा प्रवाहित हुई। वैद्य ने 'संरोहण' औषधि से रक्त को बन्द कर दिया।[2] भगवान् महावीर को जो शताधिक उपसर्ग प्राप्त हुए, उन सभी उपसर्गों में यह उपसर्ग सबसे बड़ा था।[3] ग्वाले की तीव्र अशुभ भावना होने से वह मरकर सातवीं नरक में गया और वैद्य खरक की प्रशस्त भावना होने से वह देवलोक का अधिकारी बना।[4]

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर का तपःकर्म अधिक उत्कृष्ट था।[5] बारह वर्ष और तेरह पक्ष की लम्बी अवधि में केवल तीन सौ उनपचास (३४९) दिन भगवान् ने आहार ग्रहण किया और शेष दिन निर्जल और निराहार रहे।[6]

---

१ आवश्यकचूर्णि ३१९

१ आवश्यकचूर्णि ३२२

३ (क) अहवा जहन्नगाण उवरि कडपूयणासीतं, मज्झियाण काल-चक्कं, उक्कोसगाण उवरि सल्लुद्धरणं! —आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ३२२

(ख) महावीर चरियं ७/२५०

४ एवं गोवेण आरद्धा उवसग्गा गोवेण चेव निट्ठिता। गोवो सत्तमिगतो, खरतो य दियलोगं तिव्वमपि उदीरतं तावि सुद्धभावा।

—आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ३२२

५ उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स। —आवश्यकनिर्युक्ति

६ (क) तिण्णि सत्ते दिवसाणं अउणापण्णे य पारणाकालो उक्कुडुअणि सेज्जाणं ठितपडिमाणं सते बहुए। —आवश्यकनिर्युक्ति ४१७

(ख) विशेषावश्यकभाष्य १९६९

संक्षेप में भगवान् महावीर का तपःकर्म इस प्रकार रहा[1]—

एक छः मासी तप	नौ चातुर्मासिक
एक पांच दिन न्यून छः मासी	दो त्रिमासिक
दो सार्धद्विमासिक	एक महाभद्र प्रतिमा (चार दिन)
छह द्विमासिक	एक सर्वतोभद्र प्रतिमा (दस दिन)
दो सार्धमासिक	दो सौ उनतीस छट्ठभक्त
बारह मासिक अर्थात् एक-एक मास का तप (१२ मासखमण किये)	बारह अष्टभक्त
बहत्तर पाक्षिक	तीन सौ उनपचास दिन पारणे के
एक भद्र प्रतिमा (दो दिन)	एक दिन दीक्षा का।

आचारांग सूत्र के अनुसार भगवान् महावीर ने दशमभक्त आदि तपस्यायें भी की थीं।[2]

कुल मिलाकर भगवान् महावीर ने अपने साधक जीवन के ४५१५ दिनों में से केवल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया तथा ४१६६ दिन निर्जल तपश्चरण किया।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर की विहार-चर्या का सजीव निरूपण है। भगवान् महावीर की तप के साथ ध्यान-साधना अनुस्यूत थी। भगवान् एक-एक प्रहर तक तिरछी भीत पर आँखें गड़ाकर ध्यान करते थे। **"तिरिय भित्ति चक्खुमासज्ज अंतसो झाति"** यहाँ पर जो **'तिरियभित्ति'** शब्द आया है, वह चिन्तनीय है। आचार्य अभयदेव ने भगवती में **'तिर्यग्-भित्ति,** का अर्थ प्राकार, वरण्डिका आदि की भींत अथवा पर्वतखण्ड किया

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ४०९-४१९
(ख) विशेषावश्यकभाष्य १९६१ से १९६८
(ग) आव. हरिभद्रीयावृत्ति २२७-२२८
(घ) आवश्यक मल. वृत्ति २९८-२९९
(ङ) महावीर चरियं (गुणचन्द्र) ७/२५०
(च) त्रिषष्टि० १०/४/६५२-६५६.

२ छट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेण।
दुवालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने॥
—आचारांग १/९/४/७

है ।[1] बौद्ध साहित्य में भी वर्णन है कि साधक भित्ति पर दृष्टि टिका कर ध्यान करे । जब भगवान् तिर्यक्भित्ति पर दृष्टि जमाकर ध्यान करते थे तब उनकी आँखों की पुतलियाँ ऊपर उठ जाती थीं, जिन्हें निहार कर बालकों की मण्डली भयभीत हो जाती थी, और वह बच्चों की टोली मिलकर इस प्रकार चिल्लाती कि अन्य सामान्य साधक ध्यान नहीं कर पाता पर भगवान विघ्न उपस्थित होने पर भी ध्यान में मग्न रहते ।[2] भगवान् महावीर एकान्त स्थान न मिलने पर जब गृहस्थों तथा अन्यतीर्थिकों के संकुल स्थान पर ठहरते तो उनके अद्भुत रूप-यौवन को देखकर कामातुर स्त्रियाँ उनसे प्रार्थना करतीं और ध्यान में विघ्न डालतीं ।[3] महावीर अब्रह्म का सेवन न कर ध्यान में लीन रहते थे । कई बार विविध प्रकार के प्रश्न पूछकर लोग उनके ध्यान में विघ्न डालते, पर भगवान् किसी से कुछ नहीं कहते थे । यदि एकान्त स्थान मिल जाता तो महावीर वहाँ चले जाते और न मिलता तो भीड़-संकुल स्थान में भी अपने आपको एकाकी बनाकर ध्यानस्थ रहते ।[4] जो भगवान् को अभिवादन करते तो भी महावीर आशीर्वाद प्रदान नहीं करते थे । कुछ अभागों ने प्रभु को डण्डों से पीटा, उन पर पागल कुत्ते छोड़े तो भी उन्होंने शाप नहीं दिया । समौन रहकर ध्यान में मग्न रहे । यह स्थिति सामान्य साधक के लिए बहुत ही कठिन थी । वीणावादकों ने भगवान् से कहा—जरा ठहरो ! हमारा वीणावादन सुनकर आगे बढ़ो । कितने ही नृत्य-संगीत, दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि मनोरंजक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए निवेदन करने पर भगवान् प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों को ध्यान में विघ्न समझकर उनसे विरत रहते तथा अपने ध्यान में स्थित रहते ।[5]

भगवान् महावीर की संयमसाधना के मुख्य आठ अंग थे—शरीरसंयम, मनसंयम, आहारसंयम, वासस्थानसंयम, इन्द्रियसंयम, निद्रासंयम, क्रिया-संयम और उपकरणसंयम । विविध प्रकार के आसन, त्राटक आदि सहज-योग की क्रियाओं से शरीर को सुस्थिर, सन्तुलित, मोह-ममता

---

१ भगवती सूत्र वृत्ति पत्र ६४३-६४४
२ आचारांग—शीला० टीका, पत्र ३०२
३ आचारांग—शीला० टीका, पत्र ३०२
४ आचारांग—शीला० टीका, पत्र ३०२
५ आयारो—मुनि नथमल, पृ० ३४३

रहित, स्फूर्तिवान रखने का प्रयास करते। भगवान् की निद्रा संयम-विधि अद्भुत थी। वे ध्यान के द्वारा निद्रा संयम करते थे। निद्रा पर विजय प्राप्त करने के लिए वे कभी खड़े होते, कभी चंक्रमण करते। वे ऐसा उपाय करते, जिससे निद्रा उन्हें परेशान नहीं करे।[1]

भगवान् को वास-स्थानों में प्रायः ये उपसर्ग सहन करने पड़ते। कभी सांप, नेवला उन्हें काटते, कभी गिद्ध आदि पक्षी उनका मांस नोंचते, कभी चींटी, डांस, मच्छर, मक्खी आदि उन्हें संत्रस्त करते, कभी शून्य गृह में तस्कर व लम्पट पुरुष उन्हें सताते, कभी सशस्त्र ग्रामरक्षक उन पर आक्रमण करते, कभी कामासक्त ललनाएँ हाव-भाव-कटाक्ष द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करतीं, कभी देव, मानव एवं तिर्यंचों के विविध उपसर्ग उपस्थित होते और कभी एकाकी समझकर भगवान् को विविध प्रकार के ऊटपटांग प्रश्न पूछकर ध्यान से विचलित करने का प्रयास करते।[2]

भगवान् को ठहरने के लिए कभी भयंकर दुर्गन्ध-युक्त स्थान मिलता, कभी ऊबड़-खाबड़ विषम स्थान मिलता। कभी बन्द स्थान के अभाव में सर्दी का प्रकोप उन्हें परेशान करता। इस प्रकार साढ़े बारह वर्ष तक अहर्निश यत्नशील, अप्रमत्त होकर भगवान् महावीर ध्यानस्थ रहे।

आवश्यकचूर्णि के अनुसार भगवान् महावीर ने चिन्तन किया कि मुझे बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है, अतः लाढ़ देश की ओर जाऊँ, जिससे अधिक कर्म-निर्जरा के निमित्त उपलब्ध होंगे। ऐसा विचारकर भगवान् लाढ़ प्रदेश में पधारे। ऐतिहासिक अन्वेषणा के आधार पर यह पता चला है कि वर्तमान में वीर-भूम, सिंहभूम तथा मान-भूम (धनबाद आदि जिले) एवं पश्चिम बंगाल के तमलूक, मिदनापुर, हुगली तथा वर्धवान जिले का हिस्सा लाढ़ देश माना जाता था। लाढ़ देश पर्वतों, झाड़ियों और सघन जंगलों के कारण अत्यन्त दुर्गम था। उस प्रदेश में घास अत्यधिक होती थी। चारों ओर पर्वतों से घिरा होने के कारण सर्दी और गर्मी वहाँ अधिक पड़ती थी। वर्षा ऋतु में पानी अधिक होने से दलदल हो जाती, जिससे डांस, मच्छर जलौका प्रभृति अनेक जीव-जन्तु पैदा हो जाते थे।

---

१ आचारांग—शीला० टीका, पत्र ३०७-३०८

२ आचारांग—शीला० टीका, पत्र ३०७

यहाँ नगर कम थे और गाँवों में बस्ती भी कम थी। वहाँ के लोग असभ्य थे। साधु को देखते ही उन पर टूट पड़ते। वहाँ पर तिल भी नहीं थे और गायें भी बहुत कम थीं। इसलिए घी, तेल सुलभ नहीं था। लोग रूखा-सूखा खाते थे, अतः वे स्वभाव से भी रूखे थे।[1] बात-बात में उत्तेजित होकर गाली देते, झगड़ा करते। वहाँ पर कुत्तों का अधिक उपद्रव था, वे कुत्ते बड़े खूँखार थे। अन्यतीर्थिक भिक्षु उनसे बचने के लिए लाठी और डण्डा रखते थे, पर भगवान् पूर्ण अहिंसक थे। उनके पास लाठी आदि नहीं थी, इसलिए वे निःशंक होकर भगवान् पर हमला करते, कितने ही अनार्य तो छू-छू करके कुत्तों को बुलाते तथा भगवान् को काटने के लिए उकसाते।[2] दुष्कर और दुर्गम परीषह एवं उपसर्गों को भगवान् महावीर शान्ति से सहन करते।

जिन साधकों की चेतना का स्तर निम्न होता है, उन्हें शारीरिक कष्टों की अनुभूति अधिक होती है। किन्तु भगवान् महावीर की चेतना का स्तर बहुत ही उच्च था। वे चाहे जितना कठोर तप करते लेकिन साथ में समाधि का सतत् प्रेक्षण करते रहते। वे जिस किसी भी क्रिया को करते, उसमें पूर्णतया तन्मय हो जाते। न अतीत की स्मृति सताती और न भविष्य की कल्पना ही परेशान करती। वे केवल वर्तमान में रहकर ही उस क्रिया को सर्वात्मना समर्पित होकर करते। वे जब चलते थे तो इधर-उधर झांकते भी नहीं थे और न अन्य बातों पर चिन्तन ही करते। वे जब खाते थे तो खाते ही थे, स्वाद की ओर ध्यान नहीं देते और न बातचीत ही करते। वे इतने अधिक आत्म-विभोर थे कि उन्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की कोई भी अनुभूति नहीं होती। उनकी चेतना की समग्र धारा आत्मा की ओर प्रवाहित थी। इस प्रकार भगवान् महावीर की साधना का रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

साढ़े बारह वर्ष के सुदीर्घकाल की साधना के पश्चात् भगवान् को केवलज्ञान एवं केवलदर्शन का दिव्य आलोक प्राप्त हुआ। भवनपति वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों ने आकर कैवल्य-महोत्सव उल्लास के क्षणों में सम्पन्न किया।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ३१८

२ आचारांग—शीलांकाचार्य टीका, पत्र ३१०-३११

औपपातिक सूत्र में आये हुए भगवान् महावीर के शरीर का शब्द-चित्र भी इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट है और साथ ही भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमणों का भी निरूपण हुआ है। प्रभु महावीर ने एक मास बीस रात्रि व्यतीत होने पर वर्षावास पर्युषणा की। भगवान के जिन-जिन क्षेत्रों में वर्षावास सम्पन्न हुए, उनकी सूची भी प्रस्तुत ग्रन्थ में दी गई है। उनका परिनिर्वाण, अन्तिम उपदेश, 'गौतम को केवलज्ञान, नव मल्लवी, नव लिच्छवी राजाओं के द्वारा किये गये पौषध और द्रव्य-उद्योत का भी निरूपण हुआ है। निर्वाण के पश्चात् भस्मग्रह और उसका प्रभाव, महावीर का शिष्य समुदाय, महावीर के आठ राजा शिष्य हुए थे, महावीर के समय तीर्थंकर नामकर्म का नौ व्यक्तियों ने अनुबन्धन किया था। उनके तीर्थ में नौ प्रवचन निन्हव हुए थे। इस प्रकार आगम साहित्य में आये हुए महावीर चरित्र को प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित किया गया है। महावीर के तेजस्वी व्यक्तित्व को समझने के लिए उपर्युक्त प्रसंग अत्यन्त उपयोगी हैं।

महापद्म-चरित्र

सम्राट श्रेणिक महावीर प्रभु के परम भक्त थे। उन्होंने भगवान् महावीर के तीर्थ में तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्धन किया था। वे नरक से निकलकर आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर पद को प्राप्त करेंगे। उनका रत्नों की वर्षा होने के कारण पिता ने 'महापद्म' नाम रखा। दूसरा नाम 'देवसेन' और तीसरा नाम 'विमलवाहन' रखा गया। तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहकर वे श्रमण बनेंगे। कुछ अधिक बारह वर्ष तक उपसर्गों को सहन कर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। वे पच्चीस भावना सहित पाँच महाव्रतों का तथा षट्जीवनिकाय का उपदेश देंगे। भगवान् महावीर की तरह ही उनके भी नौ गण तथा ग्यारह गणधर होंगे। उनकी बहत्तर वर्ष की आयु होगी। महापद्म तीर्थंकर के समय आठ राजा दीक्षित होंगे। इस प्रकार महापद्म का चरित्र विस्तार के साथ निरूपित है।

स्थानांग और समवायांग में आये हुए विविध तीर्थंकरों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएँ भी इसमें दी गई हैं।

भरत-चक्रवर्ती

भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे, जिनके नाम पर ही 'भारतवर्ष' का नामकरण हुआ है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भरत-चक्रवर्ती का वर्णन करते हुए लिखा है—भरत-चक्रवर्ती और देव के नाम से 'भारतवर्ष'

नामकरण हुआ। वसुदेव हिण्डी[1] में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। वायु पुराण[2], ब्रह्माण्ड पुराण[3], आदि पुराण[4], वाराह पुराण[5], वायु पुराण[6], लिंग पुराण[7], स्कन्द पुराण[8], मार्कण्डेय पुराण[9], श्रीमद् भागवत पुराण[10], आग्नेय पुराण[11], विष्णु पुराण[12],

---

१ वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८६

२ वायुपुराण ४५/७५ ३ ब्रह्माण्डपुराण, पर्व २/१४

४ प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भराबन्धुता तदा, तमाह् भरतं भावि समस्त भरताधिपम् ।
तन्नाम्ना भारतंवर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदं, हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्र भृतामिदं
—आदिपुराण पर्व १८/१५८-५९

५ नाभेर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयनृषभ नामानं तस्य भरतो पुत्रंच तावदग्रजः तस्य भरतस्य
पिता ऋषभः—हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षमहद् भारतं नाम शशास ।
—वाराहपुराण ७४/४९

६ हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः । —वायुमहापुराण ३३/५२

७ हिमाद्रे दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।। —लिंगपुराण ४६/२४

८ नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।।
—स्कन्द पुराण, कौमारखण्ड ३७/५७

९ हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।। —मार्कण्डेयपुराण ५०/४१

१० (क) येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः ।
आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।।
(ख) अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य दिशन्ति ।
—श्रीमद्भागवतपुराण ५/४

११ भरताद् भारतं वर्षं । —आग्नेयपुराण १०७/१२

१२ ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः ।
तस्य राज्यं स्वधर्मेण तथेष्टं वा विविधान् मखान् ।
अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथ्वीपतिः ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ ।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
—विष्णुपुराण, अंश २, अ० १/२८-२९/३२

कूर्मपुराण,[1] शिवपुराण[2], नारदपुराण[3] प्रभृति ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से संकेत है कि ऋषभपुत्र भरत के नाम से ही प्रस्तुत देश का नामकरण 'भारतवर्ष' हुआ। पाश्चात्य विद्वान श्री जे० स्टीवेन्सन[4] का भी यही अभिमत है और प्रसिद्ध इतिहासज्ञ गंगाप्रसाद एम० ए०[5] व रामधारीसिंह दिनकर[6] का भी यही मन्तव्य है।

भरत महान् प्रतिभा सम्पन्न, प्रतापशाली एवं परम यशस्वी सम्राट थे। अन्य सम्राटों का जीवन जहाँ भौतिक दृष्टि से महान् होता है, वहाँ भरत चक्रवर्ती भौतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी महान् थे। जिस दिन भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान हुआ, उसी दिन भरत की आयुधशाला में चक्र-रत्न उत्पन्न हुआ। ये समाचार सुनकर उन्होंने मुकुट के अतिरिक्त अन्य सारे पहनने के आभूषण आयुधशाला के रक्षक को प्रदान किये। पहले उन्होंने भगवान को वन्दन कर केवलज्ञान महोत्सव मनाया उसके पश्चात् स्वयं आयुधशाला में जाकर चक्ररत्न को प्रणाम किया एवं अष्टाह्निका महोत्सव मनाया। एक हजार देवों से सुसेवित चक्र-रत्न आकाश-मार्ग से चलकर विनीता नगरी के मध्य भाग में होता हुआ गंगा के दक्षिणी तट से मागधतीर्थ की ओर बढ़ा। चक्र-रत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर भरत चक्रवर्ती पीछे

---

१ ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथ्वीपतिः॥ —कूर्मपुराण ४१/३८

२ खण्डानि कल्पयामास नवान्यपि हिताय च।
तत्राऽपि भरते ज्येष्ठं खण्डेऽस्मिन् स्पृहणीयके।
तन्नाम्ना चैव विख्यातं खंडं च भारतं तदा।
सर्वेष्वपिचरखंडेषु श्रेष्ठं भरतमुच्यते॥ —शिवपुराण ५२/८५

३ आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो, भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं, भारतं खण्डमुच्यते॥ —नारदपुराण ४८/५

४ Brahmanical puranas prove Rishabha to be the father of that Bharat, from whom India took to name "Bharatvarsha."
—Kalpasutra Introd., P. XVI.

५ ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा। —प्राचीन भारत, पृष्ठ ५

६ भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।
—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३९

चले। मागध तीर्थ पर जाकर उन्होंने लवण समुद्र में प्रवेश किया और बाण छोड़ा। नामांकित बाण बारह योजन की दूरी पर मागध तीर्थाधिपति देव के वहाँ गिरा। पहले वह क्रुद्ध हुआ पर भरत चक्रवर्ती नाम पढ़कर वह उपहार लेकर पहुँचा। इस तरह चक्र-रत्न के पीछे चलकर वरदाम तीर्थ कुमार देव को अधीन किया, उसके बाद प्रभास कुमार देव, सिन्धु देवी, वैताढ्यगिरि कुमार, कृतमालदेव आदि को अधीन करते हुए भरत सम्राट ने षट्खण्ड पर विजय-वैजयन्ती फहराई।

चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न और नौ निधियाँ होती हैं। चौदह रत्न इस प्रकार हैं—

१. **चक्र-रत्न**—यह आयुधशाला में उत्पन्न होता है। सेना के आगे प्रयाण करता हुआ चक्रवर्ती को षट्खण्ड साधने का मार्ग दिखाता है। चक्रवर्ती उसकी सहायता से शत्रु का शिरच्छेदन भी कर सकता है।

२. **छत्र-रत्न**—यह रत्न बारह योजन लम्बा और चौड़ा होता है। छत्राकार के रूप में सेना की सर्दी, वर्षा एवं धूप से रक्षा करता है। छत्री की भाँति उसको समेटा भी जा सकता है।

३. **दण्ड-रत्न**—यह विषम मार्ग को सम बनाता है। वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खोलकर उत्तर भारत की ओर चक्रवर्ती को पहुँचाता है। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वृषभाचल पर्वत पर नाम लिखने का कार्य भी यह रत्न करता है।

४. **असि-रत्न**—यह रत्न पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा एवं आधा अंगुल मोटा होता है। अपनी तीक्ष्ण धार से यह रत्न दूर में रहे हुए शत्रुओं को भी नष्ट कर डालता है।

५. **मणि-रत्न**—सूर्य और चन्द्रमा की तरह यह रत्न अन्धकार को नष्ट करता है। इस रत्न को मस्तक पर धारण कर लेने से मनुष्य, देव तथा तिर्यंच कृत उपसर्ग नहीं होता है। हस्तिरत्न के दक्षिण कुम्भ स्थल पर रख देने से अवश्यमेव विजय होती है।

६. **काकिणी-रत्न**—यह रत्न चार अंगुल प्रमाण का होता है। इस रत्न से चक्रवर्ती वैताढ्य पर्वत की गुफा में उन पचास मण्डल बनाते हैं। एक-एक मण्डल का प्रकाश एक-एक योजन तक फैलता है और इसी रत्न से चक्रवर्ती ऋषभकूट पर्वत पर अपना नाम अंकित करते हैं।

७. **चर्म-रत्न**—दिग्विजय के समय नदियों को पार कराने में यह रत्न नौका के रूप में बन जाता है और म्लेच्छ (अनार्य) नरेशों के द्वारा जल-वृष्टि कराने पर यह रत्न सेना की सुरक्षा करता है।

८. **सेनापति-रत्न**—यह सेना का प्रमुख होता है। वासुदेव के समान शक्तिसम्पन्न होता है। वह चार खण्डों पर विजय करता है।

९. **गाथापति-रत्न**—यह रत्न चक्रवर्ती की सेना के लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था करता है। दिगम्बर ग्रन्थों में गाथापति रत्न को गृह-पति-रत्न कहा है। उसका नाम है—कामवृष्टि गृहपति रत्न।

१०. **वर्धकी-रत्न**—यह चक्रवर्ती की सेना के लिए आवास-व्यवस्था करता है। उन्मग्नजला, निमग्नजला आदि नदियों पर पुल बाँधने का काम भी यह रत्न करता है।

११. **पुरोहित-रत्न**—यह ज्योतिषशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, निमित्तशास्त्र, लक्षण और व्यंजन आदि का पूर्ण ज्ञाता होता है। दैवी उपद्रवों को शान्त करता है।

१२. **स्त्री-रत्न**—यह सर्वांग सुन्दरी होती है। सदा युवती बनी रहती है। इसे तीव्र भोगावली कर्म का उदय होता है। इसके प्रति चक्र-वर्ती का अत्यधिक राग होता है।

१३. **अश्व-रत्न**—यह श्रेष्ठ अश्व एक क्षण में सौ योजन लांघ जाने की शक्ति रखता है। कीचड़, जल, पहाड़, गुफा, आदि विषम स्थलों को भी सहज पार कर जाता है। भरत चक्रवर्ती के अश्व-रत्न का नाम 'कमलापीड़' था।[1]

१४. **हस्ति-रत्न**—यह ऐरावत हाथी की तरह सर्वगुणसम्पन्न होता है।

प्रत्येक रत्न के एक-एक हजार देव रक्षक होते हैं। चौदह रत्नों के चौदह हजार देवता रक्षक थे। वैदिक साहित्य में भी चौदह रत्नों के नाम प्राप्त होते हैं।

---

१ (क) त्रिषष्टि १/४
(ख) ठाणांग सूत्र, ठाणा ७
(ग) समवायांग सूत्र, समवाय १४

वैदिक-साहित्य के चौदह रत्न

१. हाथी २. घोड़ा ३. रथ ४. स्त्री ५. बाण ६. भण्डार ७. माला ८. वस्त्र ९. वृक्ष १० शक्ति ११. पाश १२. मणि १३ छत्र और १४. विमान।

चक्रवर्ती की नव निधियाँ[1]

सम्राट भरत के पास नौ निधियाँ थीं जिनसे वे मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त करते थे। निधि का अर्थ खजाना है। आचार्य अभयदेव के अनुसार चक्रवर्ती को अपने राज्य के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं की प्राप्ति इन नौ निधियों से होती थी। इसलिए इन्हें नव निधान के रूप में गिनाया है। (स्थानांग वृत्ति पत्र ४२६)। वे नव निधियाँ निम्न प्रकार हैं—

१. **नैसर्पनिधि**—यह निधि ग्राम-नगर-द्रोणमुख-मंडप आदि स्थानों के निर्माण में सहायक होती है।

२. **पांडुकनिधि**—मान-उन्मान और प्रमाण आदि का ज्ञान कराती है तथा धान्य और बीजों को उत्तम करती है।

३. **पिंगलनिधि**—यह निधि मनुष्य एवं तिर्यंचों के सर्वविध आभूषणों की विधि का ज्ञान कराने वाली तथा योग्य आभरण प्रदान करती है।

४. **सर्वरत्ननिधि**—इस निधि से वज्र, वैडूर्य, मरकत, माणिक्य, पद्मराग, पुष्पराज आदि बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं।

५. **महापद्मनिधि**—यह निधि सभी प्रकार के शुद्ध एवं रंगीन वस्त्रों की उत्पादिका है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में इसका नाम पद्मनिधि है।

६. **कालनिधि**—वर्तमान, भूत, भविष्य, कृषि कर्म, कलाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि का यह निधि ज्ञान कराती है।

७. **महाकालनिधि**—सोना, चांदी, मोती, प्रवाल, लोहा आदि की खानें उत्पन्न कराने में सहायक होती है।

---

१ (क) त्रिषष्टि० १/४
(ख) ठाणांग सूत्र, ठाणा ९, सूत्र १९
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चक्रवर्ती अधिकार
(घ) हरिवंशपुराण, सर्ग ११
(ङ) माघनन्दीविरचित शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र १८, पृष्ठ ७४

८. **माणवनिधि**—कवच, ढाल, तलवार आदि विविध प्रकार के दिव्य आयुध, युद्धनीति तथा दण्डनीति आदि की जानकारी कराने वाली।

९. **शंखनिधि**—विविध प्रकार के वाद्य-काव्य-नाट्य-नाटक आदि की विधि का ज्ञान कराने वाली।

ये सभी निधियाँ अविनाशी होती हैं, दिग्विजय से लौटते हुए गंगा के पश्चिमी तट पर, अट्ठमतप के तदुपरान्त चक्रवर्ती सम्राट को प्राप्त होती हैं। प्रत्येक निधि एक-एक हजार यक्षों से अधिष्ठित होती हैं। इनकी ऊँचाई आठ योजन, चौड़ाई नौ योजन तथा लम्बाई दस योजन होती है। ये सभी निधियाँ स्वर्ण और रत्नों से परिपूर्ण होती हैं, चन्द्र और सूर्य के चिह्नों से चिह्नित होती हैं, तथा पल्योपम की आयु वाले नागकुमार जाति के देव इनके अधिष्ठायक होते हैं।[1]

ये नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति-रत्न के अधीन थीं एवं चक्रवर्ती के समस्त मनोरथों को सदैव पूर्ण करती थी।[2]

हिन्दू धर्मशास्त्रों में इन नव-निधियों के नाम इस प्रकार से बताये हैं—

१. महापद्म २. पद्म ३. शंख ४. मकर ५. कच्छप ६. मुकुन्द ७. कुन्द ८. नील और ९. खर्व। ये निधियाँ कुबेर का खजाना भी कही जाती हैं।

भरत महाराज ने साठ हजार वर्षों की अवधि में षट्खण्ड पर विजय-पताका फहरा कर चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए विनीता नगरी की ओर प्रस्थान किया। बत्तीस हजार मुकुटधारी महाराजा भरत के अधीन थे। विनीता नगरी चिर काल के बाद अपने स्वामी को पाकर फूली नहीं समा रही थी। षट्खण्ड पर विजय करने के कारण एक विशाल अभिषेक मण्डप तैयार किया गया और भरत महाराज ने आभियोगिक देवों से कहा—मेरा महाभिषेक करो। आभियोगिक देवों ने भरत महाराज का अभिषेक किया। बत्तीस हजार राजाओं ने तथा सेनापतिरत्न, सार्थवाहरत्न, वार्धकरत्न, पुरोहितरत्न आदि ने भी भरत का महाभिषेक किया तथा अपने कर्त्तव्य का पालन किया।

---

१ त्रिषष्टि० १/४/५७४-५८७

२ हरिवंशपुराण—जिनसेन, ११/१२३

भरत महाराज एक बार स्नानादि से निवृत्त होकर शीशमहल में पहुँचे। शीशमहल में सिंहासन पर आसीन हुए। चारों ओर अपना रूप देखकर अन्तरूप की ओर आकृष्ट हुए। शुद्ध परिणामों की धारा प्रवाहित हुई। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[1] के अनुसार भावों की तीव्रता से भरत महाराज को केवलज्ञान हो गया। आवश्यकनिर्युक्ति[2] के अनुसार शीशमहल में भरत अपनी दिव्य छटा को देखकर विस्मित थे। उनकी दृष्टि अँगुलियों पर गिरी, एक अंगुली शोभाविहीन थी, क्योंकि उसमें पहनी हुई अँगूठी गिर गई थी। उन्होंने दूसरी अंगुलियों की अंगूठियाँ भी धीरे-धीरे निकालना प्रारम्भ किया और देखने लगे कि ये अँगुलियां कैसी लगती हैं? इस तरह उन्होंने सारे आभूषण उतार दिये। वे सोचने लगे—शरीर का सौन्दर्य मेरा नहीं है, जो शरीर कुछ क्षणों पहले चमक रहा था, वह आभूषणों के अभाव में कान्तिहीन प्रतीत हो रहा है। भौतिक अलंकारों से लदी हुई सुन्दरता कृत्रिम और भ्रामक है। उसमें फँसकर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्हें केवलज्ञान हुआ। आवश्यकनिर्युक्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में यही अन्तर है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पहले केवलज्ञान होता है और उसके बाद भरत अपने वस्त्रालंकार उतारते हैं; जबकि आवश्यकनिर्युक्ति में वस्त्रालंकार उतारने के बाद केवलज्ञान होने का उल्लेख है।

आवश्यकनिर्युक्ति आदि में सम्राट भरत के जीवन से सम्बन्धित अन्य अनेक प्रसंग हैं। विस्तारभय से हम उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं। चक्रवर्ती की विजय, और अन्य जानकारी स्थानांग और समवायांग सूत्र में आई हैं।[3]

बलदेव-वासुदेव

बलदेव, वासुदेव ये दोनों भाई के रूप में होते हैं। नौ बलदेव और

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ३

२ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४३६

३ तुलना कीजिए—अंगुत्तरनिकाय (५/११३) में बताया है कि चक्रवर्ती का चक्र लौटता नहीं है। उसके पाँच कारण बताये हैं—वह अर्थज्ञ होता है, धर्मज्ञ होता है, मर्यादाशील होता है, कालज्ञ होता है और परिषद् को जानने वाला होता है।

नौ वासुदेव तथा नौ प्रतिवासुदेव इस प्रकार सत्ताईस विशिष्ट व्यक्ति होते हैं। वासुदेव अर्धचक्री होते हैं। वे तीन खण्ड के अधिपति होते हैं। वे उत्तम पुरुष माने गये हैं। वे ओजस्वी, तेजस्वी, बलशाली और सुरूप होते हैं। वे कांत, सौम्य, प्रियदर्शी होते हैं। वे महाबली, अप्रतिहत और अपराजित होते हैं। शत्रुओं का अच्छी तरह से मर्दन करने वाले होते हैं। हजारों शत्रुओं के मान को एक क्षण में नष्ट कर देते हैं। वे दयालु, अमत्सर, अचपल और अचण्ड होते हैं। उनका स्वभाव बहुत ही मधुर होता है। उनकी वाणी गम्भीर, मृदु तथा सत्य होती है। उनके शरीर में अनेक शुभ लक्षण होते हैं। वे चन्द्र की तरह सौम्य, सूर्य के समान प्रचण्ड, प्रकाण्ड दण्डनीतिज्ञ, समुद्र के समान गम्भीर, युद्ध में दुर्द्धर तथा धनुर्धर होते हैं। वे राजवंश में तिलक के समान होते हैं। बलदेव के हाथ में हल होता है और वासुदेव धनुष रखते हैं। वासुदेव शंख, चक्र, गदा, शक्ति और नन्दक धारण करते हैं। उनके मुकुट में श्रेष्ठ, उज्ज्वल, शुक्ल, विमल कौस्तुभ-मणि होती है और कान में कुण्डल होते हैं। उनकी आँखें कमल के समान होती हैं। उनके गले में एकावली हार होता है। श्रीवत्स का लांछन होता है तथा पंचरंगों के सुगन्धित फूलों की माला होती है। उनके अंगोपांग में आठ सौ प्रशस्त चिन्ह होते हैं। उनके अंगोपांग सर्वांग सुन्दर होते हैं। बलदेव नीले तथा वासुदेव पीले रंग के वस्त्र धारण करते हैं। बलदेव निदानरहित होते हैं तो वासुदेव निदानकृत होते हैं। बलदेव ऊर्ध्वगामी होते हैं तो वासुदेव अधोगामी होते हैं।[1] प्रतिवासुदेव को वासुदेव पराजित करते हैं और अन्त में स्वचक्र से ही प्रतिवासुदेव की मृत्यु होती है।[2]

बलदेव, वासुदेव के पूर्वभव तथा सभी के नाम, माता-पिताओं के नाम आदि का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। अचल बलदेव अस्सी धनुष ऊँचे थे। विजय बलदेव तिहत्तर लाख वर्ष आयु भोगकर सिद्ध हुए। सुप्रभ बलदेव इकावन लाख वर्ष सर्वायु भोगकर सिद्ध हुए। नन्दन बलदेव तैंतीस धनुष ऊँचे थे तथा राम बलदेव दस धनुष ऊँचे थे।

इस तरह विपुल सामग्री बलदेव, वासुदेव के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में दी गई है। आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव का भी उनमें निरूपण हुआ है। इस प्रकार उत्तम पुरुषों की कथायें हैं।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४१५ २ आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य, गाथा ४३

श्रमण-कथाएँ

आगम साहित्य में श्रमणों की कथाएँ अपेक्षाकृत कम हैं, किसी-किसी आगम में यत्र-तत्र कुछ कथाएँ मिलती हैं, किन्तु क्रमबद्ध कथाएं नहीं है। औपपातिक, अन्तकृद्दशा व ज्ञाताधर्मकथासूत्र में कुछ श्रमणों की हैकथाएँ यहाँ इन पर चिन्तन करना है।

महाबल

ज्ञाताधर्म कथा में महाबल का पवित्र-चरित्र दिया गया है। महाबल विमलनाथ अरिहन्त के समय में हुए। उनका जन्म हस्तिनापुर के बलराजा एवं प्रभावती की कुक्षि से हुआ। जब महाबल का जीव गर्भ में आया, तब माता प्रभावती ने सिंह का स्वप्न देखा और विविध प्रकार के दोहद उत्पन्न हुए। जन्म लेने पर राजा ने अपने हृदय का आह्लाद बन्दीजनों को मुक्त कर व्यक्त किया तथा विविध प्रकार के उत्सव मनाये। बलराजा का पुत्र होने से उसका नाम 'महाबल' रखा। क्षीरधात्री, मज्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीड़नधात्री एवं अंकधात्री इन पाँच धात्रियों से सम्पोषण पाता हुआ महाबल बढ़ने लगा। सूर्य-दर्शन, जागरण, नामकरण, घुटनों के बल चलना, पैरों से चलना, अन्न-भोजन प्रारम्भ करना, ग्रास बढ़ाना, सम्भाषण करना, कान विंधाना, वर्षगाँठ मनवाना, चोटी रखवाना, उपनयन करना, आदि बहुत से गर्भ धारण, जन्म-महोत्सव आदि विविध प्रसंगों को लेकर विविध प्रकार के कौतुक किये।

संस्कार चिन्तन

जैनधर्म की आचार-संहिता में बाह्य विधि-विधानों का निरूपण कम हुआ है जबकि ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में संस्कारविधियों का विस्तार से निरूपण है। गौतम धर्मसूत्र,[1] आपस्तम्भ धर्मसूत्र[2] और वसिष्ठ धर्मसूत्र,[3]

---

१ गौतम धर्मसूत्र ८/८

२ आपस्तम्भ धर्मसूत्र, १/१/१/६

३ वसिष्ठ धर्मसूत्र ४/१

में विस्तार से वर्णन है। स्मृतियों में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में मत-भेद है। गौतम ने चालीस संस्कारों का वर्णन किया है।[1] वैखानस ने अठारह शारीरिक संस्कारों के नाम दिये हैं। अंगिरा ने पच्चीस संस्कारों के नाम बताये हैं। व्यास ने सोलह संस्कार बताये हैं।[2] मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णु धर्मसूत्र में संख्या का निर्देश नहीं है। निबन्धों में मुख्य रूप से सोलह संस्कार बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. विष्णुवलि ५. जातकर्म ६. नामकरण ७. निष्क्रमण ८. अन्नप्राशन ९. चौल १०. उपनयन ११-१४. वेदव्रत चतुष्टय १५. समावर्तन और १६. विवाह। स्मृतिचन्द्रिका आदि में प्रकारान्तर से अन्य नाम भी मिलते हैं। गृहसूत्रों, धर्मसूत्रों, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में एवं रघुनन्दनकृत संस्कार तत्त्व, नीलकण्ठकृत संस्कार मयूख, मित्रमिश्र कृत संस्कार प्रकाश, अनन्तदेवकृत संस्कार कौस्तुभ और गोपीनाथकृत संस्कार रत्नमाला आदि ग्रंथों में विराट सामग्री भरी पड़ी है, अतः विशेष जिज्ञासु उन ग्रन्थों का अवलोकन करें।

संस्कारों में उपनयन संस्कार एक विशेष महत्वपूर्ण संस्कार माना गया है। महाबल कथा में "उवनयणं" शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में 'उपनयन संस्कार' किस प्रकार होता था? इसका वर्णन आगम ग्रन्थों में नहीं है। ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में कलाचार्य के पास अध्ययन के लिए ले जाना, उपनयन संस्कार माना गया है। यह संस्कार विद्यार्थी को गायत्री मंत्र सिखाकर किया जाता था। गुरु के सन्निकट रहने से शतपथ ब्राह्मण[3] और तैतिरीयोपनिषद्[4] में उसे अन्तेवासी कहा है। उपनयन संस्कार कब किया जाये, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आश्वलायन गृहसूत्र में लिखा है[5]—ब्राह्मण आठ वर्ष में, क्षत्रिय ग्यारह वर्ष में, वैश्य बारह वर्ष में उपनयन करें, अथवा सोलह, वावीस और चौबीसवें वर्ष में उपनयन

---

१ गौतम, ८/१४—२४.

२ व्यास, १/१४—१५.

३ शतपथ ब्राह्मण ५/१/५/१७.

४ तैत्तिरीयोपनिषद् १/११

५ आश्वलायन गृहसूत्र १/१६/१-६.

करें। आपस्तंभ[1] शांखायन,[2] बोधयन,[3] भारद्वाज,[4] गोभिल,[5] गृहसूत्र तथा याज्ञवल्क्य[6] में यह स्पष्ट संकेत है कि वर्षों की परिगणना गर्भाधान से करनी चाहिए। शांखायन गृहसूत्र आदि में वर्षों के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं। धर्मशास्त्रों में उपनयन के लिए मुहूर्त्त आदि की भी चर्चा की गई है। उपनयन के समय वस्त्र, दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत, गायत्री उपदेश आदि देने की विधि भी बताई गई है।

महाबल की कथा में यह भी बताया है कि जब महाबल आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र का हुआ तब वह कलाचार्य के पास अध्ययन के लिए भेजा गया और पूर्ण युवा होने पर उसका आठ राजकन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। यहाँ पर दो बातें चिन्तनीय हैं कि प्राचीनकाल में शिक्षा का प्रारम्भ आठ वर्ष का या उससे कुछ अधिक उम्र होने पर होता था, क्योंकि तब तक बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था। यही कारण है आगम साहित्य में और परवर्ती साहित्य में यह वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है।[7] आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार भी हो

---

१ आपस्तंभ० १०/२.

२ शांखायन० २/१.

३ बोधायन० २/५/२.

४ भारद्वाज० १/१.

५ गोभिल० २/१०.

६ याज्ञवल्क्य० १/१४.

७ (क) 'द जैन सिस्टम ऑफ एजुकेशन' जर्नल ऑफ द यूनिवर्सिटी ऑफ बोम्बे, जनवरी १९४०, पृष्ठ २०६ आदि
(जगदीशचन्द्र, लाइफ इन एन्शिएन्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स, ज० जै० के० पृष्ठ १६६ पर उद्धृत एच० आर० कापड़िया) डी. सी. दासगुप्त.

(ख) (i) 'जैन सिस्टम ऑफ एजुकेशन' पृष्ठ ७४.
(ii) भगवती (अभयदेव वृत्ति) ११/११, ४२९ पृ० ९९९.
(iii) नायाधम्मकहाओ, १/२०, पृष्ठ ३१,
(iv) कथाकोषप्रकरण, पृ० ८.
(v) ज्ञानपंचमी कहा, ५.९२ आदि।

जाता था, इसलिए उपनयन संस्कार को कलाग्रहण-उत्सव भी कहा गया है।[1] स्मृतियों में पाँच वर्ष की वय में शिक्षा प्रारम्भ करने का विधान भी मिलता है। वह अपवाद रूप में रहा है। इसके साथ यह भी स्मरण रखना होगा कि उस समय आज की तरह शिक्षा भार रूप नहीं थी। गुरुकुल प्रणाली शिक्षा का आदर्श था। विद्यार्थी के लिए आवश्यक था कि वह खूब मन लगाकर अध्ययन करे, विनयपूर्वक गुरुचरणों में रहे तथा नियम-सम्पन्न हो। पुरुषों के लिए बहत्तर कलाओं तथा स्त्रियों के लिए चौंसठ कलाओं का अध्ययन आवश्यक माना जाता था।

प्राचीनतम युग में बाल-विवाह नहीं था। आगम-साहित्य में स्थान-स्थान पर "उम्मुक्क बालभावं जाव अलं भोगसमत्थं" शब्द व्यवहृत हुआ है। बाल-विवाह मध्य युग की देन प्रतीत होती है। इसीलिए अलबरूनी ने लिखा है—हिन्दू लोग अपने लड़कों के विवाह का आयोजन करते थे क्योंकि विवाह बहुत ही छोटी उम्र में हुआ करते थे।[2] एक स्थान पर यह भी लिखा है—ब्राह्मणों में अरजस्वला कन्या को ही ग्रहण किया जाता था।[3] गुप्तकाल में बाल-विवाह का प्रचलन रहा।[4]

यों जैन साहित्य में विवाह के तीन प्रकारों का वर्णन मिलता है—१. वर और कन्या दोनों पक्षों के माता-पिताओं के द्वारा आयोजित विवाह २. स्वयंवर विवाह ३. गान्धर्व विवाह। मुख्य रूप से स्वयं की जाति में ही विवाह करने की प्रथा थी। बौद्ध जातकों में भी समान स्थिति और समान व्यवसाय वाले लोगों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के उल्लेख मिलते हैं जिससे कि निम्न जातिगत तत्त्वों के सम्मिश्रण से कुल की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा जा सके।[5] यों आगम-साहित्य में अन्य जातियों के साथ भी विवाह करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैसे—राजमंत्री तेतलीपुत्र ने

१ 'प्राचीन भारत में जैन शिक्षण पद्धति'—डा० हरीन्द्रभूषण, संसद-पत्रिका, १९६५.

२ एपीग्राफिका इण्डिया २. पृष्ठ १८४

३ एपीग्राफिका इण्डिया पृष्ठ १२१

४ 'लाइफ इन दी गुप्ता एज, पृष्ठ २८८-९०.—आर० एन० सालेटोरकर

५ 'द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, कलकत्ता १९२०—फिक रेचार्ड

एक सुनार की कन्या[1] से, क्षत्रिय गजसुकुमाल ने सोमिल ब्राह्मण की कन्या से, राजा[2] जितशत्रु ने चित्रकार की कन्या से,[3] राजकुमार ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मण तथा वणिकों की कन्याओं से पाणिग्रहण किया था।[4]

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति था। सन्तानोत्पत्ति के लिए एक से अधिक विवाह करने की अनुमति स्मृतिकारोंने प्रदान की। बहुपत्नीत्व विवाह का यही मुख्य उद्देश्य रहा था। आगे चलकर बहु-विवाह विशिष्ट व्यक्तियों के गौरव की चीज हो गई। राजा और राजकुमार अपने अन्तःपुरों में अधिक से अधिक पत्नियाँ रखने में गौरव का अनुभव करते थे। अनेक राजाओं के साथ स्नेहपूर्ण-सम्बन्ध स्थापित होने के कारण बहुविवाह राजनीतिक सत्ता को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता था। इसीलिए महाबल राजकुमार का भी आठ कन्याओं के साथ विवाह होने का उल्लेख है।

जैन कथाओं की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि जो व्यक्ति भोग के दलदल में फँसा है, वह भी वीतरागवाणी को श्रवण कर भोग को रोग समझकर मुक्त हो जाता है। वैराग्यभावना प्रबुद्ध होने पर कोई भी शक्ति उन्हें संसार में रोकने के लिए समर्थ नहीं होती। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् साधक पहले अध्ययन करता है, आगम-साहित्य का दोहन करता है और उसके पश्चात् उग्र जप-तप की साधना कर कर्मों को नष्ट करने का प्रयास करता है। यहाँ से अपना आयुष्य पूर्ण कर देव बनता है।

उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन की पचासवीं गाथा में भी महाबल का उल्लेख हुआ है। टीकाकार नेमिचन्द्र ने यह कथा विस्तार से दी है और अन्त में व्याख्याप्रज्ञप्ति का निर्देश किया है पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह महाबल भगवती में वर्णित ही है या अन्य? सम्भव है विपाकसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय ७ में वर्णित महापुर नगर का राजा बल का पुत्र महाबल हो। भगवती का महाबल उस महाबल से पृथक् होना चाहिए।

---

१ ज्ञातृधर्मकथा १४ पृ० १४८.

२ अन्तकृद्दशा ३, पृष्ठ १६.

३ उत्तराध्ययन टीका ६, पृष्ठ १४१

४ उत्तराध्ययन टीका, पृष्ठ १८८ से १९२ तक।

कार्तिक श्रेष्ठी :

भगवतीसूत्र शतक अठारह, उद्देशक दूसरे में कार्तिक श्रेष्ठी की कथा भी आई है, जो भ० मुनिसुव्रत के तीर्थ में हुए थे। ये ही कार्तिक श्रेष्ठी प्रथम देवलोक के इन्द्र बने। भारतीय साहित्य में इन्द्र के हजार नाम प्रसिद्ध हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों ही परम्पराओं में इन्द्र के सम्बन्ध में चर्चा है। हम यहाँ इन्द्र के अनेक नामों में से कुछ शब्दों का उल्लेख कर रहे हैं, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यवहृत हुए हैं। "शक्र" नामक सिंहासन पर बैठने से तथा सामर्थ्यवान होने से वह 'शक्र' कहलाया। देवताओं के मध्य परम ऐश्वर्ययुक्त होने से वह 'इन्द्र' के नाम से विश्रुत हुआ। इन्द्र नाम सबसे अधिक प्रचलित है। ऋग्वेद में प्रायः दो सौ पचास सूक्तों में इन्द्र का वर्णन है और पचास सूक्त ऐसे भी हैं, जिनमें दूसरे सूक्तों के साथ इन्द्र का वर्णन है। इस तरह ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र की स्तुतियों से भरा पड़ा है। ऋग्वेद में इन्द्र को अग्नि का जुड़वाँ भाई बताया है।[1] पौराणिक युग में मानव तप से इन्द्र पद प्राप्त करने के लिए लालायित रहता था। इन्द्र अपने सिंहासन की रक्षा के लिए अप्सराओं को प्रेषित करता है जो तपस्वियों को मोहित कर पथ-भ्रष्ट करती हैं। पौराणिक इन्द्र शक्तिमान्, समृद्ध और विलासी है।

जैन दृष्टि से अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली असाधारण अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों के धारक ऐसे देवाधिपति को इन्द्र के नाम से अभिहित किया है।[2] देवताओं का राजा होने से वह देवराज भी कहलाता है। हाथ में वज्र नामक शस्त्र को धारण करने से 'वज्रपाणि' है। शत्रुओं के नगरों को नष्ट करने के कारण वह 'पुरन्दर' है। कार्तिक श्रेष्ठी के भव में सौ बार श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा अर्थात् अभिग्रह विशेष को धारण करने के कारण वह 'शतक्रतु' कहलाता है। यद्यपि भगवती सूत्र में जो कार्तिक श्रेष्ठी की कथा है, उसमें कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा सौ बार प्रतिमा धारण की गई, ऐसा उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु आचार्य श्री जयमलजी महाराज ने बड़ी साधु वन्दना में लिखा है—

---

१. ऋग्वेद ६/५९/२।

२ (क) अन्य देवासाधारणाणिमादि योगादिन्दन्तीति इन्द्राः—सर्वार्थसिद्धि ४/४।

(ख) तत्वार्थश्लोकवार्तिक ४/४।

"वलि कातिक शेठे, पड़िमा वही सूर वीर।
जीमी मोरां ऊपर, तापस बलती खीर ॥३३॥

पछी चारित्र लीधुं, मित्र एक सहस आठ धीर।
मरी हुओ शक्रेन्द्र, चवि लेसे भव तीर ॥३४॥

वैदिक परम्परा के अनुसार शतक्रतु का अर्थ है—सौ यज्ञ करने वाला। कहा जाता है कि इन्द्र पूर्वभव में कार्तिक श्रेष्ठी था। उसकी वीतराग धर्म पर अनन्य आस्था थी। उसने सौ बार श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा तक की आराधना की। नगर में एक बार गैरिक नामक उग्र तपस्वी आया। उसके कठोर तप से सभी प्रभावित हुए। जन-समूह दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। विराट जनसमूह को देखकर तपस्वी के मन में अहंकाररूपी नाग फन फैलाकर खड़ा हो गया। उसने लोगों से पूछा—क्या सभी लोग मेरे दर्शनार्थ आ चुके हैं?

एक भक्त ने निवेदन किया कि कार्तिक श्रेष्ठी को छोड़कर अन्य सभी लोग आ गये हैं। तपस्वी ने क्रोध और अहंकार के वश होकर यह अभिग्रह किया—मैं कार्तिक श्रेष्ठी की पीठ पर थाली रखकर ही पारणा करूँगा अन्यथा जीवन भर कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। राजा ने जब तपस्वी को पारणा करने के लिए प्रार्थना की तो तपस्वी ने अभिग्रह की बात दोहराई। राजा ने श्रेष्ठी को बुलाया तथा गरमा-गरम खीर तैयार की गई। राजा के आदेश से सेठ ने सिर झुकाया और तपस्वी ने क्रूरतापूर्वक सेठ की पीठ पर खीर से भरी थाली रखी। श्रेष्ठी की चमड़ी जलने लगी। तपस्वी ने नाक पर अँगुली रखकर कहा—तू मुझे वन्दन करने नहीं आया, उसका फल चख! मैंने तेरा नाक काट ही दिया। सेठ मन ही मन सोचने लगा—यदि मैं पहले साधु बन जाता तो आज जो यह दयनीय दशा हुई है, वह नहीं होती। वह समभावपूर्वक कष्ट सहन करता रहा। एक हजार आठ पुरुषों के साथ श्रेष्ठी ने मुनिसुव्रत स्वामी के पास दीक्षा ग्रहण की और शक्रेन्द्र बना। तापस गैरिक भी अपना आयुष्य पूर्ण कर शक्रेन्द्र का ऐरावत हाथी बना। इन्द्र को अपने ऊपर बैठा देखकर ऐरावत हाथी घबराया। इन्द्र ने भी अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव देखा और ऐरावत को भी। उसे डाँटा, फटकारा। ऐरावत शान्त हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ में कार्तिक श्रेष्ठी की दीक्षा आदि का विस्तार से निरूपण हुआ है।

गंगदत्त

मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ में होने वाले गंगदत्त की कथा भगवती शतक १५ और उद्देशक ५ में दी गई है। गंगदत्त देव श्रमण भगवान् महावीर की सभा में उपस्थित हुआ। गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने उसका पूर्वभव सुनाते हुए कहा-- हस्तिनापुर में गंगदत्त नामक गाथापति था। अरिहंत मुनिसुव्रत के पावन-प्रवचन को श्रवण कर तथा ज्येष्ठ पुत्र की अनुमति प्राप्त कर गंगदत्त ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उत्कृष्ट तप-जप की आराधना कर यह देव बना और यहाँ से आयु पूर्णकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा। प्रस्तुत कथा का सम्बन्ध मुनिसुव्रत स्वामी के साथ है। यही इस कथा की विशेषता है। प्राग् ऐतिहासिक काल का यह प्रसंग बहुत ही प्रेरणादायी है।

चित्त-संभूति

उत्तराध्ययन १३वें अध्ययन में चित्त-संभूति की कथा दी गई है। इस कथा वस्तु का बौद्ध परम्परा के चित्त-संभूति जातक में भी वर्णन है। दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में कथा वस्तु बहुत कुछ समानता लिये हुए है। दोनों ही कथाकारों ने कथा-वस्तु गद्य और पद्य में गठित की है। कथा-वस्तु गद्य में है तो संवाद पद्य में है। कथा ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से प्रारम्भ होती है। इसमें पेंतीस श्लोक हैं। टीकाकार नेमिचन्द्र ने सुखबोधावृत्ति में सम्पूर्ण कथा दी है। उत्तराध्ययन के मूल में कथा का प्रारम्भ है। दोनों भाई चित्त और संभूत परस्पर मिलते हैं तथा सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगते हैं। चित्त का जीव श्रमण अवस्था में ब्रह्मदत्त को संसार की निःसारता का परिज्ञान कराते हुए कहता है—'ऐश्वर्य विद्युत की तरह चंचल है और भोग भी नश्वर हैं, अतः तुम श्रमण धर्म को स्वीकार कर अपने जीवन को पावन बनाओ।' जब चित्त मुनि ने देखा—ब्रह्मदत्त श्रमण बनने की स्थिति में नहीं है तो मुनि ने उसे गृहस्थाश्रम में रहकर ही धर्म-साधना करने की प्रेरणा दी। पर ब्रह्मदत्त का मन धर्म में नहीं था। चित्त मुनि धर्माराधन कर सिद्ध हुआ तथा ब्रह्मदत्त भोगों में आसक्त होकर नरक का अधिकारी बना। पाँचवीं, छठी और सातवीं गाथा में पूर्वजन्मों का नामोल्लेख हुआ है। पर वहाँ विस्तार से चर्चा नहीं है, टीकाकार नेमिचन्द्र ने पूर्व के पाँच भवों का सविस्तृत वर्णन किया। संक्षेप में छह भव इस प्रकार हैं—१. दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती के गर्भ से पुत्र रूप में पैदा होना। २. कालिंजर पर्वत पर मृगी की कुक्षी से युगल रूप में उत्पन्न होना। ३. मृतगंगा के तीर पर हंसी के गर्भ में उत्पन्न होना। ४. बारा-

णसी में श्वपाक के पुत्र में उत्पन्न होना। ५. देवलोक में उत्पन्न होना। ६. चित्त का जीव पुरिमताल नगर में ईभ्य श्रेष्ठी के यहाँ पुत्र रूप में और संभूत का जीव काम्पिल्यपुर में ब्रह्मराजा की रानी चूलनी के गर्भ से ब्रह्मदत्त रूप में उत्पन्न हुआ।

बौद्ध-साहित्य में :

बौद्ध साहित्य में संक्षेप में कथा का रूप इस प्रकार है—

१. निरंजरा नदी के किनारे मृगी की कुक्षी में उत्पन्न होना।

२. नर्मदा नदी के किनारे बाज पक्षी के रूप में उत्पन्न होना।

३. चित्त का जीव कोशाम्बी में पुरोहित का पुत्र हुआ तथा संभूत का जीव पांचाल राजा के रूप में उत्पन्न हुआ।[1] जब दोनों भाई परस्पर मिलते हैं तो चित्त संभूत को उपदेश प्रदान करता है, किन्तु संभूत का मन भोगों से विरत नहीं होता। जिससे चित्त संभूत के सिर पर धूल गिराता है और स्वयं हिमालय की ओर प्रस्थान कर जाता है। जब राजा संभूत ने यह देखा तो उसके अन्तर्मानस में वैराग्य समुत्पन्न हुआ और वह भी हिमालय को चल दिया। चित्त ने उसे योग विद्या सिखलाई, जिससे संभूत को ध्यान-लाभ हुआ। इस प्रकार चित्त और संभूत दोनों ब्रह्मलोकवासी हुए।

जैन और बौद्ध दोनों ही कथा-वस्तुओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैन कथा-वस्तु विस्तृत है। कुमार ब्रह्मदत्त अपने मन्त्री-पुत्र वरधनु के साथ घर से निकल कर दूर चला गया और पुनः लौटकर नगर में नहीं आते तब तक की कथा छोटी-बड़ी अनेक घटनाओं के कारण जटिल हो गई है। सारी अवान्तर घटनाएँ ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित हैं तथा उन अवान्तर घटनाओं का अन्त होता है किसी कन्या के साथ विवाह या पाणिग्रहण करने पर। कुमार ब्रह्मदत्त वरधनु के साथ अपनी नगरी में लौटता है। राज्याभिषेक होने के पश्चात् उसे अपने भ्राता की मधुर स्मृति हो आती है। दोनों भाई मिलते हैं। मुनि चित्त का जीव धर्माराधन कर मुक्त बनता है। कुमार ब्रह्मदत्त भोगों में आसक्त होकर नरक में जाता है। जैनदृष्टि से संभूत का जीव कुमार ब्रह्मदत्त नरक का अधिकारी बनता है तो बौद्ध दृष्टि से संभूत ब्रह्मलोक में जाता है। सरपेन्टियर ने लिखा है—इन दोनों कथानकों में साम्य ही नहीं अपितु दोनों की गाथाओं में भी पूर्ण साम्य है।[2] उदाहरण के रूप में देखिए—

---

१ जातक चतुर्थ खण्ड, संख्या ४९८, चित्त संभूत जातक, पृष्ठ ६००

२ The Uttaradhyayana Sutra, p. 45

सामान गाथाएँ

जैन परम्परा	**बौद्ध परम्परा**
उत्तराध्यन, अध्ययन १३	चित्त संभूत जातक (सं० ४९८)
श्लोक	**गाथा**
दासा दसण्णे आसी मिया कालिंजरे नगे। हंसा मयंगतीरे सोवागा कासिभूमिए ॥९॥	चण्डालाहुम्ह अवन्तीसु मिगा नेरञ्जरं पति, उक्कुसा नम्मदा तीरे त्यज्ज ब्राह्मण खत्तिया ॥१६॥
सव्वं सुच्चिण्णं सफलं नराणं कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं आया ममं पुण्णफलोववेए ॥१०॥	सब्बं नरानं सफलं सुचिण्णं न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि। पस्सामि सम्भूतं महानुभावं सकम्मना पुञ्जफलूपपन्नं ॥१॥
जाणासि संभूय! महाणुभागं महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं। चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं! इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥११॥	सब्बं नरानं सफलं सुचिण्णं न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि। चित्तं विजानाहि तत्थ एव देव इद्धो मन तस्स यथापि तुय्हं ॥३॥
महत्थरूवा वयणप्पभूया गाहाणुगीया नरसंघमज्झे। जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया इहऽज्जयन्ते समणोम्हि जाओ ॥१२॥	सुलद्ध लाभा वत मे अहोसि, गाथा सुगीता परिसाय मज्झे। सो हं इसि सील वतूपपन्न दिस्वा पतीतो सुमनो हमस्मि ॥८॥
उच्चोयए महु कक्के य बम्भे पवेइया आवसहा या रम्मा। इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥१३॥	
नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं नारीजणाइं परिवारयन्तो। भुञ्जाइ भोगाहि इमाइ भिक्खू। मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥	रम्मं च ते आवसथं करोन्तु नारीगणेहि परिचारयस्सु। करोहि ओकासं अनुग्गहाय उभो पि इमं इस्सरियं करोम ॥१०॥

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं।	उपनीयती जीवितं अप्पमायु
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।	वण्णं जरा हन्ति नरस्स जीवितो।
पंचालराया! वयणं सुणाहि	करोहि पञ्चाल मम एत वाक्यं
मा कासि कम्माइं महालयाइं ॥२६॥	मा कासि कम्मं निरयूपपत्तिया ॥२०॥
अहं पि जाणामि जहेह साहू!	अद्धाहि सच्चं वचनं तव एत
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।	यथा इसि भाससि एव एतं।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति	कामा च मे सन्ति अनप्परूपा
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं ॥२७॥	ते दुच्चजा मा दिसकेन भिक्खु ॥२१॥
नागो जहा पंक जलावसन्नो	नागो यथा पङ्कमज्झे व्यसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।	पस्सं थलं नाभिसम्भोति गन्तुं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा,	एवं पहं कामपङ्के व्यसन्नो
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥३०॥	न भिक्खुनो मग्गं अनुब्बजामि ॥२२॥
जइ ता सि भोगे चइउं असत्तो	न चे तुवं उस्सहसे जनिन्द
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं।	कामे इमे मानुसके पहातुं।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी	धम्मं बलिं पट्ठपयस्सु राज
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥३२॥	अधम्मकारो च ते माहु रट्ठे ॥२४॥

डा० घाटगे का यह अभिमत है कि जातक के गद्य विभाग से पद्य विभाग अधिक प्राचीन है। गद्य विभाग बहुत बाद में लिखा गया और यह तथ्य भाषा और तर्क के द्वारा भी सिद्ध है। यह तथ्य यह मानने के लिए भी प्रेरित करता है कि उत्तराध्ययन में संग्रहीत कथावस्तु दोनों से भी प्राचीन है।[1] उनका यह भी मन्तव्य है कि उत्तराध्ययन के पद्यों में उसका कोई उल्लेख नहीं है, केवल दोनों के संलाप में उनका संकेत है। जातक में उनके पूर्व-भवों का विस्तार से निरूपण हुआ है।

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत कथानक की तीन गाथाओं को अर्वाचीन माना है।[2] परन्तु उसके लिए कोई प्रबल तर्क नहीं दिया है। चूर्णि, टीका प्रभृति व्याख्या ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में मनीषी आचार्यों ने कहीं भी किसी

---

१. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, vol. 17. (1935-1936): A few Parallels in Jain and Buddhist Works, p. 342, by A. M. Ghatage. M. A.

२ The Uttaradhyayana Sutra p. 326.

प्रकार का ऊहापोह नहीं किया है। ये तीनों गाथाएँ प्रकरण की दृष्टि से भी अनुपयुक्त नहीं है। इन तीनों गाथाओं में उनके जन्म-स्थल, जन्म का कारण और आपस में मिलने का वर्णन है। ये गाथाएँ अगली गाथाओं से सम्बन्धित हैं। ये तीनों गाथाएँ आर्याछन्द में निबद्ध हैं जबकि आगे की गाथाएँ अनुष्टुप, उपजाति आदि विभिन्न छन्दों में निर्मित हैं। छन्दों की भिन्नता से उन्हें प्रक्षिप्त या अर्वाचीन नहीं मान सकते। यह कथा भगवान् अरिष्टनेमि के युग की है।

निषधकुमार

वृष्णिदशा अध्ययन प्रथम में निषधकुमार की कथा का प्रसंग भी भगवान् अरिष्टनेमि से सम्बन्धित है। भगवान् अरिष्टनेमि एक बार द्वारिका नगरी में पधारे। उनके आगमन के संवाद को सुनकर द्वारिका नगरी के निवासी तथा श्रीकृष्ण आनन्द से झूम उठे। राजकीय वैभव के साथ प्रभु के दर्शन को चले। निषधकुमार भी भगवान को वन्दन करने के लिए पहुँचा। भगवान् की विमल-वाणी सुनकर उसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए। निषधकुमार के दिव्य रूप को देखकर अरिष्टनेमि के प्रधान शिष्य वरदत्त अणगार ने पूछा—प्रभो! यह ऋद्धि-समृद्धि और सुरूप इन्हें कैसे प्राप्त हुआ? भगवान् ने कहा—भरतक्षेत्र में रोहितक नामक नगर था। महाबल राजा और पद्मावती रानी थी। विरंगत कुमार का बत्तीस कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। आचार्य सिद्धार्थ के उपदेश को श्रवण कर वह श्रमण बना और उत्कृष्ट तप की साधना कर पाँचवें ब्रह्मदेव लोक में देव बना। यह विराट सम्पत्ति और ऋद्धि पूर्वकृत पुण्य का फल है।

वरदत्त गणधर ने पूछा—भन्ते! क्या यह आपके सन्निकट प्रव्रजित होगा? भगवान ने स्वीकृतिसूचक संकेत किया। कुछ समय के पश्चात् भगवान का द्वारिका नगरी में पुनः पदार्पण हुआ। निषधकुमार ने संयम ग्रहण किया। सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। नौ वर्ष तक श्रामण्य-पर्याय में उत्कृष्ट तप की आराधना की और बयालीस भक्त का अनशन कर, संलेखना—संथारे के द्वारा समाधिपूर्वक काल कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान अरिष्टनेमि के तीर्थ में ही **गौतम अणगार** ने भी अपने जीवन को पावन बनाया था। भगवान् अरिष्टनेमि के पावन उपदेश से प्रभावित होकर वह आठ पत्नियों का त्याग कर भगवान अरिष्टनेमि के

पास संयम स्वीकार करता है तथा उत्कृष्ट तप की आराधना करता है। उसके बाद वह भिक्षु-प्रतिमा की साधना करता है और अट्ठाईस मास तथा तेवीस दिन में प्रतिमा की साधना पूर्ण कर गुणरत्न-संवत्सर तप का आराधना करता है। अन्त में जब गौतम अणगार का शरीर क्षीण हो गया **'जीवं जीवेइ चिट्ठइ'** जीव अपनी जीवनी-शक्ति के सहारे ही टिका हुआ था। तब उन्होंने मृत्यु की इच्छा न करते हुए और न जीने की कामना करते हुए एक मास का संथारा किया तथा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। गौतम अनगार तप की जीती-जागती प्रतिमा थे। उनका जीवन अत्यन्त प्रेरणादायी है।

अणीयसेन आदि छह भाई

अन्तकृद्दशा वर्ग तीसरे अध्ययन प्रथम में वर्णन है कि भद्दिलपुरनगर में नाग गाथापति की धर्मपत्नी सुलसा अत्यन्त रूपवती थी। उसके अणीयसेन, अनन्तसेन, अजितसेन, अनहितरिपु, देवसेन तथा शत्रुसेन ये छह पुत्र थे। उन छहों ने भगवान् अरिष्टनेमि के उपदेश को श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण की। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि ये छहों भाई देवकी के गर्भ से संहरण कर सुलसा की कुक्षि में स्थापित किये गये थे। इन छहों भाइयों ने उत्कृष्ट तपःसाधना कर मुक्ति को वरण किया था। ये छहों श्रीकृष्ण वासुदेव के भाई थे। इस रहस्य का उद्घाटन भगवान् अरिष्टनेमि ने किया। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में यह घटना उपलब्ध नहीं है।

गजसुकुमाल

अन्तकृद्दशा वर्ग तीसरे अध्ययन आठवें में गजसुकुमाल मुनि का वर्णन आया है। जैन संस्कृति के इतिहास में गजसुकुमाल एक अद्भुत साधक हुए। वह क्षमा का देवता विराट् शक्ति का धनी था। जिसे प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने तप की साधना की। जिसका बाल्यकाल स्वर्ण महलों में गुजरा। जिसका शरीर मक्खन की तरह सुकोमल था, जिसने अपने जीवन में दुःख की दुपहरी का दारुण दृश्य नहीं देखा था। तीन खण्ड के अधिपति श्रीकृष्ण का वह लघुभ्राता था। भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी के उद्यान में पधारे। श्रीकृष्ण के साथ गजसुकुमाल भी भगवान् को वन्दन करने के लिए पहुँचे। श्रीकृष्ण ने मार्ग में सोमा के सुहावने सुरूप को देखा तो उसे राजप्रासाद में भिजवा दिया। अरिष्टनेमि के पावन उपदेश को श्रवण कर गजसुकुमाल का अन्तर्मानस वैराग्य से भावित हो गया।

उसके जीवन का नक्शा बदल गया। वह आया था उपदेश सुनने के लिए, किन्तु श्रमण बनने के लिए तत्पर हो गया। अग्नि की नन्ही-सी चिनगारी घास-फूस को छू जाय तो वह आग प्रज्वलित हो जाती है जिसे हवा का झोंका उसे बुझा नहीं पाता किन्तु और बढ़ा देता है। वही स्थिति गजसुकुमाल के वैराग्य की थी। वैराग्य की ज्वाला को बुझाने के लिए माता-पिता के हजार-हजार आँसू बहे, जिससे पुत्र का वैराग्य उन आँसुओं में बह जाय, पर वह महाशक्ति बिचलित नहीं हुई। श्रीकृष्ण ने एक दिन का राज्य प्रदान किया। सोचा, सिंहासन का प्रलोभन इसके वैराग्य को धुंधला बना देगा पर वह महादावानल था जिसे सुख और साधनों के ऐश्वर्य तथा जय-जयघोष के झंझावात बुझा नहीं सके। वह ज्वाला तो निरन्तर जलती ही रही। वह महान् साधक अनुमति प्राप्त कर दीक्षित हो गया। उन नव-दीक्षित मुनि को आत्मकल्याण के लिए भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा बताई गई। वह अभिनव साधक निर्जन श्मशान भूमि में मन को एकाग्र कर ध्यानस्थ हो गया।

मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बाँधकर जाज्वल्यमान अंगारे रख दिये गये। माँस जल रहा था, रक्त उबल रहा था, सारे शरीर में भयंकर वेदना हो रही थी तथापि वह शान्तभाव से खड़ा था। जलते हुए आग के शोलों के नीचे भी वह हँस रहा था। मस्तक पर आग जल रही थी तथा अन्तर्मन में चिन्तन-मनन चल रहा था। शरीर लपटों से जल रहा था पर वह क्षमा एवं सहिष्णुता का देवता उस समय भी मुस्करा रहा था। यह अलंकार की भाषा नहीं, जीवन का वास्तविक तथ्य है। जिसने ध्यान-साधना को सिद्ध कर लिया, वह साधक देह में रह करके भी देहातीत स्थिति में पहुँच जाता है और ऐसे अलबेले साधक ध्यानाग्नि से कर्मों को ध्वस्त कर देते हैं। गजसुकुमाल जैसे वरिष्ठ साधक बौद्ध और वैदिक पर-म्परा में ढूंढने पर भी मिल नहीं सकते। बड़ा अद्भुत और अनूठा कृतित्व है उसका! श्रीकृष्ण के लघुभ्राता होने पर भी वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में उनका उल्लेख नहीं है। गजसुकुमाल की कथा इतनी अत्यधिक लोकप्रिय हुई कि अन्तकृद्दशांग के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा राज-स्थानी एवं गुजराती कथा साहित्य में विविध लेखकों ने इस पर अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी हैं।

सुमुख आदि कुमार

अन्तकृद्दशांग सूत्र के वर्ग तीसरे अध्ययन नौ से तेरह में सुमुखादि

कुमारों का वर्णन है। सुमुखकुमार बलदेव के पुत्र थे तथा दुर्मुख, कूपदारक और दारुक—ये क्रमशः बलदेव तथा वसुदेव के पुत्र थे। जालि, मयालि, उवयाली, पुरुषसेण, वारिषेण, प्रद्युम्नकुमार, शाम्बकुमार, अनिरुद्धकुमार, सत्यनेमिकुमार, दृढ़नेमिकुमार इन दसों राजकुमारों में पूर्व के पाँच राजकुमार वसुदेव के पुत्र थे तथा प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार के पिता श्रीकृष्ण थे। अनिरुद्धकुमार के पिता प्रद्युम्न थे। सत्यनेमि और दृढ़नेमि के पिता समुद्रविजय थे। ये सभी राजकुमार भगवान् अरिष्टनेमि के उपदेश को श्रवण कर राजवैभव का परित्याग कर साधना के महा राजमार्ग को स्वीकार करते हैं और वीर सेनानी की भाँति आगे बढ़कर अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इन राजकुमारों के उल्लेख भी इतर साहित्य में अनुपलब्ध हैं। ये कथाएँ जैन साहित्य की ही अपनी देन हैं।

थावच्चापुत्र

ज्ञातासूत्र श्रुतस्कंध प्रथम अध्ययन पाँचवें में थावच्चापुत्र की दीक्षा का वर्णन है। मुनिश्री जीवराज जी ने "थावच्चापुत्र रास" नामक ग्रन्थ में उनके जीवन का एक प्रसंग दिया है। उस प्रसंग का मूल स्रोत कहाँ है? यह अन्वेषणीय है। थावच्चापुत्र का यह नाम उनकी माता के नाम पर पड़ा है। उनका असली नाम क्या था? यह कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है। वह सार्थवाह का पुत्र था। वह बाल्यकाल से ही चिन्तनशील था। वह जो भी देखता, सुनता उसके सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन करता। जब तक सही तथ्य का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसे चैन नहीं पड़ता।

एक समय प्रातःकाल का सुनहरा प्रभात दिल को लुभा रहा था। मंगल गीतों की मधुर ध्वनि पड़ोसी के घर से आ रही थी। वह एकाग्र होकर गीतों को सुनने लगा। उसे गीतों की स्वर लहरियाँ अत्यन्त प्रिय लगीं। उसने माँ से जिज्ञासा की—माँ! इतने सुन्दर और मधुर गीत पड़ौस में क्यों गाये जा रहे हैं। माँ ने बताया—वत्स! पड़ोसी के यहाँ पुत्र पैदा हुआ है? उसकी प्रसन्नता में ये गीत गाये जा रहे हैं। माँ! क्या मेरे जन्म के समय भी इसी प्रकार गीत गाये गये थे?

माँ ने अपने लाड़ले को चूमते हुए कहा—वत्स! केवल गीत ही नहीं गाये गये, बाजे भी बजाये गये, और बहुत बड़ा उत्सव किया गया। माँ! ये गीत मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। तू भी ऊपर की छत पर चल और गीतों का आनन्द ले। माँ ने कहा—मुझे समय नहीं है, तू ही जाकर सुन

ले। थावच्चापुत्र ऊपर आया, किन्तु उसे सुमधुर स्वर लहरियों के स्थान पर कर्ण-कटु आक्रन्दन सुनाई दिया और साथ ही भयावना-सा कोलाहल भी उसके कानों में गिरा। उसका मन रुँआसा होने लगा। वह उल्टे पैरों लौटकर माता के पास पहुँचा। माँ! जो गीत पहले सुहावने लगते थे, वे अब डरावने क्यों लग रहे हैं? माँ ने पड़ोसी की आकस्मिक विपत्ति को समझ लिया और उसकी आँखों से भी आंसू छलक पड़े। माँ ने अपने अबोध बालक को गले लगाते हुए कहा--वत्स! जिस पुत्र का उत्सव मनाया जा रहा था, वह पुत्र मर गया। इसीलिए गायन रुदन के रूप में बदल गया। प्रसन्नता के स्थान पर शोक की काली घटाएँ छा गयीं।

माँ! क्या मैं भी एक दिन इसी तरह मर जाऊँगा? माँ ने उसके मुँह को चूमते हुए कहा—तू मेरी आँखों का तारा है, नयनों का सितारा है। तू क्यों मरेगा? मरेंगे तेरे दुश्मन! थावच्चापुत्र के भोले-भाले चेहरे पर वही जिज्ञासा चमक रही थी। अन्त में माँ को कहना पड़ा—वत्स! एक दिन सभी को मरना है। पर सलौने बेटे ऐसी बात नहीं किया करते। मन में यह प्रश्न पनपता रहा और एक दिन अर्हत् अरिष्टनेमि की वाणी को श्रवण कर साधना के महामार्ग पर बढ़ने के लिए वह तत्पर हो गया। श्रीकृष्ण ने उसका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया। वासुदेव श्रीकृष्ण की उत्कट धार्मिक भावना इसमें उजागर हो रही है। श्रीकृष्ण, वासुदेव जैसे वरिष्ठ पद के धनी होते हुए भी साधना के प्रति उनके अन्तर्मानस में कितनी श्रद्धा थी? यह इससे स्पष्ट होता है।

थावच्चापुत्र के अन्तर्मानस में वैराग्योत्पत्ति का मूल कारण मृत्यु-दर्शन है, तो तथागत बुद्ध के जीवन में भी वैराग्योत्पत्ति का एक कारण मृत्यु-दर्शन है। मृत्यु, जीवन का अन्तिम सत्य है। यदि व्यक्ति इसे समझ ले तो वह भोग के दलदल में फँस ही नहीं सकता। यह कथा अत्यन्त प्रेरणादायी है।

रथनेमि एवं राजीमती

उत्तराध्ययन सूत्र के बाईसवें अध्ययन में श्रमण रथनेमि और राजीमती का वर्णन है। रथनेमि भगवान् अरिष्टनेमि के लघुभ्राता थे। रथनेमि का आकर्षण राजीमती की ओर प्रारम्भ से ही रहा। जब भगवान् अरिष्टनेमि ने राजीमती को बिना विवाह किये ही छोड़ दिया तो रथनेमि उसके साथ विवाह करने के लिए लालायित हो उठे और अपनी भावना राजीमती

के सामने व्यक्त करने लगे। राजीमती ने वमन कर उसे पीने के लिए कहा। रथनेमि ने क्रुद्ध होकर कहा, क्या तू मेरा अपमान करती है? राजीमती ने कहा—भाई के द्वारा वमन किये हुए को ग्रहण करना क्या तुम्हारे लिए उपयुक्त है? रथनेमि का विवेक जागृत हो उठा। यहाँ एक प्रश्न चिन्तनीय है। वह यह है—अर्हत् अरिष्टनेमि के दीक्षा लेने के पश्चात रथनेमि ने भी दीक्षा ग्रहण की। आवश्यनिर्युक्ति[1] वृत्ति और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[2] में लिखा है—रथनेमि चार सौ वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे, एक वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और पाँच सौ वर्ष केवली पर्याय में। उनका नौ सौ वर्ष का आयुष्य हुआ। इसी तरह कुमारावस्था छद्मस्थ अवस्था और केवली अवस्था का विभाग करके राजीमती ने भी उतने ही आयुष्य का उपभोग किया।[3]

अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमारावस्था में रहे, सात सौ वर्ष छद्मस्थ व केवली अवस्था में रहे। इस तरह उन्होंने एक हजार वर्ष का आयुष्य भोगा।[4]

---

१ (क) निर्युक्ति—रहनेमिस्स भगवओ, गिहत्थए चउर हुंति वाससया।
संवच्छरछउमत्थो, पंचसए केवली हुंति॥
नववाससए वासा-हिए उ सव्वाउगस्स नायव्वं।
एसो उ चेव कालो, राव (य) मईए उ नायव्वो॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ६, पृ ४९९

(ख) तत्र चत्वारि वर्षशतानि गृहस्थपर्यायः, वर्षं छद्मस्थपर्यायः वर्ष शतकपञ्चकं केवलिपर्याय इति, मिलितानि नव वर्ष शतानि वर्षाधिकानि सर्वाऽऽयुरभिहितम्। —अभिधान. भा. ६, पृष्ठ ४९९

२ चतुरब्दशतो गेहे छद्मस्थो वत्सरं पुनः।
केवली पञ्चाब्दशतीमित्यायुरथनेमिनः॥ —त्रिषष्टि० ८।१२।११२

३ ईदृगायुः स्थिती राजीमत्यप्यासीत्तपोधना।
कौमार-छद्मवासित्व, केवलित्व विभागतः॥ —त्रिषष्टि० ८।१२।११३

४ (क) तिन्नेव य वाससया कुमारवासो अरिट्ठनेमिस्स।
सत्त य वाससयाइं सामण्णे सोइ परियाओ। —आवश्यकनिर्युक्ति ३२०

(ख) कल्पसूत्र, सूत्र १६८, पृ० २३८ श्री देवेन्द्रमुनि सम्पादित

(ग) अरिष्टनेमेस्त्रीणि वर्षशतानि कुमारवासः, राज्यानभ्युपगमात् राज्यपर्याया-भावः सप्त वर्षशतानि भवति श्रामण्य पर्यायः।
—आवश्यकमलयगिरीवृत्ति, पृष्ठ २१३

जिज्ञासा यह है—रथनेमि भगवान अरिष्टनेमि के लघुभ्राता हैं, भगवान तीन सौ वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे, तथा रथनेमि और राजीमती चार सौ वर्ष। राजीमती और अरिष्टनेमि के निर्वाण में सिर्फ चौपन दिन का अन्तर है। चौपन दिन के अन्तर का उल्लेख कवियों की रचना में मिलता है।[1] यदि इस उल्लेख को प्रामाणिक माना जाय तो यह स्पष्ट है कि राजीमती का दो सौ वर्ष तक दीक्षित न होना तथा गृहस्थाश्रम में रहना चिन्तनीय विषय है। विज्ञों को इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र की सुखबोधा वृत्ति[2] तथा वादी वेताल शान्तिसूरि रचित बृहद्वृत्ति,[3] मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के भव-भावना ग्रन्थ[4] की दृष्टि से भगवान अरिष्टनेमि के प्रथम प्रवचन को श्रवण कर राजीमती दीक्षा ग्रहण करती है और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के[5] अनुसार गजसुकुमाल मुनि के मोक्ष जाने के पश्चात् राजीमती, नन्द की कन्या एकवासा तथा यादवों की अनेक महिलाओं के साथ दीक्षा ग्रहण करती हैं। राजीमती यह सोचने लगी कि भगवान् अरिष्टनेमि धन्य हैं, जिन्होंने मोह को जीत लिया। मुझे धिक्कार है, जो मैं मोह के दलदल में फँसी हूँ। इसलिए मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ग्रहण करूं। इस प्रकार राजीमती ने दृढ़ संकल्प कर कंघी से संवारे हुए काले केशों को उखाड़ डाला। श्रीकृष्ण ने आशीर्वाद दिया—हे कन्ये ! इस भयंकर संसार रूपी सागर से तू

---

१ (क) नेमवाणी, पृ० २२३ सं०—पुष्कर मुनिजी महाराज।
(ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ५, पृष्ठ २७४

२ परितुट्ठमणा य रायमई वि पत्ता समोसरणं।
—उत्तराध्ययन सुखबोधा—पृ० २८१

३ इत्थं चासौ तावदवस्थिता यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम, तत उत्पन्न केवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्न वैराग्या किं कृतवतीत्याह 'अहे' त्यादि।
—बृहद्वृत्ति पत्र ४९३

३ भव-भावना—३७१६, १७, पृष्ठ १५६

४ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, ८/१०/१४८

शीघ्र तिर जा ।[1] रथनेमि ने भी उसी समय भगवान् के पास संयम ग्रहण किया ।[2]

एक दिन की घटना है—बादलों की गड़गड़ाहट से दिशायें कांप रही थीं । बिजलियां कौंध रही थीं । रेवतक का वनप्रान्तर सांय-सांय कर रहा था । साध्वी समूह के साथ राजीमती रेवतक गिरि पर चढ़ रही थी । एकाएक छमाछम वर्षा होने लगी । साध्वी समूह आश्रय की खोज में इधर-उधर बिखर गया । बिछुड़ी हुई राजहंसिनी की तरह राजीमती ने एक अन्धेरी गुफा का शरण लिया । राजीमती ने एकान्त स्थान निहार कर सम्पूर्ण गीले वस्त्र उतार दिये और उन्हें सूखने के लिए फैला दिया ।

राजीमती की फटकार से प्रबुद्ध बना हुआ रथनेमि श्रमण बनकर उसी गुफा में पहले से ही ध्यान मुद्रा में अवस्थित था । बिजली की चमक में निर्वस्त्र राजीमती को निहार कर रथनेमि विचलित हो गया । राजीमती की भी दृष्टि रथनेमि पर पड़ी । वह अपने अंगों का गोपन कर बैठ गई । कामविह्वल रथनेमि ने मधुर स्वर से कहा—हे सुरूपे ! मैं तुझे प्रारंभ से ही चाहता रहा हूँ । तू मुझे स्वीकार कर ! मैं तेरे बिना जीवन धारण नहीं कर सकता । तू मेरी मनोकामना पूर्ण कर, फिर समय आने पर हम दोनों संयम ग्रहण कर लेंगे ।

राजीमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल ध्वस्त हो गया है । वे वासना से विह्वल होकर संयम से च्युत होना चाहते हैं । उसने कहा—तुम चाहे कितने भी सुन्दर हो, पर मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती । अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प मर जाना पसन्द करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष का पान नहीं करते । फिर तुम इस प्रकार की इच्छा क्यों कर रहे हो ? जैसे अंकुश से हाथी वश में हो जाता है वैसे ही रथनेमि का मन संयम सुस्थिर हो गया ।

---

१ (क) वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं ।
संसार सागरं घोरं, तर कन्ने ! लहु-लहुं ॥ —उत्तराध्ययन, २२/३१

(ख) उत्तराध्ययन २२/३०

२ (क) उत्तराध्ययन २२/३२ (ख) उत्तराध्ययन सुखबोध २८१

यह कथा-प्रसंग नारी की महत्ता को उजागर करता है। नारी सदा मानव की पथ-प्रदर्शिका रही है। जब मानव पथ से विचलित हुआ, तब नारी ने उसका सच्चा पथ-प्रदर्शित किया। जैसे—ब्राह्मी और सुन्दरी ने बाहुबली को अहंकार के गज से उतरने की प्रेरणा दी।

इस तरह अरिष्टनेमि के युग के अनेक श्रमणों का निरूपण इस अध्याय में हुआ है। इसके पश्चात पुरुषादानीय भगवान् पार्श्व के तीर्थ में अंगति, सुप्रतिष्ठित, पूर्णभद्र आदि की बहुत ही संक्षेप में कथायें हैं। जित-शत्रु और सुबुद्धि प्रधान की कथा भी इसमें दी गई है। इस कथा में दुर्गन्ध-युक्त जल को विशुद्ध बनाने की पद्धति पर चिन्तन किया है। आधुनिक युग की फिल्टर पद्धति भी उस युग में प्रचलित थी। विश्व में कोई भी पदार्थ एकान्त रूप से न पूर्ण शुभ है और न पूर्ण रूप से अशुभ ही है। प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ में परिवर्तित हो जाता है तथा प्रत्येक पदार्थ अशुभ से शुभ में परिवर्तित हो सकता है। अतः अन्तर्मानस में किसी के प्रति घृणा करना अनुचित है। यह बात प्रस्तुत कथानक में स्पष्ट की गई है।

यहाँ पर एक बात स्मरण रखने योग्य है—भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर इन दो तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष बावीस तीर्थंकरों के श्रमण चातुर्याम महाव्रत के पालक थे। पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणोपासक द्वादश व्रतों को ही धारण करते थे। उनके लिए पांच ही अणुव्रत थे, चार नहीं।[1]

नमि राजर्षि

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन नौवें में नमि राजर्षि का वर्णन है। श्रमण वही बनता है, जिसे बोधि प्राप्त हो। वह बोधि तीन प्रकार की है, जो स्वयं प्राप्त होती है वह "स्वयंबुद्ध" है, जिसे किसी घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त होती है वह "प्रत्येकबुद्ध" है और जो बोधि प्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधिलाभ करते हैं वे "बुद्धबोधित" हैं।[2] नमि राजर्षि प्रत्येकबुद्ध हैं।

---

१ "तए णं सुबुद्धी जियसत्तुस्स विचित्तं केवलिपण्णत्तं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ""तं इच्छामि णं तव अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
—धर्मकथानुयोग, पृष्ठ ५४ सू. २२४

२ नन्दीसूत्र, २०

विदेह राज्य में दो नमि हुए और वे दोनों स्वयं के राज्य का परित्याग कर श्रमण बने। एक तीर्थंकर हुए और एक प्रत्येकबुद्ध हुए।[1] सुदर्शनपुर में मणिरथ का राज्य था। युगबाहु उसका कनिष्ठ भ्राता था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मणिरथ ने माया से युगबाहु को मार डाला। उस समय मदनरेखा गर्भवती थी। शील-रक्षा के लिए वह वन में चली गई। उसने वन में पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र को राजा पद्मरथ मिथिला ले गया और उसका नाम 'नमि' रखा। वह मिथिला का राजा बना। एक बार वह दाह-ज्वर से संत्रस्त हुआ। छह माह तक दाह-ज्वर की उपशान्ति के लिए विविध प्रकार के उपचार किये गये। स्वयं रानियाँ चन्दन घिसतीं और नमि के शरीर पर विलेपन करतीं। उनके हाथों में पहने हुए कंगनों की ध्वनि से नमि का सिर चढ़ गया। रानियों ने सौभाग्य-चिन्ह स्वरूप एक-एक कंगन हाथों में रखकर शेष कंगन उतार दिये।

नमि सोचने लगे—जहाँ दो हैं, वहाँ द्वन्द्व है, दुःख है। अकेलेपन में सुख है। विरक्तिभाव आगे बढ़ा, वे प्रव्रजित हुए।[2] नमि को अकस्मात् प्रव्रजित होते देखकर इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर नमि को लुभाने के लिए प्रबल प्रयास करता है। उन्हें कर्त्तव्यबोध का पाठ पढ़ाना चाहता है। नमि राजर्षि ब्राह्मण को अध्यात्म की गहरी बातें बताते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी चार प्रत्येकबुद्धों का वर्णन है। पर उनके जीवन-चरित्र तथा बोधि-प्राप्ति के निमित्तों के उल्लेख में पृथकता है।[3] डिक्सनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स ग्रन्थ में[4] दो प्रकार के बुद्ध बताये हैं—प्रत्येकबुद्ध और सम्मासम्बुद्ध! जो अपने आप ही बोधि को प्राप्त करते हैं पर संसार को उपदेश प्रदान नहीं करते, वे "प्रत्येकबुद्ध" हैं। इन्हें उच्च आत्मदृष्टि पैदा होती है। वे जीवनपर्यन्त अपनी उपलब्धि का वर्णन नहीं करते, इसलिए वे "मौनबुद्ध" भी कहलाते हैं। वे दो हजार असंख्येय कल्प तक पारामी' की साधना करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और गाथापति के

---

१ दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइं पयहिऊण पव्वइया।
एगो नमितित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो अ॥
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २६७

२ उत्तराध्ययन, सुखबोधावृत्ति, पत्र १३६ से १४३।

३ कुम्भजातक, सं ४०८, जातक खण्ड ४, पृ० ३९

४ डिक्सनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग २, पृष्ठ २९४

कुल में उन्हें समस्त ऋद्धि, सम्पत्ति, प्रतिसम्पदा उपलब्ध होती है। उनका तथागत बुद्ध से कभी साक्षात्कार नहीं होता। वे एक साथ अनेक हो सकते है। बौद्ध ग्रन्थों में नमि की तरह ही प्रत्येकबुद्ध का प्रसंग है।[1] वह इस प्रकार है—

विदेह राष्ट्र में मिथिला नगरी का निमि नाम का राजा था। गवाक्ष में बैठा हुआ राजा राज-पथ को निहार रहा था। एक चील मांस के टुकड़े को लेकर अनन्त आकाश में उड़ी जा रही थी। गिद्ध पक्षियों ने देखा, वे मांस के टुकड़े की छीना-झपटी करने लगे। चील के मुँह से मांस का टुकड़ा छूट गया। दूसरे पक्षियों ने उसे ग्रहण किया। अन्य पक्षी उसके पीछे पड़ गये। निमि राजा ने सोचा—जो कामभोगों को ग्रहण करता है, वह दुःख पाता है। मेरे सोलह हजार स्त्रियाँ हैं: मुझे काम-भोगों का परित्याग कर सुखपूर्वक रहना चाहिए।

नमि प्रव्रज्या की आंशिक तुलना हम "महाजनक जातक" से भी कर सकते हैं। वह प्रसंग इस प्रकार है—मिथिलानगरी में महाजनक राजा था। उसके अरिट्ठजनक और पोलजनक ये दो पुत्र थे। राजा की मृत्यु के बाद अरिट्ठजनक राजा हुआ। कुछ समय के बाद दोनों भाइयों में मनमुटाव हो गया। पोलजनक ने प्रत्यन्त ग्राम में जाकर सेना इकट्ठी की और भाई को युद्ध के लिए ललकारा। युद्ध में अरिट्ठजनक मारा गया। पति की मृत्यु से पत्नी को आघात लगा। वह राजमहल को छोड़ कर निकल गई। वह गर्भवती थी, उसने पुत्र को जन्म दिया। पितामह के नाम पर उसका नाम भी महाजनक रखा। बड़े होने पर वह पिता के राज्य को लेने के लिए पहुँचा। पोलजनक की मृत्यु हो चुकी थी। उसके कोई सन्तान नहीं थी, अतः महाजनक राजा बन गया। सीवलीकुमारी से उसका पाणिग्रहण हुआ। दीर्घायु नामक पुत्र हुआ। एक दिन महाजनक उद्यान में गये, वहाँ आम के दो वृक्ष थे। एक आम से लदा हुआ था और दूसरा ठूंठ की तरह खड़ा था। राजा ने एक बढ़िया पके फल को तोड़ा। राजा के पीछे चलने वाले सभी

---

१ कुम्भजातक, सं ४०८, जातक खण्ड ४, पृष्ठ ३९

२ देखिए—उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन—मुनि नथमलजी।

सैनिकों ने फल तोड़े। जिससे वह आम्र वृक्ष भी ठूंठ की तरह हो गया। वन परिभ्रमण करके राजा लौटा। उसने देखा—जो वृक्ष पहले हरा भरा एवं फलों से लदा हुआ था, वह अब फल एवं पत्तों से रहित खड़ा था राजा ने माली से पूछा—यह वृक्ष फल-रहित कैसे हुआ ? माली ने सारी बात बता दी। राजा सोचने लगा—जो फलदार होते हैं, वे नौंचे जाते हैं। यह राज्य भी फलदार वृक्ष की तरह है, जो एक दिन नौंचा जाएगा। वह प्रतिबुद्ध हुआ। राजप्रासाद में रहते हुए भी वह विरक्त हो गया। उसे राजप्रासाद नरक की तरह प्रतीत होने लगा, वह चिन्तन करने लगा—मैं मिथिला को छोड़कर कब प्रव्रजित होऊँगा ? रानियों ने रोकने का प्रयास किया। सीवली देवी ने एक उपाय खोजा। उसने महासेनारक्षक को बुलाकर आदेश के स्वर में कहा—तात ! राजा के जाने के मार्ग पर जो आगे-आगे पुराने घर हैं, जीर्णशालाएँ हैं, उनमें आग लगा दो। जहाँ-तहाँ घास-पत्ते जलाकर धुआँ पैदा कर दो। वैसा ही किया गया। सीवली देवी ने राजा से नम्र निवेदन करते हुए कहा—"घरों में आग लग रही है, ज्वालाएँ निकल रही हैं, खजाने जल रहे हैं, सोना-चांदी, मणि-मुक्ता सभी जलकर नष्ट हो रहे हैं। हे राजन् ! आप आकर उनको रोकने का प्रयास करें।" राजा महाजनक ने प्रत्युत्तर में कहा—

"सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ ॥

"मेरे पास कुछ भी नहीं है, मैं सुखपूर्वक जीता हूँ। मिथिला नगरी के जलने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता।"

"सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
रट्ठे विलुप्पमानम्हि न मे किंचि अजीरथ ॥
सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभास्सरा यथा।"

"मेरे पास कुछ भी नहीं है, मैं सुखपूर्वक जीता हूँ। राष्ट्र के नष्ट होने से मेरी कुछ भी हानि नहीं।"

"मेरे पास कुछ भी नहीं है, मैं सुखपूर्वक जीता हूँ। जैसे—अभास्वर देव हैं, वैसे ही हम प्रीतिभक्षक होकर रहेंगे।"

सभी का परित्याग कर राजा आगे बढ़ गया। देवी भी साथ ही थी। वे नगरद्वार पर पहुँचे। एक लड़की बालू रेती को थपथपा रही थी। उसके एक हाथ में कंगन था, वह बज रहा था। राजा ने पूछा—एक हाथ में

कंगन क्यों बज रहा है ? उसने कहा—एक हाथ में दो कंगन हैं, परस्पर रगड़ने से शब्द होता है। जो अकेला है, वह शब्द नहीं करता। विवाद का मूल दो है।[1]

राजा आगे बढ़ा। एक उसुकार (बांस-फोड़) एक आंख को बन्द कर देख रहा था। राजा ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—तुम ऐसा क्यों देख रहे हो ? उसने कहा—दोनों आंखों से देखने पर रोशनी फैल जाती है, जिससे टेढ़ी जगह का पता नहीं लगता। एक आंख के बन्द करने से टेढ़ापन स्पष्ट दिख जाता है और बांस सीधा किया जाता है।[2]

रानी सीवली पीछे-पीछे चल रही थी। राजा ने मूंज के तिनके से रेखा को खींचकर कहा—अब इसे मिलाया नहीं जा सकता। इसी तरह से मेरा और तेरा साथ नहीं हो सकता। रानी पुनः लौट गई। महाजनक अकेले आगे चले गये। यह कथा जातक में बहुत ही विस्तार के साथ दी गई है। हमने संक्षेप में सार प्रस्तुत किया है। पूर्णरूप से कथा समान न होने पर भी दोनों का प्रतिपाद्य प्रायः समान सा है। दोनों ही कथाओं में ये विचार प्रतिपादित किये गये हैं—अन्यान्य आश्रमों से संन्यासाश्रम श्रेष्ठ है।[3] सन्तोष त्याग में है, भोग में नहीं।[4] सुख का मूल एकाकीपन है, और दुःख का मूल द्वन्द्व है।[5] सुख अकिंचनता में है।[6] साधना में विघ्न हैं—कामभोग।[7]

दोनों ही कथा-वस्तुओं में अनेक प्रसंग एक सदृश हैं। जैसे—'सम्पत्ति से युक्त मिथिला नगरी का परित्याग कर प्रव्रजित होना, मिथिला को प्रज्वलित बताकर प्रव्रज्या से विचलित करने का प्रयास करना, "मिथिला के जलने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।" इस तरह ममत्व-रहित भाव व्यक्त करना दोनों ही कथा-वस्तुओं में है। जैनकथा-वस्तु की दृष्टि से इन्द्र नमि राजर्षि की परीक्षा करने आता है तो जातक की दृष्टि से सीवली देवी महाजनक राजा की परीक्षा करती है। जैनकथा की दृष्टि से मिथिला-

---

१. जातक ५३९, श्लोक १५८-१६१ २. जातक ५३९, श्लोक १६६-१६७.

३. (क) उत्तराध्ययन ९/४४ (ख) जातक २५-११५

४. (क) वही ९/४८, ४९ (ख) वही १२२

५. (क) वही ९/१६ (ख) वही १६१-१६८

६. (क) वही ९/१४ (ख) वही १२५

७. (क) वही ९/२३ (ख) वही १३२

नरेश कंकण के शब्दों को सुनकर प्रतिबुद्ध होते हैं तो बौद्ध दृष्टि से मिथिला-नरेश आम्र वृक्ष को देखकर प्रतिबोधित होते हैं।

सोनक जातक में भी कुछ प्रसंग इससे मिलते-जुलते हैं।[1]

महाभारत में माण्डव्य मुनि और जनक का मधुर संवाद है। भीष्म पितामह से युधिष्ठिर ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—तृष्णा क्षय का उपाय बताइए। भीष्म पितामह ने कहा—राजन्! माण्डव्य मुनि ने यही जिज्ञासा प्रस्तुत की थी विदेहराज जनक से। उन्होंने समाधान करते हुए कहा[2]—

"सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥"

"मैं बहुत ही सुख से जीवनयापन कर रहा हूँ। इस विश्व में कोई भी वस्तु नहीं मेरी है। मिथिला नगरी के प्रज्वलित होने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता है।"

जो विवेकी व्यक्ति हैं, उन्हें समृद्धि से युक्त विषय भी दुःखरूप ज्ञात होते हैं। अज्ञानी व्यक्ति विषय में लिप्त रहते हैं। जो कामजनित सुख हैं, वे तृष्णा क्षय होने पर सुख की सोलहवीं कला की तुलना भी नहीं कर सकते। उन्होंने आगे कहा—धन की अभिवृद्धि के साथ तृष्णा की भी अभिवृद्धि होती है। ममकार ही दुःख का कारण है। भोग और आसक्ति से दुःख में अभिवृद्धि होती है। तृष्णा को छोड़ना अत्यन्त कठिन है। जो तृष्णा का परित्याग करता है, वह सुख के सागर पर तैरता है। इस तरह उत्तराध्ययन के प्रस्तुत कथा प्रसंग के साथ महाभारत में वर्णित इस संवाद की आंशिक तुलना की जा सकती है।

दूसरा प्रसंग यह है—एक बार भीष्म ने कहा—धन की तृष्णा से दुःख और उसकी कामना के त्याग से परमसुख प्राप्त होता है। यह बात जनक ने भी कही है[3]—

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किञ्चन॥

---

१. सोनक जातक, संख्या ५२९, जातक भाग ५, पृ. ३३१-३४६.

२. महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय २७६, श्लोक ४

३. महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय १७८, श्लोक २.

"मेरे पास असीम धन-सम्पदा है। तथापि मेरा किंचित् मात्र भी नहीं है। मिथिला नगरी के प्रदीप्त होने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता है।"

यहाँ हमने तुलनात्मक दृष्टि से देखा कि एक ही कथावस्तु विविध धर्मग्रन्थों में अपनी मान्यता और सिद्धान्त के अनुसार ढाल दी गई है। जातक कथा का गद्य भाग अर्वाचीन है। 'राइस डेविड्स' ने जातकों के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—बौद्ध साहित्य के नौ विभागों में जातक एक विभाग है। पर वह विभाग आज जो जातक प्रचलित हैं, उससे बिल्कुल भिन्न है। प्राचीन जातक के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन जातक का अधिकांश भाग किसी एक ढाँचे में ढला हुआ नहीं था। उसमें पद्य-भाग था। वे केवल काल्पनिक कथाएँ (Fables), उदाहरण (Parables) और आख्यायिकाएँ (Legends) मात्र थे। दूसरी बात यह है कि जो वर्तमान में जातक उपलब्ध हैं, वे प्राचीन जातक के अंशमात्र है।[1]

अपन्नक (सं० १), मखादेव (सं० ९), सुखविहारी (सं० १०), तित्तिर (सं० ३७), लित्त (सं० ९१), महा-सुदस्सन (सं० ९५), खण्डावट्ट (सं० २०३) मणि-कण्ठ (सं० २५०), बक-ब्रह्म (सं० ४०५) आदि जातकों के सूक्ष्म अध्ययन से राइस डेविड्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्ध से पूर्व भी जन-कथायें इन जातकों में थी। ये बुद्ध से भी प्राचीन हैं। ये जातक केवल बौद्धमत की ही नहीं हैं, ये भारतीय लोक-कथाओं के संग्रह हैं। बौद्धविज्ञों ने अपने-अपने आचार-विचार के अनुसार कुछ परिवर्तन कर इसे अपनाया।[2] इससे यह स्पष्ट है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले कई कथायें प्रचलित थीं। जिन कथाओं को भारत की जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों धाराओं ने अपनाया।

इन सभी कथाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि एक परम्परा ने दूसरी परम्परा का अनुसरण किया है। पर किस परम्परा ने किसका अनुसरण किया, यह अन्वेषणीय है।

ऋषभदत्त और देवानन्दा

भगवती शतक नौवाँ, उद्देशक तेतीस में ऋषभदत्त और देवानन्दा

---

१. Buddhist India. pp. 196-197.

२. Ibid, p. 197.

का पावन प्रसंग है। एक बार भगवान् महावीर धर्म की दिव्य-ज्योति जगाते हुए ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पहुँचे और चैत्य में विराजे। बहुसाल चैत्य ब्राह्मणकुण्ड एवं क्षत्रियकुण्ड के बीच में था। दोनों कुण्डपुरों की जनता भगवान् के प्रवचन-श्रवणार्थ उपस्थित हुई। ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण रहता था। आचारांग[1], कल्पसूत्र[2], आवश्यकचूर्णि[3] में उसे केवल ब्राह्मण लिखा है। पर भगवती[4] में उसे चार वेदों के ज्ञाता के साथ श्रमणोपासक भी लिखा है। वह अपनी पत्नी देवानन्दा के साथ भगवान् को वन्दन के लिए पहुँचा। भगवान् महावीर को देखकर देवानन्दा को अपार प्रसन्नता हुई। उसके स्तनों से दूध की धारा छूटने लगी। आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। गौतम ने भगवान् से जिज्ञासा की—भगवन् ! इसके स्तनों से दूध की धारा क्यों छूटने लगी है ? आँखों से अश्रु क्यों बह रहे हैं। भगवान ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है। मैं इसका पुत्र हूँ।[5] भगवान् ने गर्भ परिवर्तन की सारी घटना सुनाई। इसके पूर्व भगवान् महावीर के गर्भ परिवर्तन की बात किसी को ज्ञात नहीं थी। देवानन्दा और ऋषभदत्त के साथ सारी परिषद आश्चर्यचकित हो गई। उसके पश्चात भगवान् के धर्मोपदेश को सुनकर ऋषभदत्त ने दीक्षा ग्रहण की तथा विविध तप का अनुष्ठान कर एक मास की संलेखना द्वारा आत्मा को भावित करते हुए मोक्ष प्राप्त किया। इसी तरह देवानन्दा भी दीक्षित होकर मुक्त हुई।

बाल तपस्वी मौर्यपुत्र और तामली अणगार

प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत भगवतीसूत्र शतक तीन, उद्देशक प्रथम है। भगवान् महावीर का समवसरण मोका नगरी में लगा हुआ था। ईशानेन्द्र भगवान् के दर्शनार्थ आये। उन्होंने बत्तीस प्रकार के नाट्य किये। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की, यह अपूर्व ऋद्धि इन्हें कैसे प्राप्त हुई ?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—ताम्रलिप्ति नगर में तामली

---

१. आचारांग २, पृष्ठ २४३, बाबू धनपतसिंह
२. कल्पसूत्र, सूत्र ७, पृष्ठ ४३, देवेन्द्रमुनि सम्पादित
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २३६
४. भगवती ९/६/३८०, पत्र ८३७.
५. धम्मकहाणुओगे, बितियो खंधो, पृष्ठ ५८/२५४.

नामक मौर्यपुत्र था। उसके पास विराट् सम्पत्ति थी। एक दिन उस विराट् वैभव का परित्याग कर उसने 'प्राणामा' प्रव्रज्या ग्रहण की और यह अभिग्रह धारण किया कि मैं छट्ठ छट्ठ तप करूँगा तथा सूर्य के सम्मुख दोनों हाथ ऊँचे कर आतापना लूँगा। पारणे के दिन आतापना पात्र भूमि से नीचे उतरकर, लकड़ी का पात्र हाथ में लेकर शुद्ध ओदन ग्रहण करूँगा और फिर उसे इक्कीस बार धोकर उसे आहार के रूप में उपयोग में लूँगा। प्राणामा प्रव्रज्या का धारक होने से वह इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, आर्या, चण्डिका, राजा, मन्त्री पुरोहित, सार्थवाह, कौवे, कुत्ते, चाण्डाल आदि को जहाँ कहीं भी देखता, उनको प्रणाम करता। ऊँचे आकाश में देखकर ऊँचे तथा नीचे खड्डे आदि में देखकर नीचे प्रणाम करता।

प्राणामा प्रव्रज्या वालों को सूत्रकृतांग[1] में विनयवादी कहा है। औपपातिक[2], ज्ञाताधर्मकथा[3] तथा अंगुत्तरनिकाय में[4] विनयवादियों को अविरुद्ध भी कहा है। ये मोक्षप्राप्ति के लिए विनय को आवश्यक मानते थे।[5] उत्तराध्ययन की टीका में[6] भी यह स्पष्ट लिखा है—ये तापस सभी को प्रणाम करते थे। सूत्रकृतांग की टीका में[7] इनके बत्तीस भेद कहे हैं।

तामली तापस ने जब देखा कि उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है तो उसने पास के लकड़ी आदि के उपकरणों को एकान्त स्थान में डाल कर पादपोपगमन संथारा किया। उस समय असुरेन्द्र चमर की राजधानी इन्द्र से रहित थी। असुरकुमार देवों ने अवधिज्ञान से देखकर तामली तपस्वी से प्रार्थना की—आप हमारे इन्द्र बनें! किन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। और ईशानकल्प में ईशानेन्द्र बना। तामली तपस्वी ने साठ हजार वर्ष तक उत्कृष्ट तप की आराधना की थी। उससे वह ईशानेन्द्र बना। प्राचीन आचार्यों का अभिमत है—यदि सज्ञानी (जिनमतानुयायी) इतना

---

१. सूत्रकृतांग १/१२/१
२. औपपातिक, सूत्र ३८, पृष्ठ १६९
३. ज्ञाताधर्मकथा टीका, १५, पृष्ठ १९४
४. अंगुत्तरनिकाय ३, पृष्ठ २७६
५. सूत्रकृतांग १/१२/२ आदि की टीका
६. उत्तराध्ययन टीका १८, पृष्ठ २३०
७. सूत्रकृतांग टीका १/१२, पृष्ठ २०९ अ

उत्कृष्ट तप करता तो उतनी तपस्या से सात जीव मोक्ष में चले जाते। यह सज्ञान (जिनमत के) तप का महत्व है।

आर्द्रकीय मुनि का अन्य तीर्थियों के साथ वाद

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में आर्द्रक का अन्य तीर्थियों के साथ वाद-विवाद का वर्णन है। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के राजकुमार थे।[1] निरुक्तिकार के अनुसार उनके पिता ने राजा श्रेणिक के लिए बहुमूल्य उपहार प्रेषित किये। आर्द्रककुमार ने भी अभयकुमार के लिये उपहार भेजे। आर्द्रककुमार को भव्य और शीघ्र मोक्षगामी समझकर अभयकुमार ने उसके लिए आत्मसाधनोपयोगी उपकरण उपहार में भेजे। उसे निहारते ही आर्द्रककुमार को पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। आर्द्रककुमार का मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। वह अपने देश से निकलकर भारत पहुँचा। दिव्य-वाणी ने उसे संकेत किया कि अभी प्रव्रज्या ग्रहण न करे पर वह उस दिव्य-वाणी की ओर ध्यान न देकर आर्हत् धर्म में प्रव्रजित हो गया। भोगावली कर्मोदयवश दीक्षा परित्याग कर उसे पुनः गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट होना पड़ा। अवधि पूर्ण होने पर उसने पुनः श्रमण वेश अंगीकार किया और जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे, वहां पहुँचने के लिये चल दिया। पूर्वजन्म का स्मरण होने से उसे भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म का बोध था। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के अनुसार आर्द्रक मुनि ने पांच मतवादियों के साथ विवाद किया।[2] वे थे—

(१) गोशालक (२) बौद्धभिक्षु (३) वेदवादी ब्राह्मण (४) सांख्यमत-

---

१. (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, टीका सहित, श्रु० २, अ० ६, प० १३६

(ख) त्रिषष्टि० १०/७/१७७-१७९

(ग) पर्युषणाष्टाह्निका व्याख्यान, श्लो० ५ प० ६

(घ) डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने आर्द्रककुमार को ईरान के ऐतिहासिक सम्राट कुरुष्प [ई० पू० ५५८-५३०] का पुत्र माना है।

—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ६७-६८

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३८५ से ३८८

(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १८७, १९०, १९८, १९९

वादी एकदण्डी[1] और (५) हस्तितापस। आर्द्रकमुनि ने सप्रमाण निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार बहुत ही रोचक व चित्ताकर्षक उत्तर प्रदान किये जिन्हें सुनकर सभी स्तम्भित हो गये। आर्द्रकमुनि ने उन्हें दीक्षित किया। यहां यह भी चिन्तनीय है कि गोशालक आदि विरोधी पक्षों ने श्रमण भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धान्त पर जो आक्षेप किया, उससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर की विद्यमानता में भी उनके प्रति कितनी भ्रान्तियां फैलाई गई थीं और विरोधी उन पर किस तरह आक्षेप करते थे? आर्द्रकमुनि ने तर्क पुरस्सर समाधान कर उनके विरोधों का शमन किया।

अतिमुक्तक कुमार

अन्तकृद्दशा सूत्र वर्ग ६ अध्ययन पन्द्रह में महावीर तीर्थ के अतिमुक्तककुमार श्रमण का वर्णन है। एक बार भगवान् महावीर पोलासपुर में पधारे। उपासकदशांग में पोलासपुर के राजा का नाम जितशत्रु लिखा है[2] तथा उपवन का नाम सहस्राम्रवन लिखा है। अन्तकृद्दशांग में राजा का नाम विजय, रानी का नाम श्रीदेवी तथा उद्यान का नाम श्रीवन लिखा है।[3] हमारी दृष्टि से जितशत्रु, यह राजा का नाम न होकर विशेषण होना चाहिए। अनेक स्थलों पर 'जितशत्रु' इस नाम का उल्लेख हुआ है। अनेक राजाओं का एक ही नाम हो, यह कम सम्भव है। शत्रुओं पर विजय-वैजयन्ती फहराने के कारण उन्हें जितशत्रु के नाम से सम्बोधित करते रहे हों, अस्तु!

भगवान् के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम भिक्षा के लिये परिभ्रमण कर रहे थे। अतिमुक्तककुमार बाल-साथियों के साथ खेल रहा था। शांत-दान्त, मंजुल मूर्ति गौतम को निहार कर अतिमुक्तक ने पूछा—आप क्यों घूम रहे हैं? गौतम ने मन्दस्मित के साथ कहा—हम भिक्षा के लिए परि-

---

१. टीकाकार आचार्य शीलांक ने (२/६/४९) में इसे एकदण्डी कहा है। डा० हरमन जेकोबी ने अपने अंग्रेजी अनुवाद (S.B.E. Vol. XIV. P. 417h. में) इसे वेदान्ती कहा है। प्रस्तुत मान्यता को देखते हुए डा० जेकोबी का अर्थ संगत प्रतीत होता है। टीकाकार ने भी अगली गाथा में यही अर्थ स्वीकार किया है।

२. उपासकदशांग, अध्ययन ७, सूत्र १

३. अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६, अध्ययन १५

भ्रमण कर रहे हैं। उस संस्कारी बालक ने गौतम की अंगुली पकड़ ली और अपने घर चलने के लिए आग्रह करने लगा। महारानी ने जब देखा तो उसका अंग-अंग प्रसन्नता से झूम उठा। अतिमुक्तक ने माता से कहा—इन्हें इतना भोजन दीजिये, जिससे इनको दूसरे घर न जाना पड़े। भिक्षा लेकर गौतम महावीर के समीप पहुँचे। बालक अतिमुक्तक भी साथ ही था। भगवान् महावीर की अमृत-वाणी को सुनकर उसने दीक्षा ग्रहण की/ आचार्य अभयदेव ने लिखा है—उस समय अतिमुक्तक कुमार की उम्र छह वर्ष की थी।[1]

एक बार वर्षा हो चुकी थी। स्थविरों के साथ अतिमुक्तक मुनि विहार-भूमि को निकले। बहते हुए पानी को देखकर बचपन के संस्कार उभर आये। मिट्टी के पाल को बाँधकर उसमें अपना पात्र छोड़ दिया और आनन्द विभोर होकर "तिर मेरी नैया, तिर" इस प्रकार बोल उठे। शीतल मंद पवन चल रहा था। उनकी नैया थिरक रही थी। प्रकृति नटी मुस्करा रही थी। स्थविरों ने अतिमुक्तक मुनि को श्रमण-मर्यादा से विपरीत कार्य करते हुए देखा, उनका अन्तर् का रोष मुख पर झलकने लगा। अतिमुक्तक सम्भल गये। उन्हें अपने कृत्य पर ग्लानि हुई। अन्तर् के पश्चात्ताप से उसने अपने आपको पावन बना दिया। स्थविरों ने भगवान् से पूछा—यह कितने भव में मुक्त होगा? भगवान् ने बताया—यह इसी भव में मुक्त होगा, तुम इसकी निन्दा, गर्हा मत करो। भले ही यह देह से लघु है, पर इसकी अन्तरात्मा बहुत ही विराट् है। अतिमुक्तक कुमार ने उत्कृष्ट तप की आराधना कर मुक्ति को वरण किया।

श्रमण भगवान् महावीर ने अतिमुक्तक कुमार की आन्तरिक तेजस्विता को देखकर दीक्षा प्रदान की थी। जैनधर्म में कहीं पर भी बाल-दीक्षा का निषेध नहीं है, वहाँ अयोग्य दीक्षा का निषेध है। बालक भी उत्कृष्ट प्रतिभा का धनी हो सकता है और युवक तथा वृद्ध भी अयोग्य हो सकता है। जो भी योग्य हो, वह श्रमण-धर्म को स्वीकार कर अपने जीवन

---

१. 'कुमार समणे' त्ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् आह च "छव्वरिसो पव्वइओ निग्गंथ रोइऊण पावयणं" ति, एतदेव चाश्चर्यमिह अन्यथा वर्षाष्टकादाराम्र प्रव्रज्या स्यादिति।—भगवती सटीक, भाग १, श० ५, उ० ४, सू० १८८, पत्र २१९-२०

को साधना की आराधना से चमका सकता है।[1] निशीथभाष्य में बालकों को दीक्षा देने का जो निषेध है, वह अयोग्य बालकों के लिए है।[2] दीक्षा बुभुक्षु व्यक्ति नहीं, किन्तु मुमुक्षु व्यक्ति ग्रहण करता है।

अलक्ष राजा

अन्तकृत्दशासूत्र के वर्ग ६ अध्ययन सोलहवें में महावीर तीर्थ में हुए अलक्ष्य राजा का वर्णन है।

अलक्ष नरेश वाराणसी के अधिपति थे। श्रमण भगवान् महावीर के पावन-प्रवचन को श्रवण कर अपने राज्य सिंहासन पर पुत्र को आसीन कर दीक्षा ग्रहण की तथा उत्कृष्ट तप की आराधना कर मोक्ष प्राप्त किया।

मेघकुमार श्रमण

ज्ञातृधर्म कथा सूत्र के प्रथम अध्ययन में विस्तार के साथ मेघकुमार श्रमण का वर्णन है। मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। भगवान् महावीर के उपदेश को सुनकर दीक्षित हुआ। सबसे लघु होने के कारण सोने के लिए उसे द्वार के पास स्थान मिला। श्रमणों के आने-जाने का मार्ग होने के कारण मेघमुनि के शरीर से सन्तों के पैर टकरा जाते थे। पैरों की धूल से उनके वस्त्र धूल से सन गये। उनको शान्ति से नींद भी नहीं आ सकी, जिससे आँखें लाल हो गयीं और शरीर शिथिल हो गया। भगवान् महावीर ने उन्हें उनका पूर्वभव सुनाकर साधना में स्थिर किया।

तुलना—नन्द के साथ

बौद्ध साहित्य में भी मेघकुमार की तरह सद्यः दीक्षित नन्द का उल्लेख है।[3] वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी नन्दा का स्मरण कर

१. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ४४४ से ४४६.

२. (क) निशीथभाष्य ११, ३५३१/३२.

(ख) तुलना कीजिए—महावग्ग, १-४१-९९, पृष्ठ ८०-८१.

३. (क) सुत्तनिपात—अट्ठकथा, पृष्ठ २७२.

(ख) धम्मपद—अट्ठकथा, खण्ड १. पृ० ९६-१०५.

(ग) जातक सं० १८२.

(घ) थेरगाथा १५७.

विचलित हो जाता है। बुद्ध उसे एक बन्दरी दिखाकर उससे पूछते हैं—क्या तेरी पत्नी इससे अधिक सुन्दर है? उसने कहा—वह तो बहुत ही सुन्दर है। उसके पश्चात् बुद्ध उसे त्रायस्त्रिश स्वर्ग की अप्सराओं को दिखाते हैं और पूछते हैं—क्या तेरी जनपदकल्याणी नन्दा इनसे अधिक सुन्दर है? नन्द निवेदन करता है—भगवन्! इन अप्सराओं के सामने तो वह कुछ भी नहीं है। बुद्ध उसे प्रतिबोध देते हुए कहते हैं—फिर तुम उसके पीछे क्यों पागल बन रहे हो? तुम भी धर्म की साधना करो। इससे भी अधिक सुन्दर अप्सरायें प्राप्त होंगी। नन्द पुनः श्रमण-धर्म की आराधना करने लगा, किन्तु उसका वैषयिक लक्ष्य मिटा नहीं। एक बार सारिपुत्र आदि अस्सी महाश्रावकों (भिक्षुओं) ने उसका उपहास करते हुए कहा—यह तो अप्सराओं के लिए साधना कर रहा है। यह सुनकर उसे अत्यन्त ग्लानि हुई और वह साधना में जुट गया।

मेघकुमार और नन्द दोनों साधना से विचलित हुए, पर घटना-क्रम में जरा सा अन्तर है। श्रमण भगवान् महावीर ने पूर्वभव में भोगी हुई दारुण-वेदना का स्मरण कराया और मानव-जीवन की महत्ता बताकर उसे श्रमण-धर्म में स्थिर किया। तो तथागत बुद्ध ने नन्द को आगामी भवों के कमनीय सुखों को बताकर उसे संयम में स्थिर किया। संगामावचर जातक आदि से यह भी स्पष्ट है कि नन्द भी मेघकुमार की तरह प्राक्तन भवों में हाथी था।[1]

मंकाई और किंकम

अन्तकृद्दशा में वर्ग ६ अध्ययन प्रथम द्वितीय में मंकाई और किंकम आदि श्रमणों का वर्णन है। मंकाई और किंकम ये दोनों राजगृह नगर के गाथापति थे। इन्होंने भगवान् महावीर के त्याग-वैराग्य युक्त प्रवचन को श्रवण कर दीक्षा ग्रहण की। उत्कृष्ट संयम और तप की आराधना कर विपुलगिरि पर्वत पर मुक्त हुए।

अर्जुन मालाकार

अन्तकृद्दशा वर्ग ६ अध्ययन तीन में वर्णन है कि राजगृह में अर्जुन

---

१. (क) संगामावचर जातक संख्या १८२ (हिन्दी अनुवाद) खण्ड २, पृष्ठ २४८-२५४.

(ख) भगवान् महावीर : एक अनुशीलन (देवेन्द्रमुनि) पृष्ठ ४२० से ४२५.

नाम का माली था। बन्धुमती उसकी पत्नी थी। पुष्पाराम उसका उद्यान था। उस उद्यान के समीप ही मुद्गरपाणि यक्ष का यक्षायतन था। अर्जुनमाली के पूर्वज उस यक्ष के उपासक थे। अर्जुनमाली भी बचपन से ही उसका उपासक था। राजगृह में "ललित" नामक एक मित्र-मण्डली थी, जो उच्छृंखल और स्वछन्द थी। उन्होंने बन्धुमती के साथ अमानवीय व्यवहार किया, जिससे अर्जुन मालाकार को अत्यधिक रोष आया, पर उसे पहले ही बांधकर उन्होंने गिरा रखा था। अपनी पत्नी के साथ वीभत्स काण्ड करते हुए देखकर उसका खून खौल उठा, नसें फड़कने लगीं। उसने मन में राजा को भी धिक्कारा और अपने कुलदेव मुद्गरपाणि यक्ष पर भी उसे रोष आया कि उसकी मूर्ति के समक्ष उसकी पत्नी का शीलभंग किया जा रहा है। तू देवता होकर भी टुगर-मुगर देख रहा है। देव ने अपने भक्त की संतप्त आत्मा को देखा। तत्काल यक्ष अर्जुनमाली के शरीर में प्रविष्ट हुआ। उसका अद्भुत पौरुष जाग उठा। तड़-तड़ कर सब बन्धन टूट गये। यक्ष का मुद्गर उठाकर एक ही प्रहार में अर्जुन मालाकार ने छहों मित्रों और अपनी पत्नी को मिट्टी का ढेर बना दिया, तथापि उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। क्रोध से आगबबूला हुआ हाथ में मुद्गर लेकर वह बगीची के बाहर घूमता। रास्ते से गुजरने वाले राहगीरों में से छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करके ही मुँह में अन्न-जल लेता। नगर में भयंकर आतंक छा गया। राजा ने नगर का द्वार बन्द करवाकर यह उद्घोषणा करवा दी, कोई भी नगर के बाहर न जाये। समूची राजगृह एक कैदखाना बन गई। उसमें बैठकर सभी के दम घुट रहे थे। पर किसी का साहस नहीं था।

भगवान् महावीर का राजगृह में शुभागमन हुआ। जिस महानगरी में भगवान् ने चौदह वर्षावास किये, जहाँ प्रभु के भक्तों की कोई कमी नहीं थी, पर किसी का भी साहस अर्जुनमाली से जूझने का नहीं हो रहा था। जब सुदर्शन ने भगवान के आगमन का संवाद सुना तो उसका शौर्य दीप्त हो उठा। यह पारिवारिक जन तथा अन्य व्यक्तियों के इन्कार होने पर भी भगवान् के दर्शनार्थ चल पड़ा। नगर का द्वार खुला और तुरन्त बन्द कर दिया गया। कुछ दूर चलने पर अर्जुनमाली हाथ में मुद्गर घुमाता हुआ बेतहाशा दौड़ता हुआ सुदर्शन के सामने आ पहुँचा। उसकी रौद्र आकृति देखकर सामान्य व्यक्ति काँप जाता, पर सुदर्शन वहीं ध्यान-मुद्रा में खड़ा हो गया। उसने सुदर्शन पर प्रहार करने के लिए मुद्गर उठाया। उसका

हाथ उठा ही रह गया। वह पीछे हटकर प्रहार करने के लिए आगे बढ़ा, पर जैसे शरीर में लकवा मार गया हो। हतप्रभ-सा वह सोचने लगा—यह क्या हो गया? सुदर्शन के धैर्य और तेज के सामने यक्ष का तेज निस्तेज हो गया, वह सत्वहीन होकर भूमि पर धड़ाम से गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। अर्जुन को लेकर सुदर्शन भगवान् के चरणों में पहुँचा। भगवान् का उपदेश सुनकर अर्जुन मालाकार उनके चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा—मेरा उद्धार करो। मैंने जीवन-भर पाप किये हैं। निरपराध स्त्री-पुरुषों का खून किया है। मैं बड़ा पापी हूँ, अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहता हूँ। भगवान् ने उसे दीक्षा दी। वह बेले-बेले की तपस्या करता और पारणे के लिए जब वह नगर में जाता तो लोग आक्रोशपूर्वक ढेले फेंकते, ताड़ना-तर्जना करते। किन्तु वह अपनी आत्मा को कसता और स्वर्ण की तरह उज्ज्वल बनाता। अन्त में कर्मों को नष्ट कर वह मुक्त बन गया। बड़ा अद्भुत और अनूठा है यह कथानक। एक क्रूर हत्यारा महापुरुष के सान्निध्य को पाकर पावन बन गया। पारस पुरुष का संस्पर्श लौह रूपी जीवन को एक क्षण में स्वर्ण बना देता है।

बौद्ध साहित्य में भी अंगुलिमाल डाकू का वर्णन आता है जो मानवों की अंगुलियों की माला बनाकर धारण करता था। जिसकी आँखों से खून टपकता था। तथागत बुद्ध को मारने के लिए वह लपका, पर बुद्ध के तेजस्वी व्यक्तित्व से वह हतप्रभ हो गया तथा अहिंसा का पुजारी बन गया। जो कार्य बड़े-बड़े तांत्रिक, यांत्रिक और मांत्रिक नहीं कर सकते वह कार्य एक सन्त कर सकता है।

काश्यप आदि श्रमण

काश्यप, क्षेमक, धृतिधर, कैलाश, हरिनन्दन, बारत्तक, सुदर्शन पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठित, मेघकुमार ये सभी दीक्षापर्याय पालन कर विपुल पर्वत पर मुक्त हुए। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री का अभाव है, केवल नगर, उद्यान और दीक्षा पर्याय का सूचन है। (अन्तकृद्दशा वर्ग ६, अ. ४-१४)

जालि मयालि आदि कुमार

अनुत्तरोपपातिक सूत्र वर्ग १, अध्ययन एक में वर्णन है—जालि, मयालि, पुरुषसेण, उपजालि, वारिषेण, दीर्घदन्तकुमार, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहायस, अभय ये सभी कुमार सम्राट श्रेणिक के पुत्र थे। भगवान् महावीर

के उपदेश को श्रवण कर दीक्षित होते हैं तथा श्रमण बनकर गुणरत्नसंवत्सर आदि तप की आराधना कर अनुत्तर विमान में देव बनते हैं। इसी तरह दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढ़दन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन, पुण्यसेन ये राजकुमार भी श्रेणिक सम्राट के पुत्र थे। इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर विविध तपों की आराधना कर अनुत्तर विमान को प्राप्त किया। ये जो आख्यान इसमें दिये गये हैं, वे केवल संकेत मात्र है। पर ये सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक होने से बहुत से इतिहास के अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालने में सक्षम हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों ही परम्पराओं ने श्रेणिक के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। हम यथाप्रसंग इस पर चिन्तन करेंगे। पर यह स्पष्ट है कि श्रेणिक की छब्बीस महारानियों ने और उनके पुत्र तथा पौत्रों ने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना से अपने जीवन को पावन बनाया था। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रेणिक जैन था एवं भगवान् महावीर का अनन्य भक्त भी।

धन्य अणगार

अनुत्तरौपपातिक सूत्र वर्ग तीसरे अध्ययन प्रथम में धन्य अनगार का वर्णन है—धन्यकुमार काकन्दी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। अपार वैभव उसके पास था। भगवान् के उपदेश को श्रवण कर वीर सैनिक की तरह वह साधना के पवित्र पथ पर बढ़ता है। उसके तपोमय जीवन का जो शब्दचित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उसे पढ़कर भौतिकवाद के तार्किक युग में भी व्यक्ति का श्रद्धा से सिर नत हो जाता है। मज्झिमनिकाय के महासिंहनाद सुत्त में[1] वर्णन है—बुद्ध ने इसी प्रकार उत्कृष्ट तप की आराधना की थी। उन्होंने अपने साधना-काल में जो छः वर्ष तक उत्कृष्ट तप की आराधना की वह भी इससे मिलती-जुलती है। कवि कुलगुरु कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य में[2] पार्वती के तप का रोमांचकारी वर्णन किया है, पर धन्यकुमार के तप के समान उसमें सजीव वर्णन नहीं हो पाया है। धन्यकुमार के तप के वर्णन को पढ़कर अध्येता विस्मय से विमुग्ध बने बिना नहीं रहेगा। जैन तपःसाधना की विशेषता यह है कि वहाँ बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप को भी महत्व दिया गया है,

---

१. बोधिराजकुमार सुत्त, दीघनिकाय कस्सप सिंहनाद सुत्त।

२. कुमारसम्भव पार्वती प्रकरण।

जिसमें देह-दमन के साथ चित्त-वृत्तियों का शोधन भी मुख्य रूप से रहा हुआ है। धन्य अणगार जितने अधिक दीर्घ तपस्वी थे उतने ही स्थिर ध्यान-योगी भी थे। ध्यान की निर्मल साधना से तप उनके लिए तापस्वरूप नहीं था। श्रमण साहित्य में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में इस प्रकार का वर्णन दुर्लभ है।

सुनक्षत्र अणगार

सुनक्षत्र अणगार का जन्म काकन्दी नगरी में हुआ था। वह भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। स्नेह के वातावरण में उसका पालन-पोषण हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश को श्रवण कर वे श्रमण बने और उत्कृष्ट तप की आराधना कर अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुए। (अनु. व. ३, अ. २)

सुबाहुकुमार आदि अन्य मुनि

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में सुबाहुकुमार श्रमण का वर्णन है। हस्तिशीर्ष नगर का स्वामी अदीनशत्रु था। सुबाहु-कुमार उसका पुत्र था। पाँच सौ कन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। उनके साथ वह अपना जीवन-यापन कर रहा था। एक बार भगवान् महा-वीर का शुभागमन हुआ। सुबाहुकुमार ने श्रावक व्रत का ग्रहण किये। उनके दिव्य रूप को निहार कर गौतम ने प्रभु से जिज्ञासा प्रस्तुत की—यह दिव्य, कान्त और प्रिय रूप इन्हें कैसे प्राप्त हुआ? इन्होंने पूर्वभव में ऐसा कौन-सा दान दिया? भगवान् ने सुबाहु का पूर्वभव सुनाते हुए कहा—हस्तिनापुर नगर में सुमुख नामक गाथापति था। सुदत्त अणगार, जो एक मास के उपवासी थे, उन्हें अत्यन्त उदार भावना से सुमुख गाथापति ने आहारदान दिया। उस दिव्य दान के फलस्वरूप इसे यह महान् ऋद्धि तथा अद्‌भुत सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत कथानक में सुखप्राप्ति का प्रधान कारण सुपात्रदान को बताया है। दान की अद्‌भुत शक्ति से दिव्य ऋद्धि और समृद्धि सहज ही उपलब्ध होती है। मानव समृद्धि तो चाहता है पर दान आदि देने से कतराता है। जिससे उसे विराट् वैभव की संप्राप्ति नहीं हो पाती। इसी तरह भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्दकुमार और वरदत्तकुमार ये सभी राजकुमार थे। सभी ने भगवान् महावीर के उपदेशामृत को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। सुबाहुकुमार आदि समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर देव बने

और वहाँ से अपना आयुष्य पूर्ण करके कितने ही एक भव में और कितने ही राजकुमार पन्द्रह भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पद्मकुमार श्रमण आदि

कप्पवडंसिया अध्ययन तीन में पद्मकुमार श्रमण का वर्णन है। चंपा नगरी में राजा कूणिक का राज्य था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा श्रेणिक की एक रानी का नाम काली था। उसके काल नामक पुत्र हुआ। काल की पत्नी का नाम भी पद्मावती था। उसके पद्मकुमार नामक पुत्र हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर साधना के द्वारा जीवन को तपाया और सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष में जायेगा। इसी तरह महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन ये सभी श्रेणिक के पौत्र थे, इन्होंने प्रभु महावीर के पास श्रमण धर्म को ग्रहण कर जीवन को पावन बनाया। इन सभी के पिता काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह, महासेनकण्ह थे जो कषाय के वशीभूत होकर नरक में गये और उन्हीं के पुत्र सत्कर्म का आचरण कर देवलोक को प्राप्त करते हैं। उत्थान और पतन का दायित्व मानव के स्वयं के कर्मों पर आधृत है, मानव साधना से भगवान् भी बन सकता है और विराधना से भिखारी भी बन सकता है।

हरिकेशी मुनि

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन बारह में हरिकेशबल श्रमण का वर्णन है। पूर्वजन्म में जाति-अहंकार करने के कारण हरिकेशबल चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए। वे स्वभाव से ही नहीं, शरीर से भी अत्यन्त कुरूप थे। सभी उनसे घृणा करते थे। घृणा और उपेक्षा के कारण वे अधिक कठोर बन गये थे। एक बार वे उत्सव में गये। साथी के अभाव में वे उस भीड़ में अकेले थे। कोई भी लड़का उनसे बोलना पसन्द नहीं करता था। इतने में एक सर्प निकला। उस सर्प को लोगों ने मार दिया। कुछ क्षणों के बाद गोह (अलसिया) निकला, किन्तु उसे किसी ने नहीं मारा। इस घटना से हरिकेशबल सोचने लगे—जो क्रूर होता है, वह, मारा जाता है। किन्तु निर्विष प्राणी को कोई नहीं मारता। चिन्तन करते हुए उन्हें जातिस्मरण हुआ और वे मुनि बन गये। तप से उनका शरीर कृश हो गया। तिन्दुक वृक्ष निवासी यक्ष, मुनि के दिव्य तप से प्रभावित होकर उनकी सेवा में

रहने लगा। एक बार हरिकेशमुनि यक्ष-मन्दिर में ध्यानस्थ थे। राजपुत्री भद्रा यक्ष की अर्चना के लिए वहाँ पर आई। मुनि की कुरूपता को देखकर उसका मन घृणा से भर गया और उसने मुनि पर थूक दिया। यक्ष मुनि के अपमान को सहन न कर सका। वह राजकुमारी के शरीर में प्रविष्ट हो गया। अनेक उपचार करने पर भी वह स्वस्थ नहीं हुई। यक्ष ने प्रकट हो कर कहा—इसने मुनि का अपमान किया है, इसे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। राजा ने अपराध की क्षमा माँगी और कन्या के साथ मुनि से विवाह की प्रार्थना की। मुनि ने कहा--मेरा कोई अपमान नहीं हुआ है। मैं किसी भी तरह विवाह नहीं कर सकता। राजा निराश हो गया। उसने ब्राह्मण रुद्र-देव को ऋषि समझकर राजकन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। यज्ञ-शाला में राजकुमारी के विवाह के निमित्त से भोजन बन रहा था। हरि-केशमुनि ने भोजन की याचना की। ब्राह्मणों ने उनको अपमानित कर निकालने का प्रयास किया। मुनि की सेवा में रहने वाला यक्ष ब्राह्मणों के व्यवहार से क्रुद्ध हो गया। उसने उन्हें प्रताड़ित किया। राजकुमारी ने ब्राह्मणों को समझाया—ये जितेन्द्रिय हैं, इनका अपमान मत करो। मुनि ने दान का अधिकारी, जातिवाद, यज्ञ का स्वरूप, जलस्नान आदि विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला। मुनि का यह संवाद अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

इसी तरह बौद्ध साहित्य के मातंग जातक में[1] एक प्रसंग है—वारा-णसी के माण्डव्यकुमार का प्रतिदिन सोलह हजार ब्राह्मणों को भोजन देना; हिमालय के आश्रम में मातंग पण्डित का भिक्षा लेने के लिए आना। उसके पुराने जीर्ण-शीर्ण, मलिन वस्त्रों को देखकर वहाँ से उसे हटाना, मातंग पण्डित का माण्डव्य को उपदेश देकर दान-क्षेत्र की यथार्थता का प्रतिपादन करना, माण्डव्य के साथी मातंग को पीटते हैं, नगर-देवताओं के द्वारा ब्राह्मणों की दुर्दशा करना, उस समय श्रेष्ठी की कन्या दीट्ठमंगलिका का वहाँ पर आगमन और वहाँ की स्थिति को देखकर सारी बात जान लेना, स्वर्ण-कलश और प्याला लेकर मातंग मुनि के सन्निकट आना, और क्षमायाचना करना, मातंग पण्डित ने ब्राह्मणों को ठीक होने का उपाय किया तथा दीट्ठमंगलिका ने सभी ब्राह्मणों को दान-क्षेत्र की यथार्थता बताई। इस प्रकार दोनों कथाओं में समानता है।

डा० घाटगे की दृष्टि से बौद्ध परम्परा की कथा विस्तृत होने के

---

१. मातंग जातक— चतुर्थ खण्ड ४९७, पृष्ठ ५८३-५९७.

साथ इसमें अनेक विचारों का सम्मिश्रण हुआ है; किन्तु जैन परम्परा की कथा सरल और संक्षिप्त है और वह बौद्ध कथावस्तु से प्राचीन है। मातंग जातक में ब्राह्मणों के प्रति अधिक कटु भावना व्यक्त की गई है पर जैन कथावस्तु में ऐसा नहीं है। उस युग में ब्राह्मण वर्ग जन्मना जाति के आधार पर अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उसे निराधार बताने के लिए ये कथाएँ सर्चलाइट की तरह उपयोगी हैं।[1] जैन और बौद्ध कथाओं में ही समानता नहीं, अपितु गाथाओं में भी अत्यधिक समानता है। उदाहरण के रूप में देखिए—

समान गाथाएँ

उत्तराध्ययन, अध्ययन १२ श्लोक	मातङ्ग जातक (संख्या ४९७) गाथा
कयरे आगच्छइ दित्तरूवे, काले विकराले फोक्कनासे। ओमचेलए पंसुपिसायभूए, संकरदूसं परिहरिय कण्ठे ॥६॥	
कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे, काए व आसा इहमागओसि। ओमचेलगा पंसुपिसायभूया, गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि ॥७॥	कुतो नु आगच्छसि सम्भवासि ओतल्लको पंसुपिसाचको व। सङ्कार चोल पटिमुच्च कंठे, को रे तुवं होहिसि अदक्खिणेय्यो ॥१॥
समणो अहं संजओ बम्भयारी, विरओ धणपयणपरिग्गहाओ। परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले, अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥९॥	

---

1 This must have also led the writer to include the other story in the same Jataka; and such an attitude, must have arisen in later times as the effect of sectarian bias.

—Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17. [1935-1936] A few Parallels in Jain and Buddhist Works, p. 345, by A. M. Ghatage, M. A.

वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति,
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥१०॥

अन्नं तव इदं पकतं यसस्सि
तं खज्जरे भुञ्जरे पिय्यरे च।
जानासि त्वं परदत्तूपजीविं,
उत्तिट्ठथ पिण्डं लभतं सपाको ॥२॥

उवक्खडंभोयण माहणाणं,
अत्तट्ठियं सिद्ध मिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं,
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओसि ॥११॥

अन्नं मम इदं पकतं ब्राह्मणानं,
अत्तत्थाय सद्दहतो मम इदं।
अपेहि एत्थ, किं दुघट्ठितोसि,
न मा दिसा तुय्हं ददन्तिजम्म ॥३॥

थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं ॥१२॥

थले च निन्ने च वपन्ति बीजं,
अनूपखेत्ते फलं आसमाना।
एताय सद्धाय ददाहि दानं,
अप्पेव आराधये दक्खिणेय्ये ॥४॥

खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१३॥

खेत्तानि मय्हं विदितानि लोके,
येसाहं बीजानि पतिट्ठपेमि।
ये ब्राह्मणा जाति मन्तूपपन्ना,
तानीधि खेत्तानि सुपेसलानि ॥५॥

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जा विहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥

जाति मदे च अतिमानिता च,
लोभो च दोसो च मदो च मोहो।
एते अगुणा येसुव सन्ति सब्बे
तानीध खेत्तानि अपेसलानि ॥६॥

तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१५॥

जाति मदो च अतिमानिता च,
लोभो च दोसो च मदो च मोहो
एते अगुणा येसु न सन्ति सब्बे,
तानीध खेत्तानि सुपेसलानि ॥७॥

के एत्थ खत्ता उवजोइया वा,
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं दण्डेण फलेण हन्ता,
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ॥१८॥

अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता, उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा। दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव, समागया तं इसि तालयन्ति ॥१९॥	कत्थेव भट्ठा उपजोतियो च, उपज्झायो अथवा भण्डकुच्छि। इमस्स दण्डं च वधं च दत्वा गले गहेत्वा खलयाथ जम्मं ॥८॥
गिरिं नहेहिं खणह, अयं दन्तेहिं खायह। जायतेयं पाएहि हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥	गिरिं नखेन खणसि, अयो दन्तेन खादसि। जातवेदं पदहसि, यो इसिं परिभाससि ॥९॥
अवहेडिय पिट्ठिसउत्तमंगे, पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे। निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते, उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ॥२९॥	आवेठितं पिट्ठितो उत्तमाङ्गं, बाहुं पसारेति अकम्मनेय्यं। सेतानि अक्खीनि कथा मतस्स को मे इयं पुत्तं अकासि एवं ॥११॥
पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ। जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति, तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥३२॥	तदेव हि एतरहि च मय्हं, मनोपदोसो मम नत्थि कोचि। पुत्तो च ते वेद मदेन मत्तो, अत्थं न जानाति अधिच्च वेदे ॥१८॥
अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा, तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना। तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो, समागया सव्वजणेण अम्हे ॥३३॥	अद्धा हवे भिक्खु मुहुत्तकेन, सम्मुय्हते व पुरिसस्स सञ्ञा। एकापराधं खम भूरिपञ्ञ, न पण्डिता क्रोध बला भवन्ति ॥१९॥

अनाथी महानिर्ग्रन्थ

उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में अनाथी महानिर्ग्रन्थ की जीवन गाथा उट्टङ्कित है। सम्राट श्रेणिक एक बार मण्डित कुक्षी उद्यान में पहुँचा। उद्यान की शोभा को देखते हुए उसकी आँखें एक ध्यानस्थ मुनि पर जा टिकीं। उस मुनि के अद्‌भुत रूप-लावण्य को देखकर वह विस्मित हुआ। उसने पूछा—आप तरुण हैं, भोग भोगने योग्य हैं, फिर आपने इस आयु में संन्यास क्यों ग्रहण किया? उत्तर में मुनि ने कहा—मैं अनाथ था, मेरा कोई भी नाथ नहीं था, इसीलिए मैं मुनि बना। राजा ने मुस्कराते

हुए कहा—शरीर सम्पदा से आप ऐश्वर्यशाली प्रतीत होते हैं, फिर अनाथ कैसे ? मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे साथ चलें। सुखपूर्वक भोग भोगें।

मुनि ने कहा—तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बन सकोगे ? राजा को यह वाक्य तीक्ष्ण शस्त्र की तरह चुभ गया। उसने कहा—आप झूठ बोलते हैं। मेरे पास विराट् सम्पदा है, मेरे आश्रय में हजारों व्यक्ति हैं। ऐसी अवस्था में मैं अनाथ कैसे ? मुनि ने समाधान करते हुए कहा—तुम अनाथ का अर्थ नहीं जानते। मैं तुम्हें इसका रहस्य बताता हूँ। मैं गृहस्थाश्रम में कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरे पिता के पास विराट् वैभव था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ था। मुझे एक बार असह्य अक्षि-रोग हुआ। सभी पारिवारिक जनों ने रोग दूर करने का खूब प्रयत्न किया, सभी ने मेरी वेदना पर आँसू बहाये, पर वे वेदना को बँटा नहीं सके। यह थी मेरी अनाथता ! मैंने दृढ़ संकल्प किया—यदि मैं वेदना से मुक्त हो जाऊँ तो मैं मुनि बन जाऊँगा। इस संकल्प के साथ मैं सो गया, ज्यों-ज्यों रात बीतती गई, मेरा रोग शान्त होता गया। सुबह होने पर मैंने अपने आपको पूर्ण रूप से स्वस्थ पाया। मैं श्रमण बनकर सभी त्रस एवं स्थावर प्राणियों का नाथ बन गया। मैंने आत्मा पर शासन किया और मैं विधिपूर्वक श्रमण धर्म का परिपालन करता हूँ। यह मेरी सनाथता है। सम्राट श्रेणिक ने पहली बार ही सनाथ-अनाथ का विवेचन सुना। उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये। सम्राट श्रेणिक ने कहा—वस्तुतः आप ही सनाथ हैं और सभी के सच्चे बान्धव हैं। मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूँ। मुनि ने उसे धर्म का मर्म बताया, वह धर्म में अनुरक्त हो गया। इस कथानक में अनेक महत्वपूर्ण विषय चर्चित हैं। इसमें आई हुई अनेक गाथाओं की तुलना अन्य साहित्य से की जा सकती है। उदाहरण के रूप में हम यहाँ कुछ गाथाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

उत्तराध्ययन, अ० २०	धम्मपद	गीता
अप्पा नई वेयरणी,	अत्ता हि अत्तनो नाथो,	उद्धरेदात्मनात्मानं,
अप्पा मे कूडसामली।	को हि नाथो परो सिया।	नात्मानमवसादयेत्।
अप्पा कामदुहा धेणू,	अत्तना व सुदन्तेन,	आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु-
अप्पा मे नन्दणं वणं।३६।	नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥	रात्मैव रिपुरात्मनः।५।

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च,
दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।३७।

अत्तना व कतं पापं,
अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं।
वजिरं वस्समयं मणिं ।५।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य,
येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे,
वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।६।

अत्तना व कतं पापं,
अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं,
अत्तना व विसुज्झति ॥
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं,
नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये ।९।

न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ।४८।

दिसो दिसं यन्तं कयिरा,
वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं।
पापियो नं ततो करे ।१०।

मुण्डकोपनिषद

दुविहं खवेऊण य पुण्ण पावं,
निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं,
समुद्दपाले अपुणागमं गए ।२४।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥३।१।३॥

उपर्युक्त गाथाओं में भावों में तो एकरूपता है ही साथ ही विषय की दृष्टि से भी अत्यधिक समानता है।

समुद्रपालीय

उत्तराध्ययन, अध्ययन इक्कीस में समुद्रपालीय कथानक आया है। चम्पा नगरी में पालित नामक श्रमणोपासक था। उसका व्यापार दूर-दूर तक फैला हुआ था। एक बार सुपारी, सोना आदि वस्तुएँ लेकर वह सामुद्रिक यात्रा के लिए यान-पात्र पर आरूढ़ होकर प्रस्थित हुआ। वह समुद्र के किनारे 'पिहुण्ड' नगर में रुका। एक सेठ ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ किया। नवोढ़ा पत्नी गर्भवती हुई। समुद्र यात्रा के बीच ही उसने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा। वह एक बार अपने भव्य प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ नगरश्री का अवलोकन

कर रहा था। उसने देखा—राजपुरुष एक व्यक्ति को वध-भूमि की ओर ले जा रहे हैं। उसके वस्त्र लाल हैं और गले में कनेर की माला है। उसका मन संवेग से भर गया। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह दीक्षित बन गया। कर्मों को नष्ट कर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

प्रस्तुत कथानक में समुद्र-यात्रा का उल्लेख हुआ है। उस युग में भारत के व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाते थे। सामुद्रिक व्यापार उन्नत अवस्था में था। व्यापारियों के निजी यान-पात्र हुआ करते थे। वे एक स्थान से दूसरे स्थानों पर माल लेकर जाते थे। नदियों के द्वारा भी माल आता था। नदी तट पर उतरने के लिए स्थान बने हुए थे। निशीथभाष्य में चार प्रकार की नावों का उल्लेख मिलता है[1]—१. अनुलोमगामिनी २. प्रतिलोमगामिनी ३. तिरिच्छसंतारणी (एक तट से दूसरे तट पर सरल रूप से जाने वाली) और ४. समुद्रगामिनी। इनके अतिरिक्त उर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, योजनवेलागामिनी एवं अर्धयोजनवेलागामिनी इन चार नामों का भी उल्लेख है।[2] समुद्रयात्रा खतरों से खाली नहीं थी। कई बार इतने भयंकर उपद्रव आ जाते कि जहाज छह-छह महीने तक चक्कर काटते रहते।[3] देवी-देवताओं के उपद्रव से बचने के लिए उनकी मनौतियाँ भी की जाती थी। जहाज फट जाने पर यात्रियों को बड़ी कठिनाई होती थी।[4] जहाज डूबने के वर्णन भी आगम-साहित्य में यत्र-तत्र आये हैं। जब प्रतिकूल पवन चलता, आकाश बादलों से आच्छन्न हो जाता, उस समय जहाज में बैठने वाले यात्रियों के प्राण संकट में पड़ जाते। उन्हें दिशाभ्रम हो जाता। वे उस विकट बेला में यह निर्णय नहीं ले पाते कि उन्हें क्या करना चाहिए। या तो ऐसे समय में जीने की आशा छोड़कर दीन भाव से बैठ जाते या समुद्र की उपासना करते।[5] अथवा

१. निशीथभाष्य, पीठिका १८३.

२. (क) निशीथ सूत्र १८/१२-१३. (ख) महानिशीथ ४१/३५,
(ग) गच्छाचार वृत्ति पृ० ५०.

३. उत्तराध्ययन टीका १८, पृ० २५२ अ.

४. ज्ञाताधर्मकथा २/९ पृ० १२३.

५. (क) ज्ञाताधर्मकथा १७ पृ० २०१,
(ख) कथासरित्सागर, पेन्जर, जिल्द ७, अ. १०१, पृ० १४६.

वीतराग प्रभु की उपासना में संलग्न हो जाते। यहाँ पर प्रस्तुत कथानक में एक 'ववहार' शब्द आया है, जिसका संस्कृत रूप 'व्यवहार' है। आगम युग में यह शब्द क्रय-विक्रय, आयात और निर्यात के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और 'व्रध्य मंडन शोभाक' शब्द दण्ड-विधान के अर्थ में प्रयुक्त था। तस्करों को कठोर दण्ड दिया जाता था। उसे कनेर के फूलों की माला तथा लाल वस्त्र पहनाये जाते थे। उसके कुकृत्यों की विज्ञापना नगर के मुख्य मार्गों से वध-भूमि की ओर ले जाकर की जाती थी।

मृगापुत्र और बलश्री श्रमण

उत्तराध्ययन, अध्ययन उन्नीस में मृगापुत्र और बलश्री श्रमण का वर्णन आया है। सुग्रीव नगर में बलभद्र और मृगावती का पुत्र बलश्री था। पर वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था। युवा होने पर उसका पाणिग्रहण हुआ। वह पत्नियों के साथ राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर का अवलोकन कर रहा था, उसकी दृष्टि निर्ग्रन्थ मुनिराज पर गिरी। मुनि के तेजोदीप्त ललाट, चमकते हुए नेत्र और तपस्या से अत्यन्त कृश शरीर को वह अपलक दृष्टि से देखता रहा। चिन्तन तीव्र हुआ--मैंने ऐसा रूप पहले भी देखा है, उसे जातिस्मृतिज्ञान उत्पन्न हो गया—मैं पूर्वभव में श्रमण था। इस अनुभूति से मन वैराग्य से भर गया। माता-पिता से उसने निवेदन किया—मैं प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ। यह शरीर अनित्य है, अशुचिमय और संक्लेशों का भाजन है। जिसे आज नहीं तो कल अवश्यमेव छोड़ना पड़ेगा। माता-पिता ने दुश्चरता और कठोरता का परिज्ञान कराया। तुम सुकोमल हो, तुम्हारे लिए श्रमण-जीवन का पालन करना कठिन है। श्रमण-जीवन यावज्जीवन का होता है। बालुका कवल की तरह निस्वाद और असिधारा की तरह दुश्चर है। श्रमण-धर्म स्वीकार करने पर रोग की चिकित्सा कौन करेगा? उत्तर में मृगापुत्र ने कहा—अरण्य में बसने वाले मृग आदि पशु-पक्षियों की कौन चिकित्सा करता है, और कौन उन्हें भक्तपान देता है? वैसे ही मृग-चारिका से मैं अपना जीवन-यापन करूँगा। अन्त में मुनि-धर्म स्वीकार कर मृगापुत्र श्रमण-धर्म का परिपालन कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

मृगापुत्र और माता-पिता का संवाद बड़ा ही महत्वपूर्ण है तथा साथ ही प्रेरणादायी भी है।

गर्दभाली और संजय राजा

उत्तराध्ययन अध्ययन अठारह में गर्दभाली और संजय राजा का वर्णन आया है। काम्पिल्य नगर का अधिपति राजा संजय शिकार के लिए केशर उद्यान में पहुँचा। उसने मृगों को मारा। उसकी दृष्टि एकाएक ध्यान-मुद्रा में अवस्थित गर्दभाली मुनि पर गिरी। वह भय से कांप उठा। मैंने मुनिराज के मृग को मारकर आशातना की है। वह घोड़े से नीचे उतरकर मुनि से क्षमा-याचना करने लगा। पर मुनि ध्यानस्थ थे। अतः राजा भय से और अधिक व्यथित हो गया कि मुनि यदि क्रुद्ध हो गये तो अपने दिव्य तेज से समूचे राज्य को नष्ट कर देंगे। अतः उसने पुनः मुनि से निवेदन किया। मुनि ने ध्यान से निवृत्त होकर उससे कहा—मैं तुझे अभय प्रदान करता हूँ। तुम भी सभी प्राणियों को अभय प्रदान करो। मुनि के त्याग वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को श्रवण कर राजा संजय श्रमण बन गया। एक दिन एक क्षत्रिय मुनि संजय मुनि के पास आया और उसने पूछा—तुम्हारा नाम व गोत्र क्या है? तुम क्यों मुनि बने हो? किन आचार्यों की सेवा कर रहे हो? संजय मुनि ने कहा—मेरा नाम संजय है, गौतम गोत्र है, मेरे आचार्य गर्दभाली हैं। मैं मुक्ति के लिए श्रमण बना हूँ। आचार्य की आज्ञानुसार कार्य करता हूँ, इसीलिए विनीत हूँ।

इस कथानक में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, अर, कुन्थु, महापद्म, हरिषेण, जय आदि चक्रवर्ती राजाओं के नाम हैं। दशार्णभद्र, नमि, करकण्डु, द्विमुख, नग्गति, उदायण, काशिराज, विजय, महाबल आदि राजाओं के नाम हैं। दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गान्धार, सौवीर, काशी आदि देशों के नाम हैं। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का भी उल्लेख हुआ है। इस तरह प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक सामग्री का सुन्दर संकलन है।

इषुकार राजा

उत्तराध्ययन, अध्ययन चौदह में इषुकार राजा का वर्णन है। प्रस्तुत कथानक के मुख्य छह पात्र हैं—(१) इषुकार महाराजा (२) महारानी कमलावती (३) भृगु पुरोहित (४) पुरोहित की पत्नी यशा (५) पुरोहित के दो पुत्र।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में[1] इन सभी पात्रों के पूर्वभव, वर्तमान भव और उनकी उत्पत्ति तथा निर्वाणप्राप्ति का संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। हम विस्तार में न जाकर संक्षिप्त में यह बतायेंगे कि पुरोहित के दो पुत्र दीक्षा के लिए तैयार होते हैं। उनके माता-पिता उन्हें गृहस्थाश्रम में रहकर ब्राह्मण कृत्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। पर जहाँ वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा हो, वहाँ वह व्यक्ति संसार में कैसे रह सकता है? वे दोनों पुत्र माता-पिता को विविध रूपकों एवं अकाट्य तर्कों से संसार की असारता बताते हैं। पिता ब्राह्मण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर अपने तर्क प्रस्तुत करता है तो दोनों पुत्र श्रमण-संस्कृति का नेतृत्व करते हुए अपनी दलीलें रखते हैं। अन्त में भृगुपुरोहित को संसार की असारता और क्षण-भंगुरता पर विश्वास पैदा हो जाता है, वह अपनी पत्नी को समझाता है। उसकी पत्नी भी दीक्षा के लिए तैयार हो गई, पुरोहित का कोई भी उत्तरा-धिकारी नहीं था। राजा का मन उसकी विराट् सम्पत्ति को लेने के लिए ललचा रहा था। रानी कमलावती इषुकार राजा को कहती है---राजन्! वमन को खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। आप ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करना चाहते हैं। वह वमन को पीने के सदृश है। रानी ने भोगों की असारता पर प्रकाश डाला। राजा का मन विरक्ति से भर गया। राजा और रानी दोनों भी प्रव्रजित हो जाते हैं।

बौद्ध साहित्य में

प्रस्तुत कथानक की तरह बौद्ध साहित्य में भी यह कथा कुछ रूपान्तर के साथ आई है। वहाँ भी यह कथा बहुत ही विस्तार के साथ दी गई है। बौद्ध कथावस्तु में मुख्य पात्र आठ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) राजा एसुकारी
(२) पटरानी
(३) पुरोहित
(४) पुरोहित की पत्नी
(५) पहला पुत्र हस्तिपाल
(६) दूसरा पुत्र अश्वपाल
(७) तीसरा पुत्र गोपाल
(८) चौथा पुत्र अजपाल।

न्यग्रोध वृक्ष के अधिष्ठायक देव के वरदान से पुरोहित के चार पुत्र उत्पन्न हुए। वे चारों प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहते हैं। पिता उन चारों को

---

१ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३६३ से ३७३.

परीक्षा लेता है। पिता और पुत्रों में परस्पर संवाद होता है। चारों पुत्र क्रमशः अपने पिता के सामने जीवन की नश्वरता, संसार की असारता और कामभोगों की क्षणिकता का प्रतिपादन करते हैं। चारों ही प्रव्रज्या ग्रहण करते है। पुरोहित भी दीक्षा ग्रहण करता है। दूसरे दिन ब्राह्मणी प्रव्रजित हो जाती हैं तथा राजा-रानी भी प्रव्रज्या ले लेते हैं। सरपेण्टियर ने लिखा है—इषुकार के कथानक के साथ बौद्ध कथा-वस्तु की अत्यधिक समानता है। इषुकार की कथा बौद्ध कथा-वस्तु से प्राचीन होनी चाहिए।[1]

डा० घाटगे का अभिमत है कि जैन कथावस्तु व्यवस्थित, स्वाभाविक, यथार्थ और जातक से प्राचीन है। उन्होंने यह भी लिखा है—जातक की कथा, कथा-वस्तु की दृष्टि से पूर्ण है, उसमें पुरोहित के चारों पुत्रों का विस्तार से निरूपण है; जब कि जैन कथा में उसका अभाव है। द्वितीय अन्तर यह है कि जातक में पुरोहित के चार पुत्रों का उल्लेख हैं, जबकि उत्तराध्ययन में दो पुत्रों का ही वर्णन है। जैन कथा में राजा और पुरोहित के बीच सम्बन्ध नहीं बताया गया है, जबकि जातक में पुरोहित और राजा का सम्बन्ध है। पुरोहित पुत्रों की परीक्षा लेने के लिए राजा से परामर्श करता है और दोनों मिलकर पुत्रों की परीक्षा लेते हैं। जैनदृष्टि से जब पुरोहित सपरिवार दीक्षित हो जाता है तो राजा उस सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझकर उस पर स्वामित्व स्थापित करता है। इससे रानी का मन वैराग्य से भर जाता है। वह स्वयं दीक्षित होने के लिए प्रस्तुत होती है और साथ ही राजा को भी प्रेरणा देती है। वह बात बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ भी है, पर जातक कथा में ऐसी स्वाभाविकता नहीं है। जातक कथा-वस्तु में न्यग्रोध वृक्ष के देवता द्वारा चार पुत्रों का वरदान पुरोहित को प्राप्त होता है, जबकि राजा को पुत्र की अत्यधिक आवश्यकता होने पर भी उसे एक भी पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि यह कथा जैन कथा-वस्तु से बाद में लिखी गई है।[2]

---

१ This legend certainly presents a rather striking resemblance to the prose introduction of the Jataka 509, and must consequently be old.

—The Uttaradhyayana Sutra, p. 332, Foot-note No. 2

२ Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17. [1935-36], 'A few Parallels in Jain and Buddhist Works' pp. 343-344.

महाभारत में

प्रस्तुत कथा की तरह महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७५ में भी और अध्याय २७७ में जो पिता-पुत्र के संवाद आये हैं, उन संवादों से सहज रूप से तुलना की जा सकती है। यद्यपि दोनों अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय एक है, नामों में भी कोई अन्तर नहीं है, दोनों में सम्राट युधिष्ठर भीष्म-पितामह से कल्याण का मार्ग जानना चाहते हैं, समाधान प्रदान करते हुए भीष्मपितामह एक ब्राह्मण और उसके एक मेधावी पुत्र का संवाद जो प्राचीन इतिहास में आया है, वह उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। उत्तराध्ययन में त्रेपन गाथाएँ हैं तो महाभारत में उनचालीस श्लोक हैं। अर्थ और शब्द साम्य दोनों ही पाठक को विस्मय में डाल देते हैं। जैन और बौद्ध कथा-वस्तु में पिता और पुत्र के साथ ही राजा एवं रानी का पूरा सम्बन्ध है तथा यह बताया गया है कि वे अन्त में प्रव्रजित होते हैं, जबकि महाभारत में पिता-पुत्र का ही मुख्य संवाद है। अन्त में पुत्र के उपदेश से वे सत्य-धर्म को ग्रहण करते हैं। महाभारत के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पिता पुत्र को ब्राह्मण धर्म की बातें समझाता है, और उसे वह कहता है—वत्स ! वेदों का गहन अध्ययन करो, गृहस्थाश्रम को धारण करो। बिना पुत्र पैदा हुए पितरों की सद्‌गति नहीं होती, यज्ञ-याग करो। उसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करो। पिता के तर्कों का पुत्र समाधान करते हुए कहता है—आपका कथन सत्य है, पर आप जरा चिन्तन करें, संन्यास के लिए काल की मर्यादा कोई आवश्यक नहीं है, धर्माचरण करने के लिए मध्यम वय अधिक उपर्युक्त है। जो भी कर्म हैं, उनका फल अवश्य मिलता है। आपने यज्ञ के लिए कहा, पर हिंसा-युक्त जो यज्ञ है, वह तामस यज्ञ है और वह यज्ञ साधक के लिए करने योग्य नहीं है। त्याग, तप और सत्य ही सच्चा शान्ति का राजपथ है। इस विश्व में त्याग के समान सुख नहीं है। सन्तान संसार से पार नहीं उतार सकती। विराट् वैभव और परिजन त्राण-प्रदाता नहीं हैं, इसलिए आत्मा की अन्वेषणा करनी चाहिए। पुत्रों ने अपनी चर्चा में जो तथ्य दिए हैं, वे तथ्य श्रमण परम्परा के अधिक अनुकूल हैं। यहाँ तक कि महाभारत और हस्तिपाल जातक में जो श्लोक आए हैं, उन श्लोकों में तथा उत्तराध्ययन को प्रस्तुत कथा में जो गाथाएँ आई हैं, उनमें बहुत कुछ समानता है। हम यहाँ शोधार्थियों के लिए तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने हेतु गाथाएँ और श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं।

उत्तराध्ययन (अध्ययन १४)	महाभारत (शान्ति० अ० १७५)
जाई जरामच्चुभयाभिभूया, बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता। संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥४॥	मृत्युर्जरा च व्याधिश्च, दुःखं चानेककारणम्। अनुषक्तं यदा देहे, किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥२३॥
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया। भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥९॥	वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र, पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम्। अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥६॥
	हस्तिपाल जातक (सं० ५०९)
वेया अहीया न भवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं। जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥१२॥	अधिच्च वेदे परियेस वित्तं, पुत्ते गेहे तात पतिट्ठपेत्वा। गन्धे रसे पच्चनुभुत्व सब्बं अरज्जं साधु, मुनि सो पसत्थो ॥४॥
	महाभारत
	मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः। कृत्वा कार्यमकार्यं वा, पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥१७॥
	तं पुत्रपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम्। सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति ॥१८॥
	मृत्योर्वा मुखमेतद् वै, या ग्रामे वसतो रतिः। देवानामेष वै गोष्ठो, यदरण्यमिति श्रुतिः ॥२५॥
	निबन्धनी रज्जुरेषा, या ग्रामे वसतो रतिः। छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति, नैना छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥२६॥

उत्तराध्ययन	महाभारत
	आत्मन्येवात्मना जात, आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा । आत्मन्येव भविष्यामि, न मां तारयति प्रजा ॥३६॥
	हस्तिपाल जातक
	वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति । गन्धे रसे मुच्चनं आहुसन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥५॥
खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा । संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥	गवं न नट्ठं पुरिसो यथा वने, परियेसति राज अपस्समानो । एवं नट्ठो एसुकारी मं अत्थो, सो हं कथं न गवेस्सेय्य राज ॥११॥
	महाभारत
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं । तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥१५॥	इदं कृतमिदं कार्य- मिदमन्यत् कृताकृतम् । एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥२०॥
	कृतानां फलमप्राप्तं, कर्मणां कर्मसंज्ञितम् । क्षेत्रापणगृहासक्तं, मृत्युरादाय गच्छति ॥२१॥
	दुर्बलं बलवन्तं च, शूर-भीरुं जडं कविम् । अप्राप्तं सर्वकामार्थान्, मृत्युरादाय गच्छति ॥२२॥

उत्तराध्ययन	हस्तिपालक जातक
	हिय्यो ति हिय्यो ति, पोसो परेति (परिहायति)। अनागतं नेतं अत्थीतिजत्वा, उपन्नछन्दं को नुपदेय्य धीरो ॥१२॥
धणं पभूयं सह इत्थियाहिं; सयणा तहा कामगुणा पगामा। तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥१६॥	**महाभारत**
धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहि चेव। समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥	नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं, ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥३७॥
	किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते, किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि। आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं, पितामहास्ते क्व गताः पिता च ।३८।
	हस्तिपाल जातक
जहा वयं धम्ममजाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा। ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥२०॥	अयं पुरे लुद्दं अकासि कम्मं, स्वाय गहीतो, न हि मोक्ख इतोमे। ओरुंधिया नं परिरक्खिस्सामि, मायं पुन लुद्दं अकासि कम्मं ॥१०॥
	महाभारत
अब्भाहयंमि लोगंमि, सव्वओ परिवारिए। अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥२१॥	एवमभ्याहते लोके, समन्तात् परिवारिते। अमोघासु पतन्तीषु, किं धीर इव भाषसे ॥७॥

उत्तराध्ययन

केण अब्भाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा वुत्ता ?
जाया ! चिंतावरो हुमि ॥२२॥

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो,
जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता,
एवं ताय ! वियाणह ॥२३॥

जा जा वच्चइ रयणी,
न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स,
अफला जन्ति राइओ ॥२४॥

जा जा वच्चइ रयणी,
न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जन्ति राइओ ॥२५॥

महाभारत

कथमभ्याहतो लोकः,
केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह,
किं नु भीषयसीव माम् ॥८॥

मृत्युनाभ्याहतो लोको,
जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते,
ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥९॥

अमोघा रात्रयश्चापि
नित्यमायान्ति यान्ति च ।
यदाहमेतज्जानामि,
न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये,
जालेनापिहितश्चरन् ॥१०॥

राव्यां राव्यां व्यतीतायां—
मायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव,
सुखं विन्देत कस्तदा ॥११॥

तदेव वन्ध्यं दिवसमिति,
विद्याद् विचक्षणः ।
अनवाप्तेषु कामेषु,
मृत्युरभ्येति मानवम् ॥१२॥

उत्तराध्ययन	हस्तिपाल जातक
जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं । जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ।।२७।।	यस्स अस्स सक्खी मरणेन राज जराय मेत्ती नरविरियसेट्ठ । यो चापि जज्जा स मरिस्सं कदाचि, पस्सेय्यु' तं वस्ससतं अरोगं ।।७।।
	महाभारत
अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो । अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ।।२८।।	श्व कार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । न हि प्रतीक्षते मृत्युः, कृतमस्य न वा कृतम् ।।१५।। को हि जानाति कस्याद्य, मृत्युकालो भविष्यति । अबुद्ध एवाक्रमते, मीनान् मीनग्रहो यथा ।।१५।।
पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहायभोए । कुडुम्ब सारं विउलुत्तमं तं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ।।३७।।	पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा, यथा कार्षीत् पिता नृपः । तथा त्वमपि वर्तस्व, सत्यधर्म परायणः ।।३९।।
	हस्तिपाल जातक
वन्तासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ । माहणण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ।।३८।।	अवमी ब्राह्मणो कामे, ते त्वं पच्चावमिस्ससि । वन्तादो पुरिसो राज, न सो होति पसंसियो ।।१८।।
नागो व्व बन्धणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए । एयं पत्थं महारायं ! उसुयारि त्ति मे सुयं ।।४८।।	इदं वत्वा महाराज, एसुकारी दिसम्पति । रट्ठं हित्वान पब्बजि, नागो छेत्वा व बंधनं ।।२०।।

सरपेन्टियर ने उत्तराध्ययन की ४४-४५ गाथा की ओर ध्यान आक-

चित करते हुए लिखा है कि इन गाथाओं का प्रतिपाद्य जातक के अठारहवें श्लोक में प्रतिपादित कथा से जान सकते हैं। संक्षेप में कथा का सारांश इस प्रकार है—

पुरोहित का सम्पूर्ण परिवार प्रव्रजित हो गया। राजा ने उसकी विराट् सम्पत्ति अपने पास मंगवा ली। रानी को परिज्ञात होने पर वह समझाने का उपक्रम करने लगी। रानी ने कसाई के यहाँ से मांस मँगवाया और राजप्रासाद में उसे बिखेर दिया। सीधे मार्ग को छोड़कर चारों ओर जाल लगवा दिया। मांस को निहार कर गिद्ध पक्षी आये, उन्होंने खूब मांस खाया। जो गिद्ध पक्षी बुद्धिमान् थे, उन्होंने जाल को देखा और चिन्तन करने लगे—हम मांस खा-खाकर बहुत ही भारी हो चुके हैं, जिससे हम सीधे आकाश में उड़ नहीं सकेंगे, उन्होंने खाये हुए मांस को वमन किया और हल्के होकर आकाश में उड़ गये। जो गिद्ध बुद्धिहीन थे, उन्होंने वमन किये हुए मांस को भी खा लिया और अत्यन्त भारी हो गये, जिससे वे सीधे उड़ नहीं सकते थे। वे टेढ़े उड़ने लगे तथा जाल में फँस गये। एक गिद्ध को लाकर अनुचरों ने रानी को दिखाया। वह राजा के सन्निकट पहुँची और उसने झरोखा खोलकर राजा ने कहा—आप भी जरा तमाशा देखें। आर्यपुत्र! जो गीध मांस खाकर पुनः वमन कर रहे हैं, वे गीध आकाश में उड़े चले जा रहे हैं और जो गीध मांस खाकर वमन नहीं कर रहे हैं, वे मेरे द्वारा लगाये गये जाल में फँस रहे हैं।[1]

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत कथानक में उनपचास से तरेपन तक की गाथा को मूल नहीं माना है। उनका अभिमत है कि वे पाँच गाथायें मूल-कथा से सम्बन्धित नहीं हैं। सम्भव है, जैन कथाकार ने बाद में निर्माण कर यहाँ रखा हो।[2] पर उत्तराध्ययन के व्याख्या साहित्य में इस सम्बन्ध में कहीं भी कोई संकेत नहीं है, अतः सरपेन्टियर का कथन केवल तर्क पर आधारित है, तथ्य पर नहीं।

---

१ जातक संख्या ५०९, पाँचवाँ खण्ड, पृष्ठ ७५.

२ The verses from 49 to the end of the chapter certainly do not belong to original legend, but must have been composed by the Jain author.

— The Uttaradhyayana Sutra, p. 335.

पुराण साहित्य में

मार्कण्डेय पुराण में प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्धित मधुर संवाद है। एक बार पक्षियों से जैमिनी ने प्राणियों के जन्म आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। उस जिज्ञासा के समाधान में उन्होंने पिता-पुत्र का एक संवाद प्रस्तुत किया। भार्गव नामक ब्राह्मण का पुत्र सुमति था। उसने धर्मतत्त्व को गहराई से समझा था। एक दिन भार्गव ने पुत्र से कहा—वत्स ! प्रथम वेदों को पढ़कर तथा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा कर, गृहस्थ-जीवन सम्पन्न कर, यज्ञ-याग प्रभृति कृत्यों से निवृत्त होकर पुत्रों को जन्म देकर उसके पश्चात् संन्यास ग्रहण करना, पहले नहीं।[1]

सुमति ने निवेदन किया—जिन बातों के लिए आप मुझे संकेत कर रहे हैं। मैंने पूर्व भी उसका अनेक बार अभ्यास किया है। उसके अतिरिक्त विविध प्रकार के शास्त्र और शिल्पों को भी मैंने अनेक बार पढ़ा है, इसलिए मुझे यह ज्ञात हो चुका है कि वेदों से मुझे क्या प्रयोजन है।[2]

पूज्यवर ! मैं इस विराट् संसार में बहुत ही परिभ्रमण कर चुका हूँ। मैंने अनेक बार माता-पिता के संयोग और वियोग का भी अनुभव किया। सुख और दुःख को भी सहन किया है, जन्म एवं मृत्यु के चक्र में चंक्रमण करते हुए मुझे विशिष्ट ज्ञान हुआ है। मैं अपने लाखों पूर्वजन्मों को निहार रहा हूँ। मुझे मोक्ष प्राप्त कराने वाला ज्ञान समुत्पन्न हो चुका है। उस विशिष्ट ज्ञान के कारण ऋक्, यजु, साम, प्रभृति वेदों के क्रिया-कलाप

---

१ वेदानधीत्य सुमते ! यथानुक्रम मादितः।
गुरु शुश्रूषणेव्यग्रो, भैक्षान्नकृतभोजनम् ॥
ततो गार्हस्थ्यमास्थाय चेष्ट्वा यज्ञाननुत्तमान्।
इष्टमुत्पादयापत्यमाश्रयेथा वनं ततः ॥

—मार्कण्डेय पुराण, १०/११,१२

२ तातैतद् बहुशोभ्यस्तं, यत्त्वयाद्योपदिश्यते।
तथैवान्यानि शास्त्राणि, शिल्पानि विविधानि च ॥
............। उत्पन्नज्ञानबोधस्य, वेदैः किं मे प्रयोजनम् ॥

—मार्कण्डेय पुराण, १०/१६,१७

मुझे उचित ज्ञात नहीं होते हैं। मुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका है। मैं निरीह हूँ, वेदों से मुझे क्या प्रयोजन। इसी उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना और साधना से मुझे ब्रह्म की प्राप्ति हो जायेगी।[1]

पिता ने कहा—वत्स! तू ऐसी बातें क्यों कर रहा है? ऐसा प्रतीत होता है, किसी ऋषि या देव का शाप तुझे लगा है।[2] सुमति ने कहा—तात! पूर्वजन्म में मैं एक ब्राह्मण था। परमात्मा के ध्यान में मैं सदा तल्लीन रहता था। आत्मविद्या के विचार मेरे में पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे। मैं साधना में सदा लगा रहता, मुझे लाखों जन्मों की स्मृति हो आई है। जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति धर्मत्रयी में रहे हुए मानव को होता है, मुझे यह ज्ञान पहले से ही प्राप्त है, अब मैं आत्ममुक्ति के लिए प्रयास करूंगा।[3]

पिता-पुत्र का संवाद आगे बढ़ा। पुत्र पिता के समक्ष मृत्यु-दर्शन उपस्थित करता है। यह संवाद प्रस्तुत कथानक में आये हुए जैन कथानक से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस संवाद में आत्मज्ञान और वेदज्ञान के तारतम्य को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

विन्टरनीट्ज का अभिमत है—मार्कण्डेय पुराण में आया हुआ यह संवाद बहुत कुछ सम्भव है बौद्ध या जैन परम्परा का रहा हो। उसके पश्चात् महाकाव्य या पौराणिक साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है—यह बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित श्रमण-साहित्य का अंश रहा होगा और उसी से जैन, बौद्ध, महाकाव्यकारों तथा पुराणकारों ने ग्रहण कर लिया होगा।[4]

---

१ एवं संसार चक्रेऽस्मिन्, भ्रमता तात! संकटे।
ज्ञानमेतन्मयाप्राप्तं, मोक्षसम्प्राप्ति कारकम्॥
विज्ञाते यत्र सर्वोऽयमृग्जुः सामसंहितः।
क्रियाकलापो विगुणो. न सम्यक् प्रतिभाति मे॥
तस्मादुत्पन्नबोधस्य, वेदैः किं मे प्रयोजनम्।
गुरुविज्ञानतृप्तस्य, निरीहस्य सदात्मनः॥
—मार्कण्डेयपुराण, १०/२७, २८, २९

२ मार्कण्डेयपुराण १०/३४, ३५ ३ मार्कण्डेय पुराण, १०/३७, ४४

४ The Jainas in the History of Indian Literature, p. 7.

आर्य स्कन्दक परिव्राजक

भगवती सूत्र शतक दूसरे और उद्देशक प्रथम में स्कन्दक परिव्राजक का वर्णन आया है। वैदिक परम्परा का 'परिव्राजक' शब्द विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। निरुक्त में भिक्षा से आजीविका करने वाले साधु को 'परिव्राजक' माना है।[1] डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है—परिव्राजक चारों ओर भ्रमण करने वाला संन्यासी था। वह संसार से विरक्त तथा सामाजिक नियमों से अलग-थलग रहकर अपना सम्पूर्ण समय ध्यान, शिक्षण, चिन्तन आदि में व्यतीत करता था।[2]

जैन आगम-साहित्य में तथा उत्तरवर्ती साहित्य में तापस, परिव्राजक, संन्यासी आदि विविध प्रकार के साधकों का सविस्तृत वर्णन है। औपपातिक[3], सूत्रकृतांगनिर्युक्ति[4], पिण्डनिर्युक्ति[5], बृहत्कल्पभाष्य[6] निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि[7], भगवती[8], आवश्यकचूर्णि[9], धम्मपद अट्ठकथा[10], ललित विस्तर[11], आदि ग्रन्थों को निहारा जा सकता है। परिव्राजक श्रमण ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पण्डित होते थे। वशिष्ठ धर्मसूत्र के उल्लेखानुसार परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना, एक वस्त्र व चर्मखण्ड धारण करना, गायों के लिए लाई हुई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना और उसे जमीन पर शयन करना चाहिए।[12] मलालसेकर ने डिक्सनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स आदि में परिव्राजक[13] की परिभाषा प्रस्तुत की है।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर कृतंगला नामक नगरी में पधारे

---

१ निरुक्त १/१४, वैदिक कोश

२ हिन्दू धर्मकोश, पृष्ठ ३६०-३६१

३ औपपातिक सूत्र ३८, पृष्ठ १७२ से १७६

४ सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ३/४/२, ३/४ पृष्ठ ९४-९५

५ पिण्डनिर्युक्ति गा. ३१४

६ बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, पृष्ठ ११७०

७ निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २

८ भगवती सूत्र ११/९

९ आवश्यकचूर्णि पृष्ठ २७८

१० धम्मपद अट्ठकथा-२, पृष्ठ २०९

११ दीघनिकाय अट्ठकथा-१, पृष्ठ २७०

१२ ललित विस्तर पृष्ठ-२४८

१३ (क) वशिष्ठ धर्मसूत्र-१०३-११

(ख) डिक्सनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स, जिल्द २, पृष्ठ १५९ आदि-मलालसेकर।

(ग) महाभारत १२/१९०/३

और छत्रपलाश चैत्य में विराजे। भगवान् के प्रवचन को सुनने के लिए जनसमूह उमड़ पड़ा। कृतंगला नगरी के सन्निकट ही श्रावस्ती नामक नगर था। वहाँ 'कात्यायन' परिव्राजक का शिष्य 'स्कन्दक' परिव्राजक रहता था। वह चार वेद, इतिहास, निघंटु और षष्टितंत्र (कापिलीय शास्त्र) में निपुण था। साथ ही गणितशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, आचारशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र, व्युत्पत्ति शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, ब्राह्मण, नीतिशास्त्र व अन्य दर्शनों में पारंगत था। वहाँ पर 'पिंगल' नामक निर्ग्रन्थ श्रावक रहता था। उसने स्कन्दक परिव्राजक से आक्षेपात्मक भाषा में पूछा—

मागध! यह लोक सान्त है या अनन्त है?
जीव सान्त है या अनन्त है?
सिद्धि सान्त है या अनन्त है?
सिद्ध सान्त है या अनन्त है?

किस प्रकार का मरण पाकर जीव संसार को घटाता और बढ़ाता है? क्या तुम मेरे प्रश्नों का समाधान कर सकोगे?

स्कन्दक परिव्राजक प्रश्नों को सुनते ही शंकाशील हो उठा। उसे समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दूँ। पिंगल ने पुनः पुनः उन प्रश्नों को दोहराया किन्तु उत्तर न आने से स्कन्दक सोचने लगा—इसका सही समाधान क्या हो सकता है? उसी समय उसे ज्ञात हुआ—छत्रपलाश उद्यान में भगवान् महावीर का आगमन हुआ है, अतः स्कन्दक परिव्राजक त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्षमाला, मृत्पात्र, आसन, पात्र प्रमार्जन का वस्त्र खण्ड, त्रिकाष्ठिका, अंकुश, कुश की मुद्रिका धारण कर कृतंगला की ओर प्रस्थित हुआ।

उस समय भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—तुम अपने पूर्व परिचित को देखोगे। गौतम को जिज्ञासा पर भगवान् ने कहा—पिंगल निर्ग्रन्थ ने स्कन्दक से प्रश्न पूछे हैं, वह उनका उत्तर नहीं दे सका, अतः तापसी उपकरणों को धारण कर यहाँ आने के लिए प्रस्थित हो गया है।

गौतम ने पुनः पूछा—भगवन्! क्या वह आपका शिष्य बनेगा? भगवान् ने स्वीकृतिसूचक संकेत किया। भगवान् और गौतम का वार्तालाप चल ही रहा था कि गौतम को दूर से आता हुआ स्कन्दक परिव्राजक दिखाई दिया। गौतम अपने स्थान से उठे और स्कन्दक के सामने गये और मधुर वाणी में बोले—स्कन्दक! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है।

अन्वागत है। हे मागध ! यह सत्य है कि पिंगल नामक निर्ग्रन्थ श्रावक ने आपसे कुछ प्रश्न पूछे जिनके उत्तर आप नहीं दे सके। उनके उत्तर पाने के लिए आपका यहाँ आगमन हुआ है।

गणधर गौतम के द्वारा अपने मन की बात को सुनकर स्कन्दक परिव्राजक को बहुत ही आश्चर्य हुआ। गौतम ने कहा—मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक भगवान् महावीर[1] सर्वज्ञ हैं। आपके मानसिक विचारों से पूर्ण परिचित हैं। उन्होंने ही मुझे बताया कि आप किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं? चलिए, उन्हें श्रद्धास्निग्ध हृदय से वन्दन-नमस्कार कीजिए। स्कन्दक ने भगवान् को वन्दन किया। प्रभु ने कहा—मागध ! श्रावस्ती में रहने वाले पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम्हारे से 'लोक, जीव, मोक्ष, सिद्ध आदि सान्त हैं या अनन्त'। इस प्रकार प्रश्न पूछे थे न ?

स्कन्दक—हाँ, भगवन् ! पूछे थे।

महावीर—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से यह लोक चार प्रकार का है। द्रव्य दृष्टि से एक और सान्त है, क्षेत्र दृष्टि से असंख्य कोटाकोटि योजन आयाम विष्कम्भ वाला है। इसकी परिधि असंख्य कोटाकोटि योजन है। काल की दृष्टि से किसी दिन नहीं होता है, ऐसा नहीं। किसी दिन नहीं था—ऐसा नहीं। किसी दिन नहीं रहेगा—ऐसा भी नहीं। वह तीनों कालों में रहेगा. वह ध्रुव, शाश्वत, नियत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। भावदृष्टि से वह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शपर्यव रूप है।

स्कन्दक ! द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक सान्त है, काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त है, इसलिए लोक सान्त भी है और अनन्त भी है।

जीव के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से ही समझा जाय। द्रव्य की अपेक्षा से जीव एक और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से वह असंख्यात प्रदेशी है और सान्त है। काल की अपेक्षा से वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। अतः नित्य है, उसका कभी भी अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से वह अनन्त ज्ञानपर्यव रूप है, अनन्त दर्शनपर्यव रूप है और अनन्त गुरु-लघु पर्यवरूप है। इसका अन्त नहीं है। इस प्रकार स्कन्दक ! द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा से जीव अन्त-युक्त है एवं काल और भाव की अपेक्षा से अन्त-रहित है।

इसी प्रकार मोक्ष भी सान्त और अनन्त है। द्रव्य की दृष्टि से मोक्ष

एक और सान्त है। क्षेत्र की दृष्टि से पैंतालीस लाख योजन आयाम विष्कम्भ वाला है। काल की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी दिन मोक्ष नहीं था, नहीं है और नहीं रहेगा। भाव की दृष्टि से वह अन्त-रहित है। इस तरह द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से मोक्ष अन्तयुक्त है तथा काल और भाव की दृष्टि से अन्तरहित है।

स्कन्दक ! इसी तरह सिद्ध के सम्बन्ध में भी तुम्हें समझना चाहिए। द्रव्य की दृष्टि से सिद्ध एक है और अन्त-युक्त है। क्षेत्र की दृष्टि से सिद्ध असंख्य प्रदेश अवगाढ़ होने पर भी अन्त-युक्त है। काल की दृष्टि से सिद्ध की आदि तो है पर अन्त नहीं। भाव की दृष्टि से ज्ञान-दर्शन पर्यवरूप है और उसका अन्त नहीं।

मरण के सम्बन्ध में भी तुम्हारे अन्तर्मानस में विकल्प है कि किस मरण मे संसार बढ़ता है तथा किस मरण से संसार घटता है। मरण के दो प्रकार हैं—बाल-मरण और पण्डित-मरण ! बाल-मरण के बारह प्रकार हैं तथा पण्डित के पादपोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान ये दो प्रकार हैं एवं अवान्तर भेद भी अनेक हैं। पण्डित-मरण से संसार घटता है और बाल-मरण से संसार बढ़ता है।

इस प्रकार सभी प्रश्नों के उत्तर सुनकर स्कन्दक परिव्राजक आल्हादित हुआ, उसने दीक्षित होने को भावना व्यक्त की। प्रभु ने उसे जैनेश्वरी दीक्षा दी और ज्ञान-ध्यान की साधना से स्कन्दक परिव्राजक कर्मों को नष्ट कर मुक्त हुआ।

प्रस्तुत कथानक से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समय इस प्रकार के प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे। अनेक परिव्राजक, संन्यासी और श्रमण इन प्रश्नों पर चिन्तन-मनन करते किन्तु सही समाधान के अभाव में इधर-उधर मूर्धन्य मनीषियों से व धर्म-प्रवर्तकों से समाधान पाने के लिए घूमते रहते थे। तथागत बुद्ध के पास इस प्रकार के प्रश्न लेकर कोई जाता तो बुद्ध अव्याकृत कहकर उन्हें टालने का प्रयास करते थे।[1] किन्तु भगवान महावीर ऐसे प्रश्नों पर कभी भी मौन नहीं होते,

---

१ तथागत बुद्ध ने जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहा, वे ये हैं—

१ क्या लोक शाश्वत है ? २ क्या लोक अनन्त है ?

३ क्या लोक अशाश्वत है ? ४ क्या जीव और शरीर एक हैं ?

(शेष पृष्ठ २०० पर)

वे उसका सटीक उत्तर देते जिससे साधक यथार्थ सत्यतथ्य को जानकर साधना के पथ पर बढ़ जाता।

यहाँ एक प्रश्न चिन्तनीय है—स्कन्दक परिव्राजक वैदिक परम्परा का अनुयायी था फिर उसने धर्म-परिवर्तन क्यों किया? उत्तर में निवेदन है—यह जाति-परिवर्तन नहीं किन्तु विचार-परिवर्तन है। भारतीय जाति में विचार-परिवर्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। स्कन्दक, अम्बड आदि अनेक परिव्राजक जो प्रभु महावीर के पास प्रव्रजित हुए थे, यह परिवर्तन स्वयं के विचार एवं रुचि के अनुसार हुआ था। सम्भव है इसी तरह जैन, बौद्ध और आजीवक भी वैदिक धर्म में दीक्षित हुए हों। यह न तो जाति-परिवर्तन था और न राष्ट्रीय चेतना में ही परिवर्तन था। यह कार्य विचार-परिवर्तन तक ही सीमित था। इसीलिए सभी धर्म वाले इस परिवर्तन को बिना रोक टोक के स्वीकार करते थे। आज जो धर्म-परिवर्तन का दौर द्रुत गति से बढ़ रहा है, वह विचार-परिवर्तन नहीं किन्तु जाति-परिवर्तन है और अर्थतन्त्र पर आधृत है। जिससे पारस्परिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है।

पुद्गल परिव्राजक

भगवती सूत्र, शतक ग्यारह और उद्देशक बारह में पुद्गल परिव्राजक का वर्णन आया है। एक बार भगवान् महावीर आलंभिका नगरी के शंखवन उद्यान में पधारे। शंखवन उद्यान के पास 'पुद्गल परिव्राजक' रहता था। उसे विभंगज्ञान हुआ जिससे वह पाँचवें ब्रह्म देवलोक में रहे हुए देवों की स्थिति जानने लगा 'मुझे अतिशय ज्ञान उत्पन्न हुआ है।' देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट दस सागरोपम की है। उस के आगे देव और देवलोक नहीं है। सारे नगर में यह चर्चा फैल गई। भगवान ने कहा—पुद्गल परिव्राजक का कथन असत्य है। मैं कहता हूँ—देवों

(पृष्ठ १९९ का शेष)

५ क्या लोक अन्तमान हैं? ६ क्या जीव और शरीर भिन्न हैं?

७ क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते?

८ क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते?

९ क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते हैं।

—मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त ६३. दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त १/९.

की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है एवं उत्कृष्टतम स्थिति तेतीस सागरोपम की है। पुद्गल परिव्राजक ने आलंभिका नगरी के निवासियों से यह बात सुनी। उसे अपने ज्ञान पर संशय हुआ जिससे उसका विभंगज्ञान नष्ट हो गया। वह अपने धर्मोपकरण लेकर भगवान महावीर के पास आया। महावीर से शंकाओं का निवारण किया और समाधान होने पर वह श्रमण भगवान् महावीर के शासन में प्रव्रजित हुआ तथा कर्मों का अन्त कर सिद्धि प्राप्त की।

धर्मकथानुयोग में 'मोग्गल परिव्वायगे' शब्द दिया है। पं० बेचरदास जी दोशी ने भी 'मोग्गल' शब्द का ही प्रयोग किया है और 'पोग्गल' को उन्होंने पाठान्तर में दिया है। जबकि सैलाना संस्करण, जैन विश्वभारती-लाडनूं संस्करण द्वय में 'पोग्गल परिव्वायग' शब्द को ही प्रमुखता दी है।

शिव राजर्षि

भगवती सूत्र, शतक ग्यारह, उद्देशक नौ में महावीर तीर्थ में हुए शिव राजर्षि का निरूपण हुआ है।

हस्तिनापुर नगर में 'शिव' नामक राजा था और उसकी 'धारिणी' पटरानी थी। रात्रि के तृतीय प्रहर में उसे यह अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि मेरा पुत्र बड़ा हो गया है, मैं उसे राज्य का कार्यभार सौंपकर 'दिशा-प्रोक्षक' प्रव्रज्या ग्रहण करूं। तदनुसार उसने प्रव्रज्या ग्रहण की और यह अभिग्रह ग्रहण किया—यावज्जीवन निरन्तर बेले-बेले की तपस्या द्वारा 'दिक् चक्रवाल तप कर्म से दोनों हाथ ऊँचे रखकर मुझे रहना कल्पता है।' इस प्रकार उग्र अभिग्रह धारण कर प्रथम बेले की तपस्या के पारणे के दिन 'शिव राजर्षि' आतापना भूमि से नीचे उतरता है तथा वल्कल के वस्त्र धारण कर बांस की छबड़ी और कावड़ को लेकर पहले पूर्व दिशा के सोम महाराजा से आज्ञा लेता है और पूर्व दिशा में रहे हुए कन्द, मूल, फल, छाल, पत्र, पुष्प आदि वनस्पति ग्रहण करता है। पुनः कावड़ नीचे रखकर उसने वेदिका का परिमार्जन किया और लीप कर उसे शुद्ध किया। फिर डाभ और कलश हाथ में लेकर गंगा नदी पर आया, उसमें डुबकी लगाई फिर झोंपड़ी में आकर डाभ, कुश और बालुका से वेदिका का निर्माण किया। अरणी की लकड़ी को घिसकर अग्नि प्रज्वलित की, अग्नि के दाहिनी ओर सात वस्तुओं को रखा। सकथा (उपकरण विशेष), वल्कल,

दीप, शय्या के उपकरण, कमंडल, दण्ड और स्वयं का शरीर। मधु, घृत, चावल द्वारा अग्नि में होम कर वैश्वदेव की अर्चना की। अतिथि की पूजा करके आहार ग्रहण किया। दूसरी बार उसी तरह दक्षिण, पश्चिम और उत्तर सभी लोकपालों की आज्ञा लेकर वह पारणा करता। दिकचक्रवाल तप, आतापना, प्रकृति की भद्रता आदि से शिव राजर्षि को विभंगज्ञान हुआ जिससे वह सात द्वीप और सात समुद्र को देखने लगे। उन्होंने यह उद्‌घोषणा की—लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही हैं।

भगवान् महावीर हस्तिनापुर नगरी के उद्यान में पधारे। इन्द्रभूति गौतम ने शिव राजर्षि की अतिशय ज्ञान की चर्चा सुनी, उन्होंने भगवान् महावीर से निवेदन किया—भगवन्! सत्य क्या है? प्रभु ने स्पष्ट शब्दों में कहा—शिव राजर्षि का कथन मिथ्या है। जम्बूद्वीप आदि सभी वृत्ताकार है। विस्तार में एक दूसरे से दुगुने हैं तथा असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। शिव राजर्षि ने भगवान् महावीर की वह बात सुनी, तो उसे अपने ज्ञान के प्रति संशय पैदा हुआ। वह भगवान के पास पहुँच कर, सही समाधान पाकर प्रबुद्ध हुआ, उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर अंगों का अध्ययन किया। कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

स्कन्दक परिव्राजक, पुद्‌गल परिव्राजक तथा शिव राजर्षि ये तीनों वैदिक परम्परा के परिव्राजक श्रमण परम्परा को ग्रहण करते हैं और साथ ही उस युग के ज्वलन्त प्रश्न, जो जन-मानस में घूम रहे थे और सही समाधान नहीं होने से जन-मानस विक्षुब्ध बना हुआ था, उन प्रश्नों का सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्पष्ट रूप से समाधान करते हैं। कथा के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है। यही इन तीनों कथाओं की विशेषता है।

उदायन राजा

भगवतीसूत्र, शतक तेरह और उद्देशक छह में महावीर तीर्थ में हुए राजा उदायन का कथानक आया है।

सिन्धु सौवीर देश में 'वीतभय' नामक नगर था। वहाँ का राजा 'उदायन' था। एक रात्रि को पौषध करते हुए उसके अन्तर्मानस में ये विचार उद्‌बुद्ध हुए कि यदि भगवान महावीर यहाँ पधारें तो मैं अपने पुत्र को राज्य देकर श्रमण बन जाऊँ। भगवान् महावीर उग्र विहार करते हुए वीतभय नगर में पधारे। उदायन बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने भगवान् से

निवेदन किया—भगवन् ! मेरी दीक्षा ग्रहण करने की भावना है। पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षित होने के लिए मैं आपश्री के चरणों में उपस्थित न होऊँ, वहाँ तक आप विहार न करें। महावीर ने कहा---धर्म-कार्य में प्रमाद मत करना। वह चिन्तन करने लगा—यदि पुत्र को राज्य दूँगा तो वह राज्य में आसक्त हो जाएगा और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा। मैं उसके संसार-परिभ्रमण का निमित्त बनूँगा। अतः पुत्र को राज्य न देकर अपने भानजे केशी को राज्य दूं जिससे पुत्र भी सुरक्षित रहेगा। राजा ने अपने विचार को आचार में परिणत कर दिया। उदायन बड़े समारोह के साथ अभिनिष्क्रमित हुआ। उसने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के पश्चात् दुष्कर तप की आराधना करते हुए वे अत्यन्त कृश हो गये। शारीरिक शक्ति क्षीण होने के वे रुग्ण रहने लगे। जब रोग ने उग्र रूप धारण किया तो ध्यान, स्वाध्याय आदि में विघ्न उपस्थित होने लगा। वैद्य के परामर्श से उदायन राजर्षि ने गोकुल में रहकर दधि आदि का उपयोग किया, जिससे वे पूर्ण स्वस्थ हुए।

भगवती में इतना ही वर्णन है, किन्तु आवश्यकचूर्णि तथा अन्य व्याख्या साहित्य में उल्लेख है कि एक समय राजर्षि उदायन विहार करते हुए वीतभय नगर में पधारे। राजा केशी को मन्त्रियों ने कहा—आपका राज्य छीनने के लिए राजर्षि पुनः नगर में आये हैं अतः आपको सचेत हो जाना चाहिए। क्रुद्ध होकर राजा केशी ने यह उद्घोषणा करवा दी—मुनि को रहने के लिए स्थान न दें। राजर्षि को नगर में कहीं भी स्थान नहीं मिला। अन्त में एक कुम्भकार के वहाँ पर उन्होंने विश्राम लिया। राजा केशी ने राजर्षि को मरवाने के लिए आहार में जहर मिला दिया पर महारानी प्रभावती, जो देवी बनी हुई थी, उसने उनको उबार लिया। देवी की अनुपस्थिति में विष-मिश्रित आहार राजर्षि के पात्र में आ गया। उन्होंने अनासक्त भाव से उस आहार को ग्रहण किया, जिससे शरीर में विष फैल गया। राजर्षि ने अनशन किया, केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति की।

राजर्षि के मोक्ष-गमन से देवी, नागरिकों और राजा पर अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उसने धूलि की वर्षा की, सारे नगर को धूल से आच्छादित कर दिया। केवल कुम्भकार बचा क्योंकि वह राजर्षि का शय्यातर था। देवी

कुम्भकार को सिनपल्ली ले गई और उस स्थान का नाम 'कुम्भकारपक्खेव' रखा गया।[1]

बौद्ध साहित्य में उदायन

बौद्ध साहित्य अवदान कल्पलता[2] व दिव्यावदान[3] में भी राजा उदायन का वर्णन है। चूर्णि साहित्य में उदायन का नाम 'उद्रायण' प्राप्त होता है।[4] वैसे ही अवदान कल्पलता में 'उद्रायण' और दिव्यावदान में 'रुद्रायण' नाम प्राप्त होते हैं। दोनों ही परम्परा उसे सिंधु सौवीर देश का राजा मानती हैं पर राजधानी के नाम में अन्तर है। जैन साहित्य में राजधानी का नाम 'वीतभय' है तो बौद्ध साहित्य में उसका नाम 'रोरुक' दिया है। दोनों ही परम्परा के अनुसार उसकी महारानी स्वर्ग से आकर उसे प्रतिबुद्ध करती है।

राजा उदायन का भगवान् महावीर तथा बुद्ध के सम्पर्क में आने का वर्णन पृथक्-पृथक् रूप से मिलता है। भगवान् महावीर स्वयं सिन्धु सौवीर देश में पधारते हैं और राजा को दीक्षा प्रदान करते हैं, जबकि तथागत बुद्ध उसे मगध में आने पर दीक्षा देते हैं। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार मुनि उदायन जब अपनी राजधानी में जाते हैं, वहाँ पर दुष्ट अमात्य राजा को भ्रमित कर देते हैं और राजर्षि का वध करवा देते हैं। राजा दीक्षा लेने के पूर्व अपना राज्य जैन दृष्टि से अपने भानजे केशी को देता है तो बौद्ध दृष्टि से अपने पुत्र शिखण्डी को राज्य देता है। दोनों ही परम्पराओं

---

१. (क) सिणवल्लीए कुम्भकारपक्खेवं नाम पट्टणं तस्स नामेणं जातं।

—आवश्यकचूर्णि

(ख) सो य अवहरितो अणवराहि त्ति काउं सिणवल्लीए।
कुम्भकारक्खेवो नाम पट्टणं तस्स नामेणं कयं॥

—उत्तरा० अ० १८.

(ग) शय्यातरं मुनेस्तस्य कुम्भकारं निरागसम्।
सा सुरी सिनपल्यां प्राग् निन्ये हृत्वा ततः पुरम्॥
तस्य नाम्ना कुम्भकार कृतमित्याह्वयं पुरम्।
तत्र सा विदधे किं वा दिव्य शक्तेर्न गोचरः॥

—उत्तरा० भावविजय की टीका, पत्र ३८७-२.

२. अवदान ४०   ३. दिव्यावदान ३७.

४. उद्दायण राया, तावसो भत्तो.   —आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पत्र ३९९.

की दृष्टि से राजा उदायन अर्हत् बनकर निर्वाण प्राप्त करते हैं और देवी प्रकोप से नगर धूलिसात् हो जाता है।[1]

उदायन की कथा भगवती में विस्तार से प्राप्त है।[2] उत्तराध्ययन में भी उसका संक्षेप में उल्लेख हुआ है।[3] चूर्णि व अन्य टीका साहित्य में यह कथा आई है।[4] भगवती की दृष्टि से उदायन का पुत्र अभीचिकुमार निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। पिता के द्वारा राज्य न मिलने से उसके मन में विद्रोह की भावना पैदा हुई और वह असुरयोनि में उत्पन्न हुआ।[5]

बौद्ध साहित्य में प्रस्तुत कथानक जैन कथानक से बाद में आया है। क्योंकि रुद्रायणावदान प्रकरण पाली साहित्य में नहीं है और न हीनयान परम्परा के अन्य कथा साहित्य में ही है। अवदान कल्पलता और दिव्यावदान ये दोनों महायान परम्परा के ग्रन्थ हैं। ये संस्कृत में हैं और उत्तरकालीन है।[6] एक व्यक्ति दोनों ही परम्परा में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करे, यह सम्भव नहीं है। सम्भव है जैन साहित्य में आई हुई प्रस्तुत कथा को बौद्ध साहित्यकारों ने अपनाया हो। क्योंकि राजा बिम्बिसार और उदायन का मैत्री-सम्बन्ध भी उसी तरह से कराया गया है जैसे जैन परम्परा में अभयकुमार और आर्द्रककुमार का।[7] हमारी दृष्टि से राजर्षि उदायन जैन परम्परा का ही परम उपासक रहा। सम्भवतः उसके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बाद में बौद्ध साहित्यकारों ने उसे अपने साहित्य में स्थान दिया हो।

जिनपालित और जिनरक्षित

ज्ञाताधर्मकथा, श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन नौ में महावीर तीर्थ में हुए जिनपालित जिनरक्षित का वर्णन है। जिनपालित और जिनरक्षित माकंदी सार्थवाह के पुत्र थे और चम्पा के निवासी थे। उन्होंने अनेक बार समुद्र-यात्रा की। जब भी उनके अन्तर्मानस में यात्रा का विचार आता, वे चल

---

१. बौद्ध साहित्य दिव्यावदान रुद्रायणावदान ३७

२. भगवती शतक १३, उद्दे० ६

३. सोवीररायवसभो चइत्ताणं मुणी चरे। उदायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं।
—उत्तरा० १८/४८

४. आवश्यकचूर्णि पूर्वार्द्ध

५. भगवती शतक १३, उद्दे० ६

६. दिव्यावदान—सम्पादक पी० एल० वैद्य—प्रस्तावना।

७. देखिए आर्द्रककुमार का प्रसंग।

पड़ते। उनकी यात्रा का उद्देश्य व्यापार था। निरन्तर सफलता प्राप्त होने से उनका साहस बढ़ गया। जब वे बारहवीं बार समुद्र यात्रा के लिए सन्नद्ध हुए तो माता-पिता ने इन्कार करते हुए कहा—हमारे पास इतना वैभव है कि सात पीढ़ी तक भी वह समाप्त नहीं हो सकता। अतः बारहवीं यात्रा स्थगित कर दो। जवानी के जोश में पुत्र नहीं माने और यात्रा के लिए चल पड़े। नौकाएँ समुद्र में आगे बढ़ रही थीं। आकाश में मेघों की भयंकर गर्जना होने लगी, बिजलियाँ कौंधने लगीं तथा भयंकर आँधी ने रौद्र रूप धारण किया। उन दोनों का यान उस आँधी में फँसकर छिन्न-भिन्न हो गया। माता-पिता की बात न मान कर अपने हठ पर कायम रहने का दुष्परिणाम वे भोग चुके थे। एक टूटे हुए पाटिया के सहारे वे समुद्र में तिर रहे थे। जिस प्रदेश में वे पहुँचे वह रत्नद्वीप था। रत्नदेवी उनके पास पहुँची और उनसे भोग की याचना की। कोई विकल्प नहीं होने से वे उसकी इच्छा तृप्त करने लगे। एक बार रत्नदेवी ने जाते हुए जिनपाल और जिनरक्षित को तीन दिशाओं के वनखण्डों में जाने की अनुमति दी किन्तु दक्षिण दिशा के वनखण्ड में जाने का निषेध किया। देवी के मना करने पर भी वे उधर ही चल पड़े। उन्होंने वहाँ एक व्यक्ति को शूली पर छटपटाते हुए देखा। पूछने पर उसने अपनी करुण कहानी कही—देवी के कारण ही मेरी यह स्थिति हुई है: माकन्दीपुत्रों का हृदय काँप उठा। उस व्यक्ति ने शैलक यक्ष के पास जाने का संकेत किया। वे दोनों शैलक यक्ष के पास पहुँचे। पर उसने शर्त रखी—रत्नदेवी के प्रलोभन में तुम आ गये तो मैं तुम्हें समुद्र में गिरा दूँगा। जो प्रलोभन में नहीं आयेगा, उसे सकुशल पहुँचा दूँगा। रत्नदेवी अपने ज्ञान से जानकर वहाँ आई। जिन पालित अविचल रहा किन्तु जिनरक्षित उसके अनुराग में अनुरक्त हो गया। यक्ष ने उसे पीठ से गिरा दिया और रत्नदेवी ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। जिनपालित अपने लक्ष्य-स्थल पर पहुँच गया। इसी प्रकार जो साधक अपनी साधना से विचलित नहीं होता, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत कथानक से मिलता-जुलता कथानक बौद्ध साहित्य के 'बला-हस-जातक' तथा 'दिव्यावदान' में भी है। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि दोनों कथानकों में परम्परा के भेद से अन्तर अवश्य है पर कथानकों के मूल तत्व प्रायः मिलते-जुलते हैं। श्रमण भगवान महा-वीर के पावन उपदेश को श्रवण कर जिनपालित श्रमण धर्म को स्वीकार करता है और उत्कृष्ट तप-जप की आराधना द्वारा अपनी आत्मा को भावित

करते हुए सौधर्म देवलोक में देव बनकर महा-विदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनता है।

कालास्यवेषि अणगार

कालास्यवेषि अणगार भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। भगवान महावीर के समय हजारों पार्श्वापत्य श्रमण विचरते थे। उसमें कालास्यवेषि पुत्र अणगार भी थे। उनके अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्बुद्ध हुआ कि हमारे में और भगवान महावीर के स्थविरों में क्या अन्तर है? उन्होंने सामायिक आदि के सम्बन्ध में स्थविरों से पूछा। उत्तर पाकर वे अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और पार्श्वापत्य के चातुर्याम धर्म को छोड़कर भगवान महावीर के शासन को स्वीकार किया। (भगवती १/उ० ९)

उदक पेढाल

सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध द्वितीय, अध्ययन सातवें में उदक पेढाल का वर्णन है। राजगृही का उपनगर नालन्दा था। वहाँ 'लेव' नामक श्रमणोपासक था। उसकी 'शेषद्रविका' उदकशाला थी। प्रोफेसर डॉ० हर्मन जैकोबी[1] ने तथा गोपालदास पटेल ने[2] उदकशाला का अर्थ 'स्नान गृह' किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रपा' (प्याऊ) अर्थ किया है।[3] शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज ने भी यही अर्थ किया।[4]

गौतम गणधर एक बार उदकशाला में ठहरे हुए थे। पार्श्वापत्तीय मेतार्य गोत्रीय पेढालपुत्र उदक नामक निर्ग्रन्थ भी उसी के सन्निकट ठहरे हुए थे। वे गणधर गौतम से विविध प्रश्नोत्तर करते हैं। उनके प्रश्नों के मुख्य दो उद्देश्य थे—पहला श्रमणोपासक द्वारा ग्रहण किया जाने वाला त्रसवध प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है क्योंकि उसका पालन सम्भव नहीं है। त्रस जीव मरकर स्थावर हो जाते हैं और स्थावर जीव मरकर त्रस हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में त्रस-स्थावर का निश्चय करना कठिन होता है, अतः त्रस के स्थान पर 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। त्रसभूत

---

१ सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, वाल्यूम ४५। —प्रो० डा० हर्मन जेकोबी
२ 'महावीरनो संयमधर्म' (गुजराती) पृष्ठ १२७। —गोपालदास पटेल
३ अभिधान चिन्तामणि कोष, भूमिकाण्ड, श्लोक ६७। —आचार्य हेमचन्द्र
४ अर्धमागधी कोष, भाग २, पृष्ठ २१८। —शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज

का अर्थ है— वर्तमान में जो जीव त्रस-पर्याय में है, उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करना। उनका दूसरा उद्देश्य था—सभी त्रस यदि कदाचित् स्थावर हो जायेंगे तो श्रमणोपासक का त्रसवध प्रत्याख्यान निरर्थक एवं निर्विषय हो जायेगा। गणधर गौतम ने अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा उनके प्रश्नों का समाधान किया। अन्त में उदक निर्ग्रन्थ भगवान महावीर के चरणों में स्व-समर्पण करके पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार करते हैं। इसका बड़ा ही रोचक वर्णन इस कथानक में है। प्रस्तुत कथानक से यह भी पता लगता है कि गणधर गौतम अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से गहनतम समस्याओं का भी सरलतम समाधान करने में पूर्ण दक्ष थे।

नन्दीफल

ज्ञातासूत्र श्रुतस्कंध प्रथम अध्ययन पन्द्रहवें में प्रस्तुत प्रसंग आया है। धन्य सार्थवाह चम्पा का बहुत बड़ा व्यापारी था। वह माल लेकर अहिछत्रा नगरी जाने का विचार करने लगा। व्यापार समाजसेवा का एक माध्यम है। प्रत्येक देश में प्रत्येक वस्तु नहीं होती और न प्रत्येक देश में कलाओं का विकास ही होता है। इसलिए व्यापार के द्वारा आयात और निर्यात किया जाता है। कितनी ही वस्तुएं कितने ही प्रदेशों में इतनी अधिक मात्रा में होती हैं कि जन-समूह उनका उपभोग नहीं कर पाता तथा उस उत्पादन का उन्हें उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। उस क्षेत्र में वह वस्तु निरर्थक बन जाती है। उन वस्तुओं का अभाव दूसरे देश-निवासियों को खटकता रहता है। आयात और निर्यात होने से समस्या का सही समाधान हो जाता है। उत्पादकों को योग्य पारिश्रमिक मिलता है और आवश्यकता की पूर्ति हो जाने से सभी का जीवन शान्ति के सागर पर तैरने लगता है। आयात-निर्यात का उत्तरदायित्व वणिक् वर्ग पर था। वणिक् वर्ग में ही एक वर्ग 'सार्थवाह' कहलाता था। वह कुशल व्यापारी होता था, अनेक लोगों को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता था। असहाय व्यक्तियों के लिए वह मेढ़ीभूत होता था। धन्य श्रेष्ठी ऐसा ही सार्थवाह था। वह अपने साथ बहुत सारे व्यापारियों को लेकर जा रहा था, विकट अटवी में जब सार्थवाह पहुँचा तो वहाँ पर ऐसे विष वृक्ष थे, जिसके फल, पत्ते, छाल छूने पर, चखने पर और सूंघने पर अत्यन्त मधुर लगते थे, पर उनकी छाया ही प्राणों का अपहरण करने वाली थी। अतः धन्य सार्थवाह ने, जो उन वृक्षों से परिचित था, उसने सार्थ को चेतावनी दी कि

कोई भी इन वृक्षों से सन्निकट न जाये। जिन व्यक्तियों ने उसके कथनानुसार कार्य किया, वे सकुशल रहे और जो उन वृक्षों के वर्ण, गंध, रसादि में आसक्त हो गये, वे मृत्यु के शिकार हुए। संसार भयानक अटवी है। जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं, वे दीर्घकाल पर्यन्त संसार की विविध व्यथायें भोगते हैं, अतः साधक को उनसे बचने का संकेत है।

ज्ञातासूत्र में उन जहरीले फलों का नाम 'नन्दी फल' दिया है।[1] उत्तराध्ययन तथा अन्य स्थानों पर 'किंपाक फल' दिया है।[2] किंपाकफल अत्यन्त स्वादु होता था। उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में भी यह उल्लेख है।[3] विष वृक्षों का उल्लेख आगम साहित्य में ही नहीं किन्तु आधुनिक अनुसन्धित्सुओं ने भी ऐसे वृक्षों का उल्लेख किया है। आस्ट्रेलिया में एक विचित्र वनस्पति है, जिसकी डालों में शेर के पंजों के सदृश्य बड़े-बड़े काँटे होते हैं। यदि कोई भूल से घोड़े पर बैठकर उधर से निकले तो वे डालें उस घोड़े पर बैठे हुए व्यक्ति को उसी तरह से उठा लेती है जैसे बाज पक्षी छोटी चिड़ियों को उठा लेता है और वह वृक्ष उस मानव का आहार कर लेता है। अमेरिका के उत्तरी कैरोलीना राज्य में 'वीनस फ्लाइट्रेप' पौधा पाया जाता है। उस वृक्ष पर कोई भी कीड़ा या पतंगा बैठता है तो पत्ता तत्काल बन्द हो जाता है। जब पौधा उसका रक्त, मांस सोख लेता है, तब पत्ता खुल जाता है और कीड़े का सूखा शरीर नीचे गिर जाता है। इसी तरह 'पाचर प्लान्ट', रेन हेटट्रम्पट, बटर-वार्ट, सनड्यू, उपस, टच-मी-नाट आदि अनेक मांसाहारी वृक्ष हैं, जो जीवित कीड़ों को पकड़ने और भक्षण करने की कला में दक्ष हैं।[4]

इससे यह सिद्ध है कि आगम युग में इस प्रकार के वृक्ष होते थे, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है, क्योंकि आधुनिक युग में भी इस प्रकार के वृक्ष मिलते हैं।

---

१ ज्ञातासूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्य. १५

२ उत्तराध्ययन, अध्य. १६, गाथा १७

३ किम्पाको—वृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादूनि।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५

४ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ : जैन दर्शन और विज्ञान, ले० कन्हैयालाल लोढा, पृष्ठ ३३०

धन्य सार्थवाह

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अठाहरवें अध्ययन में धन्य सार्थवाह का कथानक आया है। धन्य सार्थवाह की पुत्री सुषमा थी। उसकी देखभाल के लिए 'चिलात' दासी-पुत्र को नियुक्त किया गया। वह अत्यन्त उच्छृंखल था। श्रेष्ठी ने उसे निकाल दिया। वह व्यसनों का दास बन गया और तस्कराधिपति भी। बाल्यकाल से ही वह सुषमा को प्यार करता था, अतः उसने सुषमा का अपहरण किया। श्रेष्ठी और उसके पुत्रों ने उसका पीछा किया। अटवी में चिलात के द्वारा मारी गई सुषमा की मृत देह उन्हें प्राप्त हुई। वे कई दिनों से भूखे और प्यासे थे। अन्य कोई भी खाद्य पदार्थ उपलब्ध नहीं था, अतः उन्होंने उस मृत देह का भक्षण कर अपने प्राणों की रक्षा की। उन्हें उस आहार के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं थी। वैसे ही श्रमण और श्रमणियाँ संयम निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करते हैं। आहार का लक्ष्य संयम-साधना है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी इसी तरह मृत-कन्या का माँस-भक्षण कर जीवित रहने का उल्लेख है।[1]

विसुद्धिमग्ग और शिक्षा समुच्चय में भी बौद्ध श्रमणों को इस तरह आहार लेना चाहिए, यह बताया गया है। मनुस्मृति, आपस्तम्बधर्मसूत्र[2] वासिष्ठ[3] बोधायन धर्मसूत्र[4] आदि में संन्यासियों की आहार सम्बन्धी चर्चा भी इसी प्रकार मिलती-जुलती है।

प्रस्तुत कथानक से यह भी परिज्ञात होता है कि महावीर युग में तस्करों के द्वारा ऐसी मंत्रशक्ति का प्रयोग किया जाता था, जिससे संगीन से संगीन ताले भी मंत्र शक्ति से खुल जाते थे।[5] इससे यह स्पष्ट है कि उस युग में ताले आदि का उपयोग धन आदि की रक्षा के लिए होता था। विदेशी यात्री मेगास्थनीज', ह्वाएनत्सांग अथवा युवानच्वाङ (६००—६४ ई०), फाह्यान प्रभृति यात्रियों ने अपने यात्रा-विवरणों में लिखा है—भारत में कोई भी व्यक्ति ताले आदि का उपयोग नहीं करता था, पर आगम साहित्य में ताले आदि का जो वर्णन मिलता है, वह अनुसन्धित्सुओं के लिए अन्वेषणीय है।

---

१ संयुक्तनिकाय २, पृष्ठ ९७।
२ आपस्तम्बधर्मसूत्र २'४'९'१३।
३ वासिष्ठ० ६ : २०,२१.
४ बोधायन धर्मसूत्र २'७'३१'३२।
५ 'तालुग्घाडणिविज्जं'—ज्ञातासूत्र, प्रथम श्रुत०, अध्ययन १८।

कालोदायी अणगार

भगवती शतक ७ उद्देशक १० में कालोदायी का कथानक है जो महावीर के तीर्थ में हुए थे। राजगृही के गुणशीलक उद्यान के सन्निकट अन्यतीर्थी रहते थे। कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी उदय, नामोदय, नरमोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ति गृहपति आदि। वे परस्पर वार्तालाप करने लगे। भ० महावीर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन पांचों द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं और इन अस्तिकायों में से पुद्गलास्तिकाय को छोड़कर शेष चार को अरूपी कहते हैं। उनका यह कथन किस प्रकार माना जा सकता है? उन्होंने गणधर गौतम को सन्निकट से जाते हुए देखा और गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की। गौतम ने कहा—हम अस्तिभाव को अस्तिभाव कहते हैं और नास्तिभाव को नास्तिभाव। गौतम ने भगवान् महावीर से कहा। उधर कालोदायी प्रभु के समवसरण में पहुँचा। भगवान् ने कहा—तुझे अस्तिकाय सम्बन्धी शंका है। मैं धर्मास्तिकाय आदि की प्ररूपणा करता हूँ।

कालोदायी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय इन अरूपी अजीव कायों पर क्या कोई बैठना, सोना, खड़े रहना आदि क्रियायें कर सकता है?

भगवान् ने स्पष्टीकरण किया—केवल पुद्गलास्तिकाय ही रूपी अजीव है। उस पर बैठने, सोने आदि की क्रियायें की जा सकती हैं, शेष पर नहीं। पुनः कालोदायी ने जिज्ञासा की—रूपी अजीव पुद्गलास्तिकाय में क्या जीवों को अशुभ फल देने वाले पापकर्म लगते हैं? भगवान ने कहा जीव ही पापकर्म से युक्त होते हैं। समाधान पाकर कालोदायी ने स्कन्दक की तरह प्रभु के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

प्रस्तुत कथा में जैनदर्शन की महत्वपूर्ण चर्चा है। जीवद्रव्य अरूपी है। वह चेतनामय है और जिसमें चेतना गुण का अभाव है, वह अजीव है। अजीव द्रव्य रूपी और अरूपी दोनों प्रकार का है। पुद्गल रूपी है, शेष चार द्रव्य अरूपी। रूपी के लिए मूर्त और अरूपी के लिए अमूर्त शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

जैनदर्शन ने छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल को गतिशील एवं स्थितिशील दोनों माना है। धर्मास्तिकाय गति में सहायक है तो अधर्मा-

स्तिकाय स्थिति में। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी भी दर्शन में इन शब्दों का प्रयोग एवं चिन्तन नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिकों में सर्व-प्रथम 'न्यूटन' ने गतितत्त्व (Medium of Motion) को माना है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'अल्बर्ट आइन्स्टोन' ने गतितत्त्व की स्थापना करते हुए कहा—लोक परिमित है तो अलोक भी परिमित है। लोक परिमित होने का मूल कारण यह है कि शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक है। वैज्ञानिकों ने जिसे 'ईथर'—गतितत्त्व कहा है, उसे ही जैन साहित्य में धर्मद्रव्य कहा है।[1]

यहाँ पर गति से तात्पर्य है— एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की क्रिया। धर्मद्रव्य इस प्रकार की क्रिया में सहायक होता है। जैसे—मछली स्वयं तैरती है तथापि उसकी क्रिया बिना पानी के नहीं हो सकती। पानी उसके तैरने में सहायक है। जब मछली तैरना चाहती है तब उसे पानी की सहायता लेनी पड़ती है। यदि वह तैरना न चाहे तो पानी बल-प्रयोग नहीं करता। वैसे ही जीव और पुद्गल जब गति करते हैं तब धर्मद्रव्य सहा-यक होता है 'ईथर' आधुनिक भौतिक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध है।[2]

---

१. (क) उत्तराध्ययन ३६/४।
(ख) समवायांग १४९

२. I am quite sure that you have heard of Ether before now, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons to render a patient unconscious for an operation, If you should ask me just what the Ether is, that is the Ether that conveys electromagnetic-waves. I would answer that I cannot accurately describe it. Neither can anyone else. The best that anyone could do would be to say that Ether is invisible body and that through it electromagnetic-waves can be propagated.

But let us see from a practical standpoint the nature of the thing called 'Ether'. We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases. Now suppose that inside a glass-

vessel there are no solids, liquids or gases : that all of these things have been removed including the air as well.

If I were to ask you to describe the condition that now exist, within the glass-vessel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a vacuum has been created. But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'Ether', nothing else.

So we may say that 'Ether' is a 'something' that is not a solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically. Therefore, we may say that an absolute 'vacuum' or a void does not exist anywhere, for we know that an absolute vacuum cannot be created for Ether cannot be removed.

We get our knowledge of Ether from experiments : by observing results and deducing reacts. For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of any kind reaches our ears. Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist, and thus, that sound must be due to vibration in the air.

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void of air. We find that radio signals are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air. So we are right in deducing that electro-magnetic waves or Radio waves, do not depend on air for their propagation that they are propagated through or by means of "something" which remained inside that glass enclosure after the air had been exhausted. This some-thing has been named "Ether."

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the

ईथर के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञानवेत्ता डा० ए० एस० एडिग्टन'[1] ने लिखा है—

"आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है, भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है, भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा, परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे..........'ईथर का अभौतिक सागर'।"

अलबर्ट आइन्सटीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार 'ईथर अभौतिक, अपरिमाण्विक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने-आप में स्थिर है'।[2]

---

same time within the earth, and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere ; and that electromagnetic wave been can be propagated everywhere.

—Hollywood, R. and T. : Instruction Lesson No. 2. 'What is Ether ?'

१. This does not mean that the Ether is abolished. We need an Ether..........in the last century it was widely believed that Ether was a kind of matter having properties such as mass, rigidity, motion like ordinary matter. It would be difficult to say when this view died out........Now-a-days it is agreed that Ether is not a kind of matter, being non-material its properties are signeries [quite unique] characters such as mass and rigidity which we meet within matter will naturally be absent in Ether but the Ether will have new and definite characters of its own..............non-material ocean of Ether.

—The Nature of the Physical World, p. 31.

२. Thus it is proved that Science and Jain Physics agree absolutely so far as they call Dharma [Ether] non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not itself move.

अधर्मास्तिकाय अवस्थिति में सहायक है। कितने ही आधुनिक चिन्तक अधर्म द्रव्य की तुलना या समानता गुरुत्वाकर्षण और फील्ड से करते हैं। किन्तु डॉक्टर मोहनलाल जी मेहता का मन्तव्य है कि गुरुत्वाकर्षण [Gravit tion] और फील्ड [Field] से अधर्म पृथक् और एक स्वतन्त्र तत्व है।

एक बार कालोदायी अणगार ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वयं किस प्रकार करता है।

महावीर ने समाधान दिया—जैसे कोई मानव स्निग्ध, सुगन्धित, विषमिश्रित मादक पदार्थ का भोजन करता है, उसे वह भोजन अत्यन्त प्रिय लगता है, उस समय उससे होने वाली हानि से वह विस्मृत हो जाता है। किन्तु उस भोजन का खाने वाले के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि पापों का सेवन करते समय वे अत्यन्त मधुर लगते हैं, पर उससे जो पापकर्म बँधता है, वह बड़ा अनिष्टकारक होता है तथा वह फल पाप कृत्य करने वालों को ही भोगना पड़ता है।

भगवन्! जीव शुभ कर्मों को किस प्रकार करता है?—कालोदायी ने पूछा।

महावीर—जैसे कोई मानव औषधिमिश्रित भोजन करता है। वह भोजन तीखा या कटुक होने पर भी बल और वीर्यवर्धक होता है, इसलिए लोग उसे खाते हैं। इसी तरह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, अलोभ, आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियाँ मन को मधुर नहीं लगतीं, पर उनका परिणाम अत्यन्त सुखकर होता है।

कालोदायी ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्! दो व्यक्ति हैं, उन दोनों के पास समान उपकरण हैं। एक अग्नि को प्रज्वलित करता है और दूसरा उसे बुझाता है। कृपया फरमाइये कि अग्नि प्रज्वलित करने वाला अधिक पाप का भागी होता है या अग्नि बुझाने वाला?

भगवान् ने कहा--जो अग्नि को प्रज्वलित करता है, वह अधिक आरम्भ और कर्मबन्धन करता है, क्योंकि पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा वह अधिक करता है और अग्नि की हिंसा कम करता है। जो अग्नि को बुझाता है, वह अग्नि का आरम्भ अधिक करता है और पृथ्वी,

पानी, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है। अग्नि से होने वाली हिंसा को वह घटाता है, इसीलिए आग जलाने वाला आरम्भ अधिक करता है और आग बुझाने वाला कम।

कालोदायी—भगवन् ! क्या अचित्त पुद्गल प्रकाश या उद्योत करते हैं, वे किस प्रकार प्रकाशित होते हैं ?

महावीर—अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। जब कोई तेजोलेश्याधारी मुनि तेजोलेश्या छोड़ता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते हैं; वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला और प्रयोग हिंसाजनक होता है।

भगवान् के उत्तरों से कालोदायी अणगार का समाधान हो गया। उसने विविध तप की आराधना की। जीवन की सांध्य बेला में अनशन कर समाधिपूर्वक मोक्ष प्राप्त किया।

प्रस्तुत कथानक में अनेक तलस्पर्शी दार्शनिक प्रश्नों का समाधान किया गया है। ये समाधान भगवान् महावीर के अतिशय ज्ञान के द्योतक हैं। सामान्य मानव इस प्रकार के उत्तर नहीं दे सकता।

पुण्डरीक और कण्डरीक

ज्ञाताधर्मकथा श्रुतस्कंध प्रथम, अध्ययन उन्नीसवें में पुण्डरीक-कण्डरीक का प्रसंग है। पुष्कलावती विजय में महापद्म सम्राट था। वह श्रमण बना। उसका ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक राज्य का संचालन करने लगा और कण्डरीक युवराज बना। महापद्म सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। कुछ समय के पश्चात् दूसरे स्थविर का वहाँ आगमन हुआ। कण्डरीक को वैराग्य हुआ। राजा पुण्डरीक ने उसे बहुत कुछ समझाया पर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ समय के बाद कण्डरीक मुनि दाह ज्वर से ग्रसित हो गये। महाराजा पुण्डरीक ने औषधोपचार कराया। स्वस्थ होने पर भी कण्डरीक मुनि वहीं जमे रहे। राजा ने नम्र निवेदन किया—श्रमण मर्यादा की दृष्टि से आपका विहार करना उचित है। मुनि ने विहार किया; किन्तु भोगों के प्रति आसक्त होने से वे पुनः कुछ समय के पश्चात् वहाँ आ गये। पुण्डरीक ने समझाने का प्रयत्न किया। जब वे न समझे तो उन्हें राज्य देकर स्वयं ने श्रमण-वेष धारण कर लिया। तीन दिन की साधना एवं आराधना से पुण्डरीक मुनि तेंतीस सागर की स्थिति का उपभोग करने वाला देव बना

और कण्डरीक भोगों में आसक्त होकर तीन दिन की आयु भोगकर तेंतीस सागर की स्थिति वाला सातवीं नरक का मेहमान बना। जो साधक वर्षों तक उत्कृष्ट साधना कर बाद में साधना से च्युत हो जाते हैं उनकी दुर्गति होती है और जो जीवन की सांध्य बेला में भी उत्कृष्ट साधना करता है, वह सद्गति को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत कथानक में उत्थान और पतन का तथा पतन और उत्थान का सजीव चित्रण है।

स्थविरावली

श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक स्थविर भगवन्तों ने शासन की सेवा की। उन स्थविर भगवन्तों का उल्लेख कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र आदि में है। भगवान् महावीर के पश्चात् गणधर गौतम, आर्य सुधर्मा और जम्बू ये तीनों केवलज्ञानी हुए। प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र ये छह श्रुतकेवली हुए। महागिरि, सुहस्ति, गुणसुन्दर, कालकाचार्य स्कन्दिलाचार्य, रेवतीमित्र, मंगू, धर्म, चन्द्रगुप्त, आर्यवज्र ये दसों आचार्य दस पूर्वधर थे। उसके पश्चात् धीरे-धीरे पूर्वों का ज्ञान न्यून होता चला गया। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एक पूर्वधर आचार्य थे। जैनधर्म में अनेक प्रतिभासम्पन्न ज्योतिर्धर आचार्य हुए। उसकी संक्षिप्त सूचना इसमें दी गई है। इन ज्योतिर्धर आचार्यों के सम्बन्ध में विविध ग्रन्थों में विशिष्ट जानकारी है। पर विस्तार भय से हम उस सम्बन्ध में न लिखकर तत् सम्बन्धी मूल ग्रन्थों को देखने के लिए प्रबुद्ध पाठकों को निवेदन करते हैं।

इस प्रकार आगम साहित्य में तीर्थंकरों के शासन में श्रमणों की कथाएँ पूर्ण होती हैं।

□□

श्रमणी-कथाएँ

आगम साहित्य में श्रमणों के समान श्रमणी कथानक भी मिलते हैं। हम कुछ प्रमुख श्रमणियों के कथानक दे रहे हैं।

द्रौपदी—

ज्ञाताधर्मकथा श्रुतस्कंध प्रथम और अध्ययन सोलहवें में भगवान् अरिष्टनेमि के शासन में द्रौपदी श्रमणी का उल्लेख है। द्रौपदी के पूर्वभवों का इसमें वर्णन है। द्रौपदी कई भव पूर्व नागश्री ब्राह्मणी थी। उसने तुम्बे का शाक बनाया, किन्तु जब उसने वह शाक चखा तो वह कटुक और विपाक्त था। उपालम्भ के भय से उसने उसे छिपाकर रख लिया। पारिवारिक जन भोजन से निवृत्त होकर चल दिये। धर्मरुचि अनगार भिक्षा के लिए आये। नागश्री मानवी के रूप में नागिन थी। उसने मुनि के पात्र में विपाक्त तुम्बे का शाक डाल दिया। मानव साधारण लाभ की इच्छा से भयंकर कुत्सित क्रूर कर्म कर बैठता है, उसका फल अत्यन्त दारुण होता है। धर्मरुचि मुनि आहार लेकर गुरु के चरणों में पहुँचे। गुरुजी ने उसे चखा और वे उसे परठने का आदेश देते हैं। धर्मरुचि परठने जाते हैं। एक बूँद शाक डालकर प्रतिक्रिया की वे प्रतीक्षा करते हैं। चीटियाँ आती हैं और प्राण गँवा बैठती हैं। मुनि का हृदय दहल उठा। उन्होंने जीवों की रक्षा के लिए वह विषाक्त शाक खाकर समाधिपूर्वक जीवन का अन्त किया। नागश्री का पाप छिपा न रह सका। उसे सर्वत्र ताड़ना-तर्जना मिली। उसके शरीर में सोलह महारोग पैदा हो गये और हाय-हाय करती हुई मरी। वह छठी नरक में पैदा हुई और अतिदीर्घकाल तक वह पुनः पुनः नरक एवं तिर्यंच योनि में जन्म लेती है। सुदीर्घकाल के बाद वह सुकुमालिका नाम से श्रेष्ठी की पुत्री बनती है, पर उस समय भी पाप के फल का अन्त नहीं हुआ। उसके शरीर का स्पर्श तलवार की धार की तरह तीक्ष्ण एवं अग्नि की तरह उष्ण था। इसलिए कोई भी उससे विवाह करने को प्रस्तुत नहीं था। यहाँ तक कि भिखारी भी रात्रि में उसे छोड़कर भाग जाता है। वह उसका अंग-स्पर्श सहन नहीं कर सका। पिता ने दान-

शाला खुलवाई। वहाँ जैन आर्यिकाओं का आगमन हुआ। उसने यंत्र-तंत्र की याचना की। आर्यिकाओं ने अपना धर्म समझाया और सुकुमालिका ने साध्वी-धर्म स्वीकार किया। पर उसके अन्तर्मानस की मलिनता साफ नहीं हुई थी। अतः वह पुनः शिथिलाचारिणी हो गई और एकाकिनी रहने लगी। एक बार एकान्त में वह आतापना ले रही थी। उसने एक वेश्या को पाँच पुरुषों से घिरी हुई देखा। कोई उसका पैर दबा रहा था तो कोई चँवर ढुला रहा था। सुकुमालिका के मन में भोगों की लालसा पैदा हुई। उसने ऐसा संकल्प किया कि यदि मेरे तप का फल हो तो मैं भी इस प्रकार सुख भोगूं। वह मर कर देवगणिका के रूप में उत्पन्न हुई और वहाँ से राज द्रुपद की कन्या द्रौपदी बनी। द्रौपदी के स्वयंवर का आयोजन हुआ। श्रीकृष्ण पांडव आदि सभी उस स्वयंवर में उपस्थित हुए। निदानकृत होने से उसने पाँचों पांडवों का वरण किया।

एक बार नारद हस्तिनापुर आये। द्रौपदी ने उनका सम्मान नहीं किया जिससे नारद रुष्ट हो गये। वे धातकीखण्ड के अमरकंका के अधिपति परदारलम्पट पद्मनाभ के पास पहुँचे। द्रौपदी के रूप-लावण्य की अतिशय प्रशंसा की। उसने देव की सहायता से द्रौपदी का हरण करवाया। द्रौपदी से उसने भोगों की याचना की। वह पूर्ण पतिव्रता नारी थी। पाण्डवों को लेकर कृष्ण अमरकंका पहुँचे। पद्मनाभ को युद्ध में पराजित किया और राजधानी को तहस-नहस कर द्रौपदी का उद्धार किया। जीवन की सांध्य वेला में द्रौपदी के पुत्र पाण्डुसेन को राज्य देकर पाण्डवों ने तथा द्रौपदी ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

प्रस्तुत कथानक में जो द्रौपदी का निरूपण हुआ है, वह जैनदृष्टि से है। वैदिक महाभारत में भी द्रौपदी का निरूपण हुआ है। वैदिक परंपरा में पंच भरतारी होने का एक ही कारण दिया है कि उसने पूर्वभव में पति की कामना से तपस्या की थी। शंकर ने सर्वगुणसम्पन्न पति की प्राप्ति हो, ऐसा पांच बार वरदान दिया था, जिससे उसे पंच भरतारी बनना पड़ा। वैदिक महाभारत की दृष्टि से द्रुपद राजा द्रौपदी की उत्पत्ति यज्ञाग्नि से करते हैं और उसकी उत्पत्ति का कारण कुरुवंश का विनाश बताया है। जैन-दृष्टि से कुरुवंश के विनाश का कारण पाण्डवों के प्रति दुर्योधन की ईर्ष्या, हठ और अभिमान है। दुर्योधन कपट द्यूत में जीतने के पश्चात् द्रौपदी को निर्वस्त्र करना चाहता है, श्रीकृष्ण अपनी अलौकिक शक्ति से चीर बढ़ाते हैं, जबकि जैन परम्परा में चीर बढ़ाने का कारण सती द्रौपदी के स्वयं के

शील का प्रभाव है। द्रौपदी के शील से प्रभावित होकर ही शासनदेव सहायता करता है। जैन परम्परा में द्रौपदी कुरुवंश की मर्यादा रखने वाली, व्यवहारकुशल, कुशाग्र बुद्धिशालिनी, पति-परायणा, स्वाभिमानिनी नारी है।

प्रस्तुत कथानक में श्रीकृष्ण के नरसिंह रूप का भी वर्णन है। नरसिंहावतार की चर्चा श्रीमद्भागवत में हैं, जो विष्णु के अवतार थे। पर श्रीकृष्ण ने कभी नरसिंह का रूप धारण किया हो, ऐसा प्रसंग वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में देखने में नहीं आया, पर प्रस्तुत कथानक में इसका सजीव चित्रण है।

पद्मावती आदि श्रमणियाँ

अन्तकृद्दशा सूत्र के पाँचवें वर्ग के एक से दस अध्ययन तक पद्मावती आदि श्रमणियों के कथानक आये हैं।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका में पधारे। कृष्ण महाराज भगवान् को वन्दन-नमस्कार करने गये। उपदेश सुनकर परिषद् लौट गई। कृष्ण महाराज ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—देवलोक सदृश इस द्वारिका नगरी का विनाश कैसे होगा? भगवान् ने कहा—मदिरा, अग्नि और द्वैपायन ऋषि के कोप के कारण द्वारिका नगरी का विनाश होगा।

कृष्ण चिन्तन करने लगे—जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वीरसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, दृढ़नेमि, सत्यनेमि आदि राजकुमार धन्य हैं, जिन्होंने श्रमणधर्म ग्रहण किया है, पर मैं संसार का परित्याग नहीं कर पा रहा हूँ।

भगवान् ने कहा—कृष्ण! वासुदेव निदानकृत होने से प्रव्रज्या ग्रहण नहीं कर सकते। तुम चिन्तित मत बनो। आगामी उत्सर्पिणी काल में "अमम" नामक बारहवें तीर्थंकर बनोगे। श्रीकृष्ण ने नगर में उद्घोषणा करवाई कि जो भी अर्हन्त अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहें, वे सहर्ष दीक्षित हो सकते हैं। दीक्षार्थी के जो आश्रित कुटुम्बीजन होंगे, उनकी व्यवस्था स्वयं कृष्ण करेंगे और दीक्षामहोत्सव भी कृष्ण करेंगे।

श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उनकी पट्टमहिषी पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा और रुक्मिणी इन आठों ने प्रव्रज्या ग्रहण की तथा शाम्बकुमार की भार्या मूलश्री एवं मूलदत्ता ने भी यक्षिणी आर्या के पास प्रव्रज्या लेकर अपने जीवन का पावन बनाया।

प्रस्तुत कथानक में द्वारिका नगरी के विनाश की तथा श्रीकृष्ण के आगामी काल में तीर्थंकर होने की महत्त्वपूर्ण सूचना है जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष मूल्य है।

पोट्टिला कथानक

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौदहवें अध्ययन में पोट्टिला का कथानक आया है।

तेतलिपुर नगर के राजा कनकरथ का अमात्य 'तेतलिपुत्र' था। वहीं पर 'मूषिकादारक' की पुत्री 'पोट्टिला' थी। पोट्टिला के अद्भुत रूप को देखकर तेतलिपुत्र मुग्ध हो गया। दोनों का विवाह हुआ। उनमें परस्पर अत्यन्त अनुराग था। पर दोनों में ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि तेतलिपुत्र उसके नाम से घृणा करने लगा। एक दिन जिसे पोट्टिला के बिना रहा नहीं जाता था, वही आज उसके नाम को पसन्द नहीं करता। उसने पोट्टिला को भोजननिर्माण तथा अतिथियों की सेवा का भार सम्हला दिया। एक दिन 'सुव्रता' नामक आर्या शिष्याओं के साथ तेतलिपुर में पधारी। वे भिक्षा के लिए पोट्टिला के वहाँ पहुँची। उसने साध्वियों को आहारदान देने के बाद निवेदन किया कि मुझे ऐसा वशीकरण मंत्र दो, जिससे मेरा पति मेरे वश में हो जाये। साध्वियों ने कहा—हम ब्रह्मचारिणी साध्वियाँ इस प्रकार की बातें सुनना भी पसन्द नहीं करतीं। पोट्टिला ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये। उसकी अन्तरात्मा प्रबुद्ध हो उठी। संयम ग्रहण करने के लिए उसने तेतलिपुत्र से आज्ञा मांगी। तेतलिपुत्र ने कहा—तुम संयम स्वीकार करोगी तो आगामी भव में देव बनोगी। वहाँ से आकर मुझे प्रतिबोध देना स्वीकार करो तो मैं दीक्षा लेने की अनुमति देता हूँ। वह दीक्षित हुई और देव बनी।

वचनबद्ध होने से पोट्टिल देव ने तेतलिपुत्र को प्रतिबुद्ध करने के अनेक उपाय किये, पर तेतलिपुत्र राजा द्वारा अत्यधिक सम्मानित होने से प्रतिबुद्ध नहीं हुआ। अन्त में देव ने राजा को उससे विरुद्ध किया। जब वह राजसभा में गया तो राजा ने मुँह फेर लिया और बात भी नहीं की। राजा के अभिनव व्यवहार से वह भयभीत हो उठा। वह वहाँ से घर पर आया, किन्तु परिजनों ने भी उसे आदर नहीं दिया। आत्मघात करने के लिए वह प्रस्तुत हुआ, उसने अनेक उपाय किये किन्तु कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। अन्त में पोट्टिल देव ने प्रगट होकर सारपूर्ण शब्दों में

प्रतिबोध दिया। उसे जातिस्मरणज्ञान हुआ कि मैं पूर्वजन्म से महाविदेह क्षेत्र में महापद्म नामक राजा था, वहाँ से महाशुक्र नामक देव बना। वहाँ से यहाँ जन्मा हूँ। तेतलिपुत्र को संसार निस्सार लगा। उसने स्वयं दीक्षित होकर उत्कृष्ट तप की आराधना की और अव्याबाध सुख को प्राप्त किया।

जब मानव सुख के सागर पर तैरता है, उस समय धर्मक्रिया के प्रति उसमें रुचि नहीं होती, जब दुःख की दावाग्नि में वह झुलसता है, तब धर्म के अभिमुख होता है। जब तेतलिपुत्र का जीवन सुखी था, उस समय वह धर्म से विमुख था और दुख आने पर वह धर्म के सम्मुख हुआ।

इस कहानी में राजा कनकरथ की निष्ठुरता का निरूपण है। वह राज्यलोभी था। कहीं पुत्र उससे राज्य छीन न लें, इसीलिए वह उन्हें विकलांग बना देता था। राज्य के लोभ में मानव दानव बन जाता है, वह उचित और अनुचित का विवेक खो बैठता है।

पार्श्वनाथ के तीर्थ की आर्या काली

ज्ञाताधर्म कथा के द्वितीय श्रुतस्कंध में पार्श्वतीर्थ में होने वाली अनेक श्रमणियों का उल्लेख है।

महाव्रतों का विधिवत् सम्यक् पालन करने वाला साधक समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त करता है। यदि कर्म अवशेष रह जायें, तो वह वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। पर महाव्रतों का जो विधिवत् पालन नहीं करता, वह कुशील, काय-क्लेश आदि बाह्य तपों की आराधना कर देवगति को तो प्राप्त करता है, पर वैमानिक जैसे उच्च देवत्व को नहीं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क की पर्याय प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों का वर्णन है। वह वर्णन मनुष्य पर्याय में जब वे साध्वियाँ बनीं और कुछ समय तक चारित्र की आराधना की और उसके बाद शरीर बकुशा बनकर चारित्र की विराधिका बनीं—उस समय का है। उन साध्वियों को उनकी गुरुणी ने बहुत कुछ समझाया, पर वे समझी नहीं, अतः उन्हें गच्छ से पृथक् कर दिया। बिना दोषों की आलोचना किये उन्होंने शरीर का परित्याग किया और चमरेन्द्र असुरराज की अग्रमहिषियाँ बनीं।

भगवान् महावीर एक बार राजगृह में विराज रहे थे। उस समय कालीदेवी एक हजार योजन विस्तृत दिव्ययान में बैठकर भगवान् के

दर्शन के लिए आई। बत्तीस प्रकार के नाट्य विधि दिखाकर लौट गई। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—यह दिव्य ऋद्धि इसे कैसे प्राप्त हुई। भगवान् ने उसका पूर्वभव बताते हुए कहा—आमलकप्पा नगरी में काल नामक गाथापति की पुत्री काली थी। इसके स्तन अत्यधिक लम्बे थे, जो नितम्ब भाग को स्पर्श करते थे, अतः उसका विवाह नहीं हुआ। भगवान् पार्श्व के उपदेश को श्रवणकर उसने आर्या पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण की, अंग साहित्य का अध्ययन किया, संयम की आराधना भी करने लगी, कुछ समय के बाद शरीर पर आसक्ति पैदा हुई। पुनः पुनः अंगों का प्रक्षालन करती तथा जहाँ स्वाध्याय करती जल छिटकती। उसकी साध्वाचार से विपरीत प्रवृत्ति देखकर आर्या पुष्पचूला ने उसका गच्छ से सम्बन्ध तोड़ दिया। वह स्वच्छन्द हो गई, संयम की विराधिका बन गई। अन्तिम समय में पन्द्रह दिन का संथारा किया पर शिथिलाचार की आलोचना नहीं की। वही काली आर्या का जीव कालीदेवी बना। गौतम गणधर की जिज्ञासा पर भ० महावीर ने कहा—यह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहाँ से मुक्त होगी। इसी तरह रजनी, विद्युत, मेघा, शुम्भा, निशुम्भा, रम्भा, निरम्भा, मदना आदि ने भी भगवान् पार्श्वनाथ के पधारने पर प्रव्रज्या ग्रहण की किन्तु वे सभी विराधक बनकर देवियाँ बनती हैं। उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सूचना नहीं है, केवल वे जहाँ की थीं, उस जन्मस्थली का संकेत किया गया है।

महावीर शासन में नन्दा आदि श्रमणियाँ

नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दश्रेणिका, मरुता, सुमरुता, महामरुता, मरुद्देवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका और भूतदत्ता ये सभी श्रेणिक राजा की रानियाँ थीं। इन सभी ने भगवान् महावीर के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। उत्कृष्ट तप-जप की आराधना कर मुक्ति को वरण किया। (अन्तकृत्दशा वर्ग ७, अ. १-१३)

काली आदि श्रमणियाँ

काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा ये दसों महाराज श्रेणिक की रानियाँ थीं। तीर्थंकर महावीर के उपदेश को श्रवणकर ये सभी दीक्षा लेती हैं और रत्नावली, कनकावली, लघुसिंह निष्क्रीडित, महासिंह निष्क्रीडित, सप्त सप्तमिका भिक्षु प्रतिमा, अष्ट अष्टमिका भिक्षुप्रतिमा, नव नव-

मिका भिक्षु प्रतिमा, दश दशमिका भिक्षु प्रतिमा, लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा महत् सर्वतोभद्र प्रतिमा, भद्रोत्तर प्रतिमा, मुक्तावली, आयम्बिल, वर्धमान तप आदि उत्कृष्टतम तपों की आराधना कर वे सभी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होती हैं। इस प्रकार सम्राट श्रेणिक की तेबीस महारानियों ने भगवान् महावीर के शासन में संयम ही नहीं लिया, अपितु इतने उत्कृष्ट तप की आराधना की, जिसे पढ़कर पाठक विस्मित हुए नहीं रह सकता। (अन्तकृद्दशा वर्ग ८, अ. १-१०)

जयन्ती श्रमणोपासिका

भगवती सूत्र के बारहवें शतक के दूसरे उद्देशक में महावीर तीर्थ में होने वाली जयन्ती का कथानक है—

वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी थी। वहाँ 'चन्द्रावतरण' चैत्य था। वहाँ जयन्ती श्राविका थी। जयन्ती श्राविका श्रमणों के लिए शय्यातर के रूप में विश्रुत थी। जो भी नवीन सन्त आते, वे जयन्ती के यहाँ वसति की याचना करते। भगवान् महावीर के पावन प्रवचन को सुनकर वह बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने भगवान् से प्रश्न पूछे—भंते ! जीव शीघ्र ही गुरुत्व को कैसे प्राप्त होता है ?

महावीर—जयन्ती ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषावाद और मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापों के आसेवन से जीव गुरुत्व को प्राप्त होता है।

जयन्ती—भगवन् ! आत्मा लघुत्व को कैसे प्राप्त होता है ?

महावीर—प्राणातिपात आदि अठारह पापों के अनासेवन से आत्मा लघुत्व को प्राप्त होता है। प्राणातिपात आदि की प्रवृत्ति से आत्मा जिस प्रकार संसार को बढ़ाता है, प्रलम्ब करता है, संसार में भ्रमण करता है, उसी प्रकार उसकी निवृत्ति से संसार को घटाता है, ह्रस्व करता है, और उसका उल्लंघन भी कर देता है।

जयन्ती—भगवन् ! मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव को स्वभाव से प्राप्त होती है या परिणाम से ?

महावीर—मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव में स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं ?

जयन्ती—भन्ते ! जीवों का सोना अच्छा है या जागना ?

महावीर—कितने ही जीवों का सोना अच्छा है और कितने ही जीवों का जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन् ! यह कैसे ?

महावीर—जयन्ते ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का अनुसरण करते हैं, अधर्म में आसक्त हैं और अधर्म के द्वारा ही अपना जीविकोपार्जन करते हैं, उन जीवों का सोना ही अच्छा है। प्राण, भूत, जीव, सत्त्व समुदाय के शोक एवं परिताप का कारण नहीं बनेंगे, अतः अधार्मिक जीवों का सोना अच्छा है।

हे जयन्ती ! जो जीव धार्मिक, धर्मानुरागी, धर्मप्रिय और धर्मजीवी हैं, उनका जागना अच्छा है। धार्मिक पुरुष जब तक जागते रहते हैं, तब तक प्राणियों के अदुःख और अपरिताप के लिए कार्य करते हैं। ऐसे पुरुष जागृत हों तो अपने और दूसरों के लिए धार्मिक कार्यों में निमित्त बनते हैं, अतः उनका जागते रहना श्रेयस्कर है।

जयन्ती—भन्ते ! क्या सभी भवसिद्धिक आत्माएँ मोक्षगामिनी हैं ?

महावीर—हाँ, जो भव-सिद्धिक हैं, वे सभी आत्माएँ मोक्षगामिनी हैं।

जयन्ती—भगवन् ! यदि सभी भव-सिद्धिक जीव मुक्त हो जायेंगे तो क्या संसार उनसे खाली नहीं हो जायेगा ?

महावीर—ऐसा नहीं। सादि तथा अनन्त व दोनों ओर से परिमित एवं दूसरी श्रेणियों से परिवृत्त सर्वाकाश की श्रेणी में से एक-एक परमाणु पुद्‌गल प्रतिसमय निकालने पर अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी व्यतीत हो जायें तथापि वह श्रेणी रिक्त नहीं होती। इसी प्रकार भव-सिद्धिक जीवों के मुक्त होने पर यह संसार उनसे रिक्त नहीं होगा।

जयन्ती—जीवों की दुर्बलता अच्छी है या सबलता अच्छी है ?

महावीर—कितने ही जीवों की सबलता अच्छी है और कितने ही जीवों की दुर्बलता।

जयन्ती—वह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं, और अधर्म से जीविकोपार्जन करते हैं उनकी दुर्बलता अच्छी है क्योंकि उनकी वह दुर्बलता अन्य प्राणियों

के लिए दुःख का निमित्त नहीं बनती। जो लोग धार्मिक हैं, उनका सबल होना अच्छा है।

जयन्ती—जीवों का दक्ष होना अच्छा है या आलसी ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्मानुसार विचरण करते हैं, उनका आलसी होना अच्छा। जो जीव धर्माचरण करते हैं, उनका दक्ष (उद्यमी) होना अच्छा है। क्योंकि वे जीव आचार्य, उपाध्याय आदि की सेवा करते हैं।

जयन्ती—इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीव क्या कर्म बाँधता है ?

भगवान्—इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीव संसार में परिभ्रमण करता है।

श्रमणोपासिका जयन्ती प्रभु महावीर से अपने प्रश्नों का समाधान पाकर अत्यन्त हर्षित हुई। जीवाजीवविभक्ति को जानकर उसने महावीर प्रभु के चरणों में दीक्षा ग्रहण की।

प्रस्तुत कथानक में जीवन की गुरु गम्भीर ग्रन्थियाँ जयन्ती ने भगवान् महावीर के समक्ष प्रस्तुत कीं। प्रभु महावीर ने जिस सुगम रीति से समाधान किया, वह उनके अतिशय ज्ञान का द्योतक है।

आगम साहित्यगत श्रमणी कथाओं पर यहाँ संक्षेप में ही विचार किया है। जिनकी चर्चा मूल आगमों में है। आगमोत्तरकालीन ग्रन्थों में तो प्राचीन युग की सैंकड़ों श्रमणी-सतियाँ आदि के कथानक मिलते हैं जिनकी चर्चा अन्यत्र प्रसंगानुसार की जायेगी।

○

श्रमणोपासक कथाएँ

पार्श्वनाथ तीर्थ : सोमिल ब्राह्मण

पुष्फिया के तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण का कथानक है। श्रमण और श्रमणियों के कथानक के पश्चात् श्रमणोपासकों की कथायें दी गई हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में वाराणसी में सोमिल ब्राह्मण था। वह वेदों का पारंगत पण्डित था। भगवान् पार्श्व 'अम्बसाल' उद्यान में पधारे। भगवान् के उपदेश को सुनकर वह श्रावक बना।

कालान्तर में सोमिल के विचारों में परिवर्तन हुआ और वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उसके अन्तर्मानस में ये विचार उद्बुद्ध हुए—मैंने वेदों का अध्ययन किया, पत्नी के साथ विविध प्रकार के भोग भोगे, पुत्र भी उत्पन्न हुए। विराट् ऋद्धि का मैं अधिपति बना। मैंने यज्ञ किये, पशुओं का वध किया और अतिथियों की अर्चना की, इसलिए अब मेरा कर्त्तव्य है कि विविध वृक्षों वाला बगीचा लगाऊँ। उसने बगीचा लगाया। उसके पश्चात् उसे विचार आया—मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपकर मित्र और परिजनों की अनुमति प्राप्त कर तापसों के योग्य कड़ाही, कड़छी, ताम्बे के पात्र लेकर गंगातट निवासी वानप्रस्थ तपस्वियों की भाँति विचरण करूँ। उसके पश्चात् दिशाप्रोक्षित तापसों से प्रव्रज्या लेकर छट्ठ-छट्ठ तप स्वीकार करता हुआ भुजाएँ ऊपर रखकर वह विचरने लगा। प्रथम छट्ठ पारणे के दिन वह आतापना भूमि से चलकर, वल्कल के वस्त्र धारण कर और टोकरी को लेकर पूर्व दिशा की ओर चला। उसने सोमदेव की पूजा की। कन्द-मूल, फल आदि से टोकरी को भरकर वह अपनी कुटिया में आया। वहाँ उसने वेदिका को लीप-पोतकर शुद्ध किया। फिर दर्भ और कलश को लेकर गंगा-स्नान के लिए गया। पानी का आचमन कर देवता और पितरों को श्रद्धांजलि दी। पुनः वह

कुटिया पर आया। दर्भ, कुश और बालुका आदि से वेदिका का निर्माण किया, अरणी से अग्नि पैदा की और उसके दाहिनी ओर उसने सकथ (उपकरण विशेष) वल्कल, अग्निपात्र, शय्या, कमण्डल, दण्ड और स्वयं को स्थापित किया। उसके पश्चात् मधु, घृत, चावल से अग्नि में होम किया। 'बलि' पकाकर अग्नि देवता की पूजा की। बाद में अतिथियों को भोजन कराकर उसने स्वयं भोजन किया। इसी प्रकार उसने दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में वैश्रमण की पूजा की।

एक दिन पुनः उसके मन में विचार उद्बुद्ध हुआ—मैं वल्कल वस्त्र धारण कर पात्र तथा टोकरी लेकर, काष्ठमुद्रा से मुँह को बाँधकर उत्तर दिशा की ओर महाप्रस्थान कर अभिग्रह धारण करूँगा। जल, थल, दुर्गम, विषम पर्वत, गर्त या गुफा से गिरकर या स्थित होकर पुनः न उठूँगा। यह चिन्तन कर वह अशोक वृक्ष के नीचे गया। वहाँ पर पात्र, टोकरी, एक ओर रखकर उसने वेदिका बनाई, स्नान किया। दर्भ आदि क्रियाओं का अनुष्ठान किया। एक देव ने अन्तरिक्ष में खड़े होकर सोमिल से कहा—तुम्हारे कार्य उचित नहीं है। उसने देव के कथन की उपेक्षा की, किन्तु देव के पुनः उद्बोधन से उसने श्रावक के पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत ग्रहण किये। उसके बाद वह विविध प्रकार के तप करता रहा। अन्त में अर्ध-मासिक संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत पापकर्मों की आलोचना नहीं करके वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके शुक्र नामक महाग्रह में उत्पन्न हुआ। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि सोमिल नाम के दो श्रमणोपासकों का वर्णन आगम साहित्य में है। एक का वर्णन पुप्फिया आगम में है तो दूसरे का वर्णन भगवती शतक अठारहवें, उद्देशक दशवें में है। दोनों वर्ण से ब्राह्मण है। एक ने भगवान् महावीर से प्रश्न किये तो दूसरे ने भगवान् पार्श्व से। भगवान् पार्श्व से प्रश्न करने वाला सोमिल वाराणसी का था और महावीर प्रभु से प्रश्न करने वाला सोमिल ब्राह्मण वाणिज्यग्राम का था। दोनों का काल पृथक् है। नाम साम्य होने से भ्रम न हो जाय, इसलिए प्रबुद्ध पाठक ध्यान रखें।

राजा प्रदेशी

रायपसेणीय सूत्र में राजा प्रदेशी का कथानक आया है। आमलकप्पा के आम्रसाल चैत्य में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। उस समय

सूर्याभदेव भगवान् के दर्शन के लिए आया। उसने बत्तीस प्रकार के नाट्य किये। बत्तीसवें नाटक में उसने भगवान् महावीर का च्यवन से लेकर परिनिर्वाण तक अभिनय किया। अभिनय के बाद सूर्याभ देव चला गया। गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—यह विशिष्ट देव ऋद्धि इन्हें कैसे प्राप्त हुई? भगवान् ने कहा—श्वेताम्बिका नगरी में राजा प्रदेशी था। उसकी रानी का नाम सूर्यकान्ता और पुत्र का नाम सूर्यकान्त था। चित्त नामक सारथी था, जो बहुत ही बुद्धिमान था। एक दिन प्रदेशी ने चित्त सारथी को उपहार देकर श्रावस्ती के राजा जितशत्रु के पास भेजा। वहाँ उसने पार्श्वापत्य केशीश्रमण के दर्शन किये। प्रवचन को सुनकर उसने श्रावक-व्रत ग्रहण किये।

राजा जितशत्रु की ओर से उपहार लेकर चित्त सारथी पुनः श्वेताम्बिका की ओर प्रस्थान करने लगा। उसने केशीश्रमण से निवेदन किया आप श्वेताम्बिका नगरी पधारें। केशीश्रमण ने कहा—राजा प्रदेशी अधार्मिक है, हम वहाँ कैसे आ सकते हैं? चित्त सारथी—आप वहाँ पधारें, उन्हें उपदेश देकर कल्याण के मार्ग पर लगावें। उसकी प्रार्थना को सम्मान देकर केशीश्रमण श्वेताम्बिका नगरी के उद्यान में पधारें। चित्त सारथी घोड़ों की परीक्षा के बहाने राजा प्रदेशी को मृगवन उद्यान में लाया। राजा प्रदेशी केशीश्रमण के दिव्य-भव्य रूप को निहारकर अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह उनके सन्निकट आया। उसने पूछा—क्या आप जीव और शरीर को पृथक् मानते हैं।

केशी—हाँ! हम जीव और शरीर को पृथक् मानते हैं।

प्रदेशी ने तर्क दिया—मेरे दादा अधार्मिक थे। प्रजा का ठीक तरह से पालन नहीं करते थे। आपकी दृष्टि से वे मरकर नरक में गये हैं। उन का मेरा बहुत ही प्रेम था। वे मुझे आकर क्यों नहीं कहते कि मैं नरक में पैदा हुआ हूँ। वहाँ अपार कष्टों का अनुभव कर रहा हूँ।

केशी—तुम्हारी रानी के साथ कोई कामुक व्यक्ति विषय-सेवन की इच्छा करे तो क्या तुम उसे दण्ड दोगे?

प्रदेशी—मैं उसके प्राण ले लूंगा।

केशी—वह व्यक्ति तुमसे निवेदन करे कि मैं अपने सम्बन्धियों को सूचित कर दूं कि मुझे दण्ड मिल रहा है, अतः तुम भी इस कृत्य से बचना। उस पुरुष को सूचना देने के लिए क्या तुम मुक्त करोगे?

प्रदेशी—नहीं, वह मेरा अपराधी है।

केशी—तुम्हारे दादा का स्नेह होने पर भी वे नरक से नहीं आ सकते। अतः जीव और शरीर भिन्न है।

प्रदेशी—मेरी दादी धर्मात्मा थी। आपकी दृष्टि से वह स्वर्ग में गई। उसे तो आकर मुझे कहना चाहिए।

केशी—स्नान व सुगन्धित द्रव्यों का लेपन कर तुम जा रहे हो, उस समय कोई व्यक्ति शौच गृह में बैठा हुआ तुम्हें वहाँ आकर बैठने के लिए कहे तो क्या तुम वहाँ बैठोगे और उसकी बात को सुनोगे?

प्रदेशी—मैं शौच गृह में नहीं जाऊँगा।

केशी—स्वर्ग में उत्पन्न हुआ देव मानव लोक में आना पसन्द नहीं करता। उसे यहाँ की गन्ध अप्रिय है।

प्रदेशी—एक तस्कर को मैंने कुम्भी में डालकर ढक्कन लगा दिया। कहीं पर भी छिद्र न रहे, अतः उसे लोहे और सीसे से बन्द कर दिया। विश्वस्त पहरेदार भी रखा। कुछ समय के बाद कुम्भी को खोलकर देखा, वह मरा हुआ था। इससे स्पष्ट है कि जीव और शरीर एक है।

केशी—एक व्यक्ति कूटागारशाला में द्वार बन्द कर भेरी बजाए तो बाहर बैठा हुआ व्यक्ति सुनता है न? वैसे ही जीव पृथ्वी, शिला, पर्वत आदि को भेदकर बाहर आता है, अतः जीव और शरीर एक नहीं है।

प्रदेशी—मैंने एक तस्कर को कुम्भी में बन्द किया। उसके मृत कलेवर में कीड़े कुलबुला रहे थे जबकि कुम्भी में कहीं भी छिद्र नहीं था। इससे भी स्पष्ट है कि जीव और शरीर भिन्न नहीं, एक है।

केशी—तुमने लोहे को फूंकते हुए देखा है न? वह लोहा अग्निमय हो जाता है। लोहे में अग्नि कैसे प्रविष्ट हुई, उसमें कहीं भी छिद्र नहीं, वैसे ही जीव अनिरुद्ध गति वाला है। इससे जीव और शरीर की पृथक्ता सिद्ध होती है।

प्रदेशी—एक व्यक्ति धनुर्विद्या में निपुण है, पर वह व्यक्ति बाल्यावस्था में एक भी बाण नहीं छोड़ सकता था। बाल्यावस्था और युवावस्था में जीव एक होता तो मैं समझता जीव और शरीर भिन्न है।

केशी—धनुर्विद्या निष्णात व्यक्ति शक्तिशाली है, पर उपकरणों के अभाव में अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर सकता। वैसे ही बाल्यावस्था

में उपकरण बलवान न होने से वह अपनी शक्ति प्रदर्शित नहीं कर पाता। पर युवावस्था में उपकरण शक्तिमान होने से वह अपनी शक्ति बताता है।

प्रदेशी—किसी तस्कर को पहले हम जीवित अवस्था में तौले और फिर मारकर तौलें तो वजन में कोई अन्तर नहीं होता, अतः जीव और शरीर में अभिन्नता है।

केशी—जैसे खाली और हवा से भरी हुई मशक के वजन में (विशेष) अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही जीवित और मृत पुरुष के वजन में अन्तर नहीं पड़ता। जीव अमूर्त है। उसका अपना कोई वजन नहीं है।

प्रदेशी—मैंने तस्कर के शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग को काटकर देखा, कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया, इसलिए जीव का अभाव है।

केशी—मुझे लगता है कि तुम मूढ़ हो। तुम्हारी प्रवृत्ति भी लकड़हारे की तरह है। कुछ लोग जंगल में लकड़ियाँ लेने पहुँचे। उनके साथ अग्नि थी। उन्होंने एक साथी से कहा—हम बहुत दूर जंगल में जा रहे हैं, तुम हमारे लिए भोजन तैयार करके रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो अरणि की लकड़ियों से आग प्रकट कर लेना। उसके साथी जंगल में चले गये, आग बुझ गई। उसने लकड़ियों को इधर-उधर उलट-पुलट कर देखा, पर आग दिखाई नहीं दी। लकड़ियों के चीर-चीर कर टुकड़े किये। वह हताश और निराश होकर सोचने लगा—मेरे साथियों ने मेरा उपहास किया है। वे यदि लकड़ियों में आग की बात नहीं कहते तो मैं अग्नि को सम्भालकर रखता। भूखे-प्यासे साथीगण लकड़ियाँ लेकर लौटे किन्तु भोजन तैयार नहीं था। एक साथी ने उन अरणि की लकड़ियों को घिस कर अग्नि तैयार की और सभी ने भोजन किया। वह लकड़हारा लकड़ी को चीरकर अग्नि पाना चाहता था, वैसे ही तुम भी शरीर को चीरकर जीव पाना चाहते हो। तुम भी उस मूर्ख लकड़हारे की तरह हो हो न ?

प्रदेशी—हथेली पर रखा हुआ आँवला स्पष्ट दिखाई देता है, उसी तरह क्या आप जीव को दिखा सकते हैं ?

केशी—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी जीव, परमाणु पुद्गल, शब्द, गंध और वायु इन आठ पदार्थों को विशिष्ट ज्ञानी ही देख सकते हैं।

प्रदेशी—क्या हाथी और चींटी में एक समान जीव होता है ?

केशी—एक समान जीव होता है। जैसे—कोई व्यक्ति कमरे में दीपक जलाए, सम्पूर्ण कमरा उससे प्रकाशित होता है। यदि उसे किसी बर्तन विशेष से ढँक दिया जाय तो वह बर्तन के भाग को ही प्रकाशित करेगा। दीपक दोनों स्थलों पर वही है। स्थान विशेष की दृष्टि से उसके प्रकाश में संकोच और विस्तार होता हैं, यही बात हाथी और चींटी के जीव के सम्बन्ध में है। संकोच और विस्तार दोनों ही अवस्थाओं में जीव की प्रदेश संख्या समान रहती है, उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

केशीकुमार श्रमण के अकाट्य तर्कों को श्रवणकर प्रदेशी राजा की सभी शंकाओं का समाधान हो गया। उसने पुनः कहा—यह मेरा ही मन्तव्य नही है, किन्तु मेरे पिता भी जीव और शरीर को एक मानते थे। उनकी मान्यताओं को मैं कैसे ठुकरा सकता हूँ ?

केशी—तू भी लोहे के वजन को उठाने वाले व्यक्ति के समान मूढ़ है। जैसे कुछ व्यक्ति धन की अभिलाषा के लिए प्रस्थित हुए। कुछ दूर जाने पर उन्हें लोहे की खदान मिली। वे लोहे को लेकर आगे बढ़े। आगे ताम्बे की खान मिली। लोहा छोड़कर उन्होंने ताम्बा लिया। फिर चांदी की खदान मिली। ताम्बा छोड़कर चाँदी ली। आगे स्वर्ण की खदान मिली। चाँदी छोड़कर सोना लिया। फिर रत्नों की खान मिली। सोना छोड़कर रत्न लिए। आगे वज्र रत्नों की खदान मिली। रत्न छोड़कर वज्र रत्न लिये। उनके साथ एक साथी लोहे को ढोकर चल रहा था। वह उनके अस्थिर मस्तिष्क का उपहास करने लगा। साथियों ने उसे समझाया—लोहा छोड़कर बहुमूल्य रत्न ले लो। तुम्हारी दरिद्रता सदा के लिए मिट जायेगी। पर वह न माना। उसने कहा—जिस लोहे को इतनी दूर से ढोकर लाया हूँ, उसे कैसे छोड़ूं ? वह लोहे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। जो रत्न लेकर गये, वे श्रीमन्त बन गये। वह उसी तरह भिखारी और दरिद्री बना रहा, वह अपने साथियों को श्रीसम्पन्न देखकर मन ही मन पश्चात्ताप करता, वैसे ही यदि तू केवलि-प्ररूपित धर्म को स्वीकार न करेगा तो तुझे भी पश्चात्ताप होगा।

प्रदेशी ने केशीश्रमण से श्रावक के व्रत ग्रहण किए। जिसके हाथ खून से रंगे थे, उसका जीवन परिवर्तित हो गया। वह आत्म-साधना में तल्लीन रहने लगा। महारानी सूर्यकान्ता राजा की उदासीन वृत्ति से खिन्न

हो गई। वह राजा को विष प्रयोग से मारकर अपने पुत्र को राजगद्दी पर बैठाने का उपाय सोचने लगी। उसने एक दिन राजा के भोजन व वस्त्रों में विष मिला दिया। भोजन व वस्त्र धारण करते ही उसे अपार वेदना हुई। रानी की काली करतूत को समझकर भी उसके अन्तर्मानस में रोष पैदा नहीं हुआ। पौषधशाला में जाकर उसने समस्त पापकृत्यों की आलोचना की। वहाँ से सौधर्म स्वर्ग में यह सूर्याभ देव बना।

बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय में पायासिसुत्त एक प्रकरण है। उसमें राजा पायासि के प्रश्नोत्तर हैं। जो राजप्रश्नीय के प्रदेशी और केशी के प्रश्नोत्तर से मिलते-जुलते हैं। दीघनिकाय में पायासि को कोशल के राजा पसेनदि का वंशधर कहा है तथा चित्त सारथी के नाम के स्थान पर 'खत्ते' शब्द का प्रयोग हुआ है। खत्ते का पर्यायवाची संस्कृत में 'क्षत' और 'क्षता' होता है जिसका अर्थ सारथी है। नगरी का नाम 'सेयविया' के स्थान पर 'सेतव्या' प्रयुक्त हुआ है।[1] आधुनिक अनुसंधान-कर्त्ताओं ने श्रावस्ती (सहेट-महेट) कोबलरामपुर से ७ मील की दूरी पर अवस्थित माना है।

प्रस्तुत कथानक में विमान, प्रेक्षागृह, प्रेक्षकों के बैठन का स्थान, पीठिका, प्रेक्षा-मण्डप, वाद्य, नाट्य-विधि, जिसमें बत्तीस प्रकार के नाट्य आदि का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसकी तुलना भरत मुनि के नाट्य शास्त्र तथा महाभारत और रामायण आदि से कर सकते हैं।

तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक—

भगवती सूत्र शतक दूसरा उद्देशक ५वें में तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों का वर्णन आया है—

एक बार भगवान् महावीर तुंगिया नगरी के पुष्पवती चैत्य में विराजे। तुंगिया नगरी के श्रावक विराट् सम्पत्ति के अधिपति थे। उनके भव्य भवन थे। उनके यहाँ विपुल दास-दासियाँ थीं। साथ ही नव तत्त्वों के वे ज्ञाता थे। उन तत्त्वों में कौन हेय हैं; कौन ज्ञेय हैं और कौन उपादेय हैं इनका उन्हें सम्यक् परिज्ञान था। निर्ग्रन्थ प्रवचन पर उनकी दृढ़ आस्था थी। देव, दानव, मानव कोई भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता था। उनके जीवन के कण-कण में, मन के अणु-अणु में निर्ग्रन्थ प्रवचन व्याप्त

---

१ रायपसेणियसुत्त का सार, पृष्ठ ९९ पं. बेचरदास दोशी

था। वे निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही अर्थ वाला मानते थे और शेष सभी को अनर्थ वाला। वे इतने अधिक उदार थे कि उनके द्वार सदा-सर्वदा खुले रहते थे। उनका चरित्र इतना निर्मल था कि बिना रोकटोक के राजा के अन्तःपुर में भी वे प्रविष्ट हो सकते थे तथापि किसी को अप्रतीति नहीं होती थी। वे अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को पूर्ण पौषधोपवास करते थे। निर्ग्रन्थों को निर्दोष अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज—इन सभी का दान देते थे।

एक बार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के स्थविर भगवन्त वहाँ पधारे। यह सुनकर तुंगिया नगरी के श्रावक प्रमुदित हुए। वे स्थविर भगवन्तों के पास पहुँचे। उन्होंने पाँच अभिगम किए—(१) सचित्त द्रव्य - फूल ताम्बूल आदि का त्याग (२) अचित द्रव्य—वस्त्र आदि का मर्यादित करना (३) एक पट के (बिना सीये हुए) दुपट्टे का उत्तरासंग करना। (४) साधु-मुनिराज के दृष्टिगोचर होते ही दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाना (५) मन को एकाग्र करना।

इस प्रकार पाँच अभिगम करके वे स्थविर भगवन्तों के पास जाकर तीन बार प्रदक्षिणा कर पर्युपासना करने लगे। इसके पश्चात् स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों को चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। श्रमणोपासकों ने स्थविर भगवन्तों से पूछा—संयम और तप का फल क्या है? उन्होंने कहा—आस्रव से मुक्त होना। पुनः प्रश्न किया गया—यदि संयम और तप का फल अनास्रव है तो फिर संयमी साधक देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं? स्थविरों ने समाधान दिया—संयम के साथ राग-द्वेष आदि कषाय विद्यमान हैं, उसके कारण वे देव बनते हैं अर्थात् सरागसंयम संयमासंयम, बाल तपोकर्म और अकामनिर्जरा आदि कारणों से वे देव होते हैं। स्थविरों के उत्तर से श्रमणोपासक सन्तुष्ट हुए। इससे यह स्पष्ट है कि तुंगियानगरी के श्रावकों का जीवन एक आदर्श श्रावक का जीवन था। उनके जीवन में वे सभी सद्गुण मुखरित हुए हैं, जो एक श्रावक के जीवन में अपेक्षित हैं।

गणधर गौतम राजगृह में भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए, तुंगियानगरी के श्रावकों ने पार्श्वापत्य स्थविरों से जो प्रश्न पूछे और जो उन्होंने उत्तर दिये, उसे सुना। उन्होंने भगवान् महावीर से पूछा—क्या

स्थविरों का उत्तर यथार्थ है? भगवान् ने कहा—पूर्ण यथार्थ है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ की आचार-संहिता में तो भेद था, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टियों से दोनों परम्पराओं में मतभेद नहीं था। यहाँ तक कि सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी भी तीर्थंकर के शासन में मतभेद नहीं होता।

नन्द मणियार—

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम श्रुतस्कन्ध के तेरहवें अध्ययन में नन्द मणियार का कथानक है—

भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ। दर्दुरावतंस विमान का वासी 'दर्दुर' नामक देव वहाँ आया। उसने बत्तीस प्रकार के नाटक किये। गणधर गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया। प्रभु ने कहा—राजगृह नगर में नन्द नामक मणियार था। मेरा उपदेश श्रवण कर वह श्रमणोपासक बना, किन्तु चिरकाल तक साधु समागम नहीं होने से और मिथ्यात्वियों के निकट सम्पर्क में रहने से वह मिथ्यात्वी बन गया तथापि तप आदि क्रियायें पूर्ववत् ही चल रही थीं। एक दिन वह भीष्म-ग्रीष्म ऋतु में अष्टम भक्त तप की आराधना कर रहा था। उसे तीव्र भूख-प्यास सताने लगी। उसके मन में ऐसी भावना हुई—वापिका और बगीचे आदि का निर्माण करूँगा। दूसरे दिन पौषध आदि से निवृत्त होकर वह राजा के पास पहुँचा। अनुमति प्राप्त कर उसने सुन्दर वापिका बनवाई, बगीचे लगवाये, चित्रशाला, भोजनशाला, चिकित्सालय, अलंकारशाला आदि का निर्माण करवाया। उनका लोग उपयोग करने लगे और नन्द मणियार की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। वह प्रशंसा सुनकर हर्षित हुआ, उसकी उनके प्रति गहरी आसक्ति हो गई। नन्द मणियार के शरीर में सोलह महारोग पैदा हो गये। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्वास (२) कास-खांसी (३) ज्वर (४) दाह-जलन (५) कुक्षि-शूल (६) भगन्दर (७) अर्श-बवासीर (८) अजीर्ण (९) नेत्रशूल (१०) मस्तक-शूल (११) भोजन विषयक अरुचि (१२) नेत्र वेदना (१३) कर्ण वेदना (१४) कंडू-खाज (१५) दकोदर जलोदर (१६) कोढ़।

आचारांग में[1] १६ महारोगों के नाम दूसरे प्रकार से मिलते हैं।

१ आचारांग ६—१—१७३

विपाक, निशीथभाष्य, आदि में भी सोलह प्रकार की व्याधियों का उल्लेख है, पर नामों में पृथकता है। चरक संहिता[1] में भी आठ महारोगों का वर्णन है।

आसक्ति और आर्तध्यान में नन्द मणियार मृत्यु को वरण करता है और उसी वापी में 'दर्दुर' बनता है। कुछ समय के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के आगमन की बात को सुनकर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो आता है और वह दर्दुर भगवान् को वन्दन के लिए चलता है। घोड़े की टाप से वह घायल हो गया, संथारा कर वह वहाँ से स्वर्ग का अधिकारी बना।

प्रस्तुत कथानक में इस बात पर बल दिया गया है कि सद्गुरु के समागम से आत्मिक गुणों की वृद्धि होती है और आसक्ति से पतन होता है। आसक्ति आबाद जीवन को बर्बाद कर देती है।

आनन्द गाथापति—

उपासकदशा अध्ययन पहले में आनन्द गाथापति का वर्णन है— श्रमण भगवान् महावीर के श्रमणोपासकों में आनन्द श्रमणोपासक शीर्षस्थ स्थान है। वह लिच्छवियों की राजधानी 'वैशाली' के सन्निकट वाणिज्य ग्राम में रहता था। उसके पास विराट वैभव था। आधुनिक युग की भाषा में वह अरबपति था। कृषि उसका मुख्य व्यवसाय था। उसके यहाँ दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। आनन्द गाथापति की समाज में बहुत ही प्रतिष्ठा थी। सभी वर्ग के लोगों में उसका सम्माननीय स्थान था। विलक्षण प्रतिभा का धनी होने के कारण जन-मानस का उसके प्रति अत्यधिक विश्वास था, जिससे वे अपनी गोपनीय बात भी उसके सामने प्रकट कर देते थे। उसकी धर्मपत्नी का नाम 'शिवानन्दा' था। वह पतिपरायणा थी। भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर उसने श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किये। उसने शिवानन्दा को भी प्रेरणा दी। शिवानन्दा ने भी श्रावक व्रत स्वीकार किये। धर्माराधना करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह धर्म चिन्तन करते हुए सोचने

---

१ वातव्याधिरपस्मारी, कुष्टी शोफी तथोदरी।
गुल्मी च मधुमेही च, राजयक्ष्मी च यो नरः॥

—चरक संहिता, इन्द्रिय स्थान ९.

लगा—मैं जिस सामाजिक स्थिति में हूँ, अनेक विशिष्ट उत्तरदायित्व मैंने ले रखे हैं। जिसमें मैं अपने जीवन का अधिक समय धर्माराधना में नहीं लगा सकता। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सामाजिक दायित्व सौंपा और स्वयं को कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन से पृथक कर लिया। वह कोल्लाकसन्निवेश में स्थित पोषधशाला में धर्मोपासना करने लगा। उसने क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। उग्र तपोमय जीवन व्यतीत करने से उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। एक दिन पुनः धर्म चिन्तन करते हुए उसके मन में यह विचार आया—अब मेरा शरीर बहुत ही कृश हो गया है। मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि जीवन भर के लिए अन्न-जल का परित्याग कर शान्त चित्त से अपना अन्तिम समय व्यतीत करूं। तदनुसार वह आत्मचिन्तन में लीन हो गया। अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम में पधारे। गणधर गौतम ने भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए सुना कि आनन्द श्रावक को संथारे में अवधिज्ञान हुआ है। वे आनन्द के पास पहुँचे। आनन्द श्रावक का शरीर इतना क्षीण हो चुका था कि इधर से उधर होना भी उसके लिए शक्य नहीं था। गौतम से सन्निकट पधारने की प्रार्थना की, जिससे वह सविधि वन्दन कर सके। आनन्द ने सभक्ति वन्दन कर पूछा—क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

हाँ! हो सकता है। गौतम ने उत्तर दिया।

भगवन्! मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं उसके द्वारा पूर्व की ओर लवण समुद्र में ५०० योजन तक अधोलोक में लोलुपाच्युत नरक तक, उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्वदिशा में सौधर्म कल्प—प्रथम देवलोक तक, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में पाँच-सौ, पाँच-सौ योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र जानने लगा हूँ।

गौतम ने कहा—आनन्द! अवधिज्ञान तो हो सकता है, पर इतना विशाल नहीं। अतः तुम आलोचना कर प्रायश्चित्त लो।

आनन्द—जिनशासन में सत्य की भी आलोचना की जाती है?

गौतम—नहीं।

आनन्द—तो भगवन्! मैंने असत्य नहीं कहा है। गौतम भगवान् के चरणों में पहुँचे और सारा वृत्तान्त सुनाया।

भगवान् ने कहा— गौतम ! आनन्द का कथन ठीक है ! तुम आलोचना करो और आनन्द से क्षमायाचना भी।

गौतम सरलचेता साधक थे। उन्होंने अपने दोष की आलोचना की और जाकर आनन्द से क्षमायाचना की। जैन दर्शन का यह महान आदर्श है कि व्यक्ति बड़ा नहीं, सत्य बड़ा है। सत्य के प्रति हर किसी को अभिनत होना ही चाहिए। आनन्द उज्ज्वल परिणामों में उत्तरोतर दृढ़-दृढ़तर होते गये और सौधर्म देवलोक में देव बने।

प्रस्तुत कथानक में आनन्द श्रावक के उपासनामय जीवन का शब्द चित्र है। उस समय भारत की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। आनन्द के पास विशाल भूमि और बृहत पशुधन था और स्वर्णमुद्राओं के भी अम्बार लगे हुए थे। वे आधुनिक धनवानों की तरह नहीं थे, जो बिना सुरक्षित पूँजी के भी अन्धाधुन्ध व्यापार करते हों। वे अपनी पूँजी का तृतीयांश भाग पहले से ही सुरक्षित रखते थे, जिससे तनाव की स्थिति पैदा न हो। जीवन की सांध्य वेला में वे अपना उत्तरदायित्व पुत्र को देकर पूर्णतया साधना में जुट जाते थे। उनकी साधना के लिए स्वतन्त्र पौषधशालायें होती थीं। जहाँ जागरूक होकर साधनामय जीवन जीते हुए सहर्ष मृत्यु को वरण करते थे। आज के श्रावक उनके जीवन से पाठ ग्रहण करें तो जीवन में सुख और शान्ति का सरसब्ज बाग लहलहा सकता है।

कामदेव गाथापति—

कामदेव चम्पा नगरी का निवासी था, उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उसके पास छह करोड़ स्वर्णमुद्रायें स्थाई पूँजी के रूप थीं, छह करोड़ स्वर्णमुद्रायें व्यापार में लगी हुई थीं और छह करोड़ स्वर्णमुद्रायें घर आदि के कार्यों में लगी हुई थीं। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल थे। उसका पारिवारिक जीवन सुखी था। राजकीय क्षेत्र में भी उसकी भारी प्रतिष्ठा थी। भगवान् महावीर के उपदेश को श्रवण कर कामदेव ने व्रत ग्रहण किये और अन्त में पुत्र को गृहभार सम्हलाकर स्वयं पौषधशाला में तन्मयता से साधना करने लगा। उसकी साधना में विघ्न डालने के लिए एक मिथ्यात्वीदेव आया। उसने पहले विकराल रूप बनाकर कामदेव को भयभीत करने का प्रयास किया और स्पष्ट शब्दों में कहा—तुम उपासना को छोड़ दो। पर कामदेव अविचल रहा। शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने का भी प्रयास किया, उन्मत्त हाथी बनकर कामदेव को आकाश में उछाला, दाँतों

से बींधा और पैरों से रौंदा तथापि कामदेव अपनी साधना में अडिग रहा। फिर उसने उग्र विषधर का रूप धारण कर तीव्र डंक का प्रहार किया पर कामदेव चलित नहीं हुआ। वह देव कामदेव श्रावक के चरणों में गिर पड़ा। तुम धन्य हो! जैसा इन्द्र ने तुम्हारा गुणानुवाद किया, उससे भी तुम बढ़कर निकले। कामदेव ने उपसर्ग को समाप्त हुआ जानकर ध्यान आदि से निवृत्ति ली। उसने सुना—भगवान् महावीर का शुभागमन हुआ है। वह दर्शन के लिए पहुँचा। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने कहा—कामदेव! क्या देव ने तुम्हें इस प्रकार रात्रि को उपसर्ग दिये थे?

भन्ते! आपका कथन यथार्थ है।

भगवान् ने साधु-साध्वियों को सम्बोधित कर कहा—कामदेव गृहस्थ होते हुए भी इतना दृढ़ रहा, अतः तुम्हें भी इससे शिक्षा लेनी चाहिए। सारी सभा स्तम्भित हो गई। कामदेव उत्तरोत्तर साधना-पथ पर बढ़ता गया। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक के व्रतों का पालन कर, अंतिम समय में संलेखना तथा अनशन कर वह सौधर्म देवलोक में देव बना।

प्रस्तुत कथानक का सार यही है कि उपसर्ग उपस्थित होने पर भी हिमालय की चट्टान की तरह व्रतों के पालन में सुदृढ़ रहना चाहिए, विघ्न साधना की कसौटी है। "श्रेयांसि बहु विघ्नानि"—श्रेष्ठ कार्यों में बहुत से विघ्न आते है, पर जो उन बाधाओं को पार कर जाता है, वही महान् बनता है। (उपासकदशांग अ० २)

चुलनीपिता

चुलनीपिता वाराणसी का गाथापति था। उसकी पत्नी श्यामा थी। चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्रायें उसके पास थीं तथा दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। जब भगवान् महावीर वाराणसी पधारे, तो उनके उपदेश को श्रवणकर चुलनीपिता ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। एक बार वह पौषधशाला में उपासनारत था। एक देव हाथ में चमचमाती हुई तलवार लिए वहाँ प्रगट हुआ और कहा—तुम व्रतों को छोड़ दो, नहीं तो तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को लाकर तुम्हारे सामने ही टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा। खौलते हुए पानी में उसका मांस पकाकर तुम्हारे शरीर पर छिटकूंगा। पुत्र के प्रति पिता की सहज ममता होती है, पर वह अविचल रहा। देव का क्रोध उबल पड़ा, उसने देवमाया से वैसा ही कर बताया।

उस बीभत्स दृश्य से पत्थर का हृदय भी द्रवित हो जाता, पर चुलनीपिता अडिग रहे। दूसरी बार मझले पुत्र की भी वही स्थिति की तो भी वह साधना से चलित नहीं हुआ। तीसरी बार भी उस देव ने तीसरे पुत्र को समाप्त कर दिया तो भी चुलनीपिता मेरु की तरह अडिग रहा। चौथी बार देव ने उसकी ममतामयी माता की हत्या करनी चाही, तब उसके धैर्य का बाँध टूट गया। वह क्रुद्ध होकर उस देव को पकड़ने के लिए उठा। देव अन्तर्धान हो गया। उसके हाथ में खम्भा आया और वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। भद्रा सार्थवाही उसकी आवाज को सुनकर चट से वहाँ पहुँची और कहा—वत्स! वह देव माया थी। तुमने क्रोध करके व्रत का भंग किया है, इसीलिए प्रायश्चित्त करके शुद्ध बनो। माँ की आज्ञा को शिरोधार्य कर चुलनीपिता ने प्रायश्चित्त किया।

साधक को प्रत्येक क्षण सावधान रहना चाहिए, यदि भूल हो जाये तो उसका परिष्कार करना चाहिए। चुलनीपिता ने उपासना के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास किया और अन्तिम समय में संलेखना-समाधिपूर्वक अनशन कर सौधर्म देवलोक में देव बना।

प्रस्तुत कथानक में यह बताया गया है कि अध्यात्म की साधना माँ की ममता से भी बढ़कर है। जब साधक उस उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है तो सांसारिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। (उपासकदशांग अ. ३)

सुरादेव

सुरादेव भी वाराणसी का गाथापति था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें थीं। उसकी पत्नी का नाम धन्या था। भगवान् महावीर के पावन-प्रवचन को श्रवण कर उसने व्रत ग्रहण किये। देव ने पाँच बार उसके पुत्रों को काटा, खौलते हुए पानी के कड़ाह में डाला और सुरादेव पर मांस छिड़का तो भी सुरादेव विचलित नहीं हुआ तब देव ने उसके शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न करने की धमकी दी, जिससे सुरादेव विचलित हो उठा। उसने देव को पकड़ने के लिए हाथ फैलाया, देव आकाश में लुप्त हो गया। सुरादेव की चिल्लाहट को सुनकर उसकी पत्नी वहाँ आई और उसने कहा—पतिदेव! यह देव उपसर्ग था। आप अपना व्रत खण्डित नहीं करें। उसने भूल का प्रायश्चित्त किया। बीस वर्ष तक श्रावक व्रतों का निरतिचार पालन कर सौधर्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। (उपासकदशांग अ. ४)

चुल्लशतक

आलभिका नगरी में चुल्लशतक गाथापति था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ थी। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल थे। एक बार भगवान् महावीर आलभिका पधारे। चुल्लशतक ने व्रत ग्रहण किये। एक दिन पौषधशाला में उसने पौषध व्रत स्वीकार कर रखा था। अर्द्धरात्रि में एक देव प्रगट हुआ। देव ने चुल्लशतक के तीनों पुत्रों के सात-सात टुकड़े कर दिये, पर वह व्रत से विचलित नहीं हुआ। अन्त में देव ने सोचा—धन ग्यारहवाँ प्राण है। अतः उसने कहा—यदि तुम व्रतों का भंग नहीं करोगे तो तुम्हारे सम्पूर्ण धन का अपहरण कर लूंगा। तुम दरिद्र बनकर दर-दर भटकोगे। तीन बार कहने पर चुल्लशतक के बिजली सी कौंध गई। वह घबड़ा गया। उसने उस पुरुष को पकड़ने के लिए हाथ आगे बढ़ाया, पर खम्भे के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगा। व्याकुलता के कारण वह जोर से चिल्ला उठा। पत्नी ने आकर कहा—आपको अपने व्रत में दृढ़ रहना चाहिए, आलोचना कर आत्म-शोधन करें। उसे अपनी भूल ज्ञात हुई। उसने शुद्धिकरण किया। बीस वर्ष तक श्रावक व्रतों का पालन कर एवं एकादश प्रतिमाओं की आराधना की। एक मास की संलेखना-संथारा कर सौधर्म देवलोक में देव बना। (उपासक दशांग अ० ५)

कुण्डकौलिक

काम्पिल्यपुर नगर में कुण्डकौलिक गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम पूणा था। अठारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का वह अधिपति था। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल थे। भगवान् के उपदेश को सुनकर कुण्ड-कौलिक ने व्रत ग्रहण किये। वह एक दिन मध्याह्न में अशोक वाटिका में पहुँचा। उसने अपनी अंगूठी और उत्तरीय उतार कर पृथ्वीशिला पट्टक पर रखे, और धर्म-ध्यान में संलग्न हो गया। उस समय एक देव प्रकट हुआ। अंगूठी और उत्तरीय लेकर आकाश में स्थित हो गया। देव ने कहा —मंखलिपुत्र गौशालक का सिद्धान्त सुन्दर है। वहाँ पुरुषार्थ को स्थान नहीं है। वह नियतिवादी है। जो कुछ भी होगा, वह नियति के अनुसार ही होगा। इसलिए तुम उसके सिद्धान्त को स्वीकार करो।

कुण्डकौलिक—तुमने जो यह विराट ऋद्धि प्राप्त की है, वह पुरुषार्थ से प्राप्त की है या यों ही?

देव—मैंने यों ही प्राप्त की है।

कुण्डकौलिक—तो फिर प्रत्येक प्राणी जो पुरुषार्थ नहीं करते हैं, वे देव क्यों नहीं बने ?

देव कुण्डकौलिक के तर्क का उत्तर नहीं दे सका। वह अंगूठी और उत्तरीय को शिलापट्ट पर रखकर चल दिया।

दूसरे दिन भगवान् महावीर का काम्पिल्यपुर नगर में पदार्पण हुआ। कुण्डकौलिक बन्दन के लिए गया। भगवान् ने देव-परीक्षा की बात कही और साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहा—कुण्डकौलिक कितना गहरा तत्त्ववेत्ता है। उसने अपनी युक्ति से देव को निरुत्तर कर दिया। कुण्डकौलिक की घटना को महत्त्व देने का यही कारण था कि साधकों को अपने सिद्धान्तों का सम्यक् परिबोध होना चाहिए।

कुण्डकौलिक ने पन्द्रहवें वर्ष में एकादश प्रतिमाओं को ग्रहण किया। उसके पूर्व चौदह वर्ष तक वह व्रतों का पालन करता रहा था। अन्त में एक मास की संलेखना-संथारा द्वारा आयुष्य को पूर्ण करके वह सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। (उपासकदशांग अ० ६)

शकडालपुत्र

पोलासपुर नगर में शकडालपुत्र नामक एक कुम्भकार था। उसके पास तीन करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं और दस हजार गायों का एक गोकुल था। उसका प्रमुख व्यवसाय था—मिट्टी के बर्तन तैयार करना और बेचना। पोलासपुर नगर के बाहर उसकी पाँचसौ कर्मशालायें थी। जहाँ अनेक वैतनिक कर्मचारी काम करते थे। वे बर्तन तैयार करते और सार्वजनिक स्थानों पर उन्हें बेचते थे। शकडालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। वह गौशालक का प्रमुख अनुयायी था। एक बार शकडालपुत्र अशोकवाटिका में धर्माराधन कर रहा था। उस समय एक देव ने प्रकट होकर कहा—कल प्रातः महामहिम, अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, त्रैलोक्यपूजित, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आयेंगे। उनकी तुम पर्युपासना करना।

दूसरे दिन भगवान् महावीर सहस्राम्र उद्यान में पधारे। शकडालपुत्र दर्शन करने के लिए गया। वह तो मन में सोच रहा था कि भगवान् गौशालक पधारेंगे और उसी दृष्टि से वह वहाँ पर पहुँचा। भगवान् महावीर ने उसे सुलभबोधि जानकर कहा—कल देव आया था न ? और उसने मेरे

आगमन की सूचना दी थी न ? शकडालपुत्र भगवान् महावीर के दिव्य ज्ञान से प्रभावित हुआ। उसने भगवान् से निवेदन किया—मेरी कर्मशाला में पधारें और आवश्यक सामग्री ग्रहण करें। भगवान् महावीर वहाँ पधारे। एक दिन शकडालपुत्र बर्तनों को धूप दे रहा था। भगवान् ने पूछा —ये बर्तन कैसे बने ? शकडालपुत्र ने निवेदन किया—पहले मिट्टी एकत्र की, फिर उसे भिगोया, राख और गोबर मिलाया, गूंधा तथा सबको एक-एक कर चाक पर चढ़ाया और विभिन्न प्रकार के बर्तन बनाये।

भगवान्—ये बर्तन पुरुषार्थ से बने हैं अथवा अपुरुषार्थ से।

शकडालपुत्र—इसमें पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं। जो कुछ होना होता है, वह निश्चित है।

भगवान्—कल्पना करो, कोई व्यक्ति तुम्हारे बर्तनों को तोड़ दे, फोड़ दे अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ बलात्कार करे तो तुम क्या करोगे ?

शकडालपुत्र—मैं उसे फटकारूंगा, दण्ड दूंगा और अधिक करेगा तो उसकी जान ले लूंगा।

भगवान्—तुम ऐसा क्यों करते हो ? क्योंकि तुम्हारी दृष्टि से जो कुछ भी होने वाला है, वह नियत है। फिर उसे दोषी क्यों मानते हो ? यदि तुम यह मानते हो कि वह पुरुषार्थ करता है तो नियतिवाद का सिद्धांत खण्डित हो जाता है।

शकडालपुत्र भगवान् महावीर के सामने नत हो गया। उसने श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किये और उसकी पत्नी अग्निमित्रा ने भी।

मंखलिपुत्र गौशालक ने जब यह सुना तो उसे दुःख हुआ क्योंकि वह उसका प्रमुख श्रावक था। वह आजीवकों के उपाश्रय में ठहरकर शकडालपुत्र के पास आया, पर शकडालपुत्र ने कोई आदरभाव प्रकट नहीं किया। गौशालक ने भगवान् महावीर की खूब स्तवना की। शकडालपुत्र ने अपने गुरु महावीर की स्तवना से प्रभावित होकर कहा—आप मेरी कर्मशाला में रुकें। गौशालक भी यही चाहता था। उसने विविध तर्क देकर उसे समझाने का प्रयास किया पर शकडालपुत्र की धर्मश्रद्धा विचलित नहीं हुई। निराश होकर गौशालक ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

श्रावक व्रतों की आराधना एवं साधना करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत

हो चुके थे, पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था। शकडालपुत्र रात्रि में धर्माराधना कर रहा था। एक देव आया। उस देव ने उसके तीनों पुत्रों को मारकर नौ-नौ मांसखण्ड किये। खौलते हुए पानी में उबालकर उसको शकडालपुत्र के ऊपर छींटा तो भी वह विचलित नहीं हुआ। देव ने सोचा—इसका अग्निमित्रा पत्नी पर अत्यधिक अनुराग है, अतः उसी तरह उसे भी मारने की धमकी दी। वह क्षुभित हो उठा, देव को पकड़ने के लिए ज्योंही हाथ आगे बढ़ाये त्योंही हाथ खम्भे से टकरा गये। उसकी चीत्कार को सुनकर अग्निमित्रा वहाँ आई और बोली—आपने व्रत को भंग कर दिया है, प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करें। शकडालपुत्र ने वैसा ही किया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक जागरूकता से उसकी साधना चलती रही। आयु पूर्ण कर वह अरुणाभत विमान में देव बना। (उपासकदशांग अ. ७)

महाशतक

राजगृह में महाशतक गाथापति था। उसके पास चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्रायें थीं। दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। उसके तेरह पत्नियाँ थीं। उनमें रेवती प्रमुख थी। रेवती अपने पीहर से आठ करोड़ स्वर्णमुद्रायें और दश-दश हजार गायों के आठ गोकुल प्रीतिदान के रूप में लाई थी, अन्य बारह पत्नियाँ भी एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्रायें और दस-दस हजार गायों का एक गोकुल प्रीतिदान के रूप में लाई थीं। उस युग में पुत्रियों को पीहर से विराट सम्पत्ति प्राप्त होती थी और उस पर उन पत्नियों का ही अधिकार रहता था। भगवान् महावीर के उपदेश को श्रवण कर महाशतक ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

महाशतक की पत्नी रेवती के अन्तर्मानस में अर्थ और भोग के प्रति तीव्र अभिलाषा थी। एक बार उसके मन में विचार आया—मैं बारह ही सौतों को मार दूँ तो उनकी सारी सम्पत्ति पर मेरा अधिकार हो जायेगा और मैं एकाकिनी विषय-भोगों का सेवन करूँगी। उसने अपनी सौतों को मरवा दिया। रेवती मांस और मदिरा का भी उपभोग करती थी। एक बार राजगृह में अमारि (प्राणी-वध-निषेध) की घोषणा कर दी गई। रेवती ने अपने गोकुल में से दो-दो बछड़े प्रतिदिन मारकर गुप्त रूप से लाने की व्यवस्था की। महाशतक के जीवन में नया मोड़ आ गया। श्रावक के व्रतों का पालन करते हुए उसे चौदह वर्ष व्यतीत हो गये थे। अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्हला कर स्वयं पौषधशाला में धर्मोपासना करने लगा।

रेवती मदिरा के नशे में उन्मत्त बनी हुई कामोद्दीपक हाव-भाव करने लगी तथा भोगों की याचना करने लगी। किन्तु महाशतक विचलित नहीं हुआ। रेवती अपना-सा मुँह लेकर लौट गई। महाशतक साधना में उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा। उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। रेवती वासना की ज्वाला में झुलस रही थी। वह पुनः-पुनः आकर कुचेष्टा करने लगी जिससे वह विक्षुब्ध हो उठा। उसने अवधिज्ञान से निहारकर कहा—रेवती ! तू अत्यंत भयानक रोग से पीड़ित होकर रत्नप्रभा नामक पहली नरक में उत्पन्न होगी, जहाँ चौरासी हजार वर्ष तक भयंकर कष्टों को भोगेगी। वह भय से काँप उठी, उसके सामने मौत की काली छाया नाचने लगी। जैसा महाशतक ने कहा था, वैसा ही हुआ।

भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ। उन्होंने गणधर गौतम को बताया—अन्तिम संलेखना स्वीकार कर महाशतक ने अप्रिय और अमनोज्ञ कथन कर भूल की है। तुम जाकर महाशतक को इसकी आलोचना कर प्रायश्चित्त करे, ऐसा सूचन करो। गौतम महाशतक के पास आये और भगवान् का सन्देश कहा। महाशतक ने भगवान् के वचन को शिरोधार्य कर शुद्धि की। समाधिपूर्वक देह त्यागकर सौधर्मकल्प में देव बना। (उपासकदशांग अ० ८)

नन्दिनीपिता

श्रावस्ती नगरी में नन्दिनीपिता गाथापति था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें थीं। दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था। भगवान् महावीर के उपदेश को सुनकर उसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। व्रतों का पालन करते हुए जब चौदह वर्ष हो गये तो अपना उत्तरदायित्व ज्येष्ठ पुत्र को देकर वह साधना में जुट गया। उसकी साधना में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। बीस वर्ष तक श्रावक धर्म की आराधना कर वह सौधर्म देवलोक में देव बना। (उपासक दशांग अ० ९)

सालिहीपिता

श्रावस्ती में सालिहीपिता गाथापति था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था। उसके पास दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। भगवान् महावीर के उपदेश को

श्रवण कर उसने व्रतों को ग्रहण किया। चौदह वर्ष तक श्रावक व्रतों का पालन करने के पश्चात् अपना उत्तरदायित्व ज्येष्ठ पुत्र को देकर स्वयं साधना में तल्लीन हो गया, ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

आनन्द गाथापति से लेकर सालिहीपिता तक इन दसों श्रमणोपासकों की परिगणना भगवान् महावीर के प्रमुखतम श्रावकों में की गई है। उपासकदशांग सूत्र में इनकी जीवन गाथाएँ हैं। दस उपासकों में से छह के जीवन में उपसर्ग उत्पन्न हुए थे। उनमें से चार उपासक विचलित हो गये किन्तु पुनः सँभल गये। अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर लिया। दो उपासक पूर्णरूप से अविचल रहे और शेष चार उपासकों की साधना में किसी भी प्रकार के उपसर्ग नहीं आए। उपसर्ग साधक की कसौटी है। जो साधक उपसर्गों की कसौटी पर खरा उतरता है, उसका जीवन स्वर्ण की तरह निखर जाता है। (उपासक दशांग अ० १०)

ऋषिभद्रपुत्र

आलभिका नगरी में ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक था। उस नगर में अनेक श्रमणोपासक थे जो जीवादि तत्वों के परिज्ञाता थे। अन्य श्रमणोपासकों ने ऋषिभद्रपुत्र से पूछा—देवों की कितनी स्थिति है? उसने कहा—जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट क्रमशः बढ़ती हुई तैंतीस सागरोपम की। अन्य श्रमणोपासकों को शंका हुई कि उसका कथन यथार्थ है अथवा नहीं? भगवान् महावीर आलभिका नगरी में पधारे। उनका उपदेश सुनने के बाद उस परिषद् ने भगवान् से पूछा—ऋषिभद्रपुत्र का कथन यथार्थ है या नहीं? प्रभु ने कहा—उसका कथन यथार्थ है। मैं भी ऐसा कहता हूँ। यह सुनकर परिषद् प्रभावित हुई और ऋषिभद्रपुत्र से क्षमायाचना की।

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या ऋषिभद्रपुत्र श्रमण बनेगा? भगवान् ने कहा—नहीं, यह श्रमणोपासक-जीवन व्यतीत करके आयु पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में देव बनेगा और वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

प्रस्तुत कथानक से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के श्रमणोपासक तत्वदर्शन के अच्छे ज्ञाता थे और भगवान् उस सत्य-तथ्य को

स्वीकार कर उस पर अपनी मुद्रा लगा देते थे जिससे अन्य श्रावक भी तत्व-दर्शन की ओर आगे बढ़ सकें। (भगवती स० ११, उ० १२)

शंख-पुष्कली

श्रावस्ती नगरी में शंख श्रावक था। उसकी पत्नी का नाम उत्पला था। पुष्कली नामक एक अन्य श्रमणोपासक भी वहाँ रहता था। दोनों ही जैनदर्शन के पूर्ण ज्ञाता थे। भगवान् महावीर का वहाँ पदार्पण हुआ। भगवान् का उपदेश श्रवण कर उन्होंने अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। उसके बाद शंख श्रमणोपासक ने श्रावस्ती ने अन्य श्रमणोपासकों से कहा—'पुष्कल अशन, पान, खादिम, स्वादिम तैयार कराओ और उसका आस्वादन करते हुए, खाते और परस्पर खिलाते हुए पाक्षिक पौषध का अनुपालन करते हुए रहेंगे। सभी श्रमणोपासकों ने शंख की बात को ध्यानपूर्वक सुना।

उसके पश्चात् शंख श्रमणोपासक को यह विचार आया कि खाते हुए पौषध न कर ब्रह्मचर्यपूर्वक मणि आदि का त्यागकर बिना किसी के सहयोग के मुझे अकेले ही पौषध करना श्रेयस्कर है। ऐसा सोचकर वह अपने घर आया। अपनी पत्नी उत्पला को पूछकर पौषधशाला में पौषध करके बैठ गया। इधर श्रावस्ती के श्रमणोपासकों ने विपुल अशन, पान आदि तैयार करवा लिया, किन्तु शंख श्रमणोपासक नहीं आया, इसलिए उसे बुलवाने का विचार किया।

पुष्कली श्रावक उन सभी की ओर से उन्हें बुलाने गया। उत्पला से पूछा—शंख श्रावक कहाँ है ? उसने कहा—वे पौषधशाला में पौषध करके बैठे हैं। पुष्कली ने शंख को नमस्कार किया और कहा—आपने विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम तैयार करवाया है, अतः आहार आदि को खाते-पीते पौषध करें। शंख ने कहा—मैंने पौषध कर लिया है, तुम अपनी इच्छानुसार खाते-पीते पौषध करो। उन श्रावकों ने वैसा ही किया।

रात्रि में धर्म जागरण करते हुए शंख ने सोचा—भगवान् महावीर के दर्शन करने के बाद ही मुझे पौषध पारना श्रेयस्कर है। सुबह होने पर शंख भगवान् की सेवा में पहुँचा। उधर पुष्कली आदि श्रावक भी भगवान् को वन्दन के लिए पहुँचे। उपदेश सुनने के बाद उन्होंने शंख को उपालम्भ दिया। प्रभु ने कहा—तुम शंख श्रावक की अवहेलना न करो, यह प्रियधर्मी एवं दृढ़धर्मी है। इसने प्रमाद और निद्रा का परित्याग कर सुदर्शन जागरिका जागृत की है।

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—जागरिका कितने प्रकार की है? भगवान् ने उत्तर दिया—जागरिका तीन प्रकार की है—१. बुद्ध जागरिका २. अबुद्ध जागरिका और ३. सुदर्शन जागरिका। सर्वज्ञों की जागरिका बुद्ध जागरिका है, अणगार की जागरिका अबुद्ध जागरिका है और श्रावकों की जागरिका सुदर्शन जागरिका है।

शंख ने भगवान् महावीर से पूछा—क्रोध आदि कषाय के वशीभूत जीव कौन से कर्म बांधता है अथवा चय-उपचय करता है? भगवान् ने कहा—वह सात या आठ कर्मों को बांधता है, शिथिल कर्म प्रकृतियों को दृढ़ करता है। पुष्कली आदि सभी श्रावकों ने शंख से क्षमायाचना की। गौतम ने पूछा—क्या शंख प्रव्रज्या ग्रहण करेगा? भगवान् ने कहा—नहीं, वह श्रावकधर्म का ही पालन करेगा।

प्रस्तुत कथानक में पौषध का उल्लेख हुआ है। पौषध के १ आहार पौषध २ शरीर पौषध ३ ब्रह्मचर्य-पौषध और ४ अव्यापार-पौषध—ये चार प्रकार हैं। शंख श्रावक ने प्रतिपूर्ण पौषध किया था। आवश्यकवृत्ति में पौषधोपवास का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"धर्म और अध्यात्म को पुष्ट करने वाला विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना।"[1] पौषध शब्द संस्कृत के 'उपवसथः' शब्द से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है—धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना। धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास है। दूसरे शब्दों में कहें तो पौषध व्रत का अर्थ पोषना, तृप्त करना है। शरीर को भोजन से तृप्त करते हैं वैसे ही आत्मा को व्रत से तृप्त करना। पौषध में आत्मचिन्तन, आत्म-शोधन, आत्मविकास का पुरुषार्थ किया जाता है। जब साधक आत्मचिन्तन करता है तो उसे अपने अन्तर् में रही हुई कमजोरियों का ज्ञान होता है और जिन शक्तियों की न्यूनता है, उनकी सम्पूर्ति के लिए वह प्रयास करता है। व्यक्ति दूसरों को सुधार नहीं सकता पर अपने आपको वह सुधार सकता है। पौषध में साधक सांसारिक प्रवृत्तियों से मुक्त होकर धर्म-जागरण और आत्म-जागरण करता है। (भगवती श. १२, उ. १)

वरुणनागनप्तृक श्रमणोपासक

वैशाली में वरुणनागनप्तृक श्रमणोपासक था। वह जीवादि तत्त्वों

---

१ पौषधे उपवसनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः।

—आवश्यकवृत्ति

का परिज्ञाता था तथा व्रती था। छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ रहता था। राजा के आदेश से उसे रथमूसल संग्राम में जाना पड़ा। उसने युद्ध में प्रवृत्त होते समय यह नियम लिया कि जो मुझ पर पहले वार करेगा, उसी को मुझे मारना योग्य है, दूसरे को नहीं। वह नियम लेकर संग्राम करने लगा। वरुणनागनप्तृक के सदृश ही एक व्यक्ति समान वय और आकृति वाला वहाँ आया और कहा—मेरे पर प्रहार करो। उसने कहा—जब तक कोई मेरे पर प्रहार नहीं करता, वहाँ तक मैं भी प्रहार नहीं करता हूँ। उसने वरुणनागनप्तृक पर बाण का प्रहार किया जिससे वह घायल हो गया। उसके बाद ही वरुणनागनप्तृक ने उस व्यक्ति पर प्रहार किया जिससे वह भूमि पर लुढ़क पड़ा। पुनः उसने प्रहार किया जिससे वरुणनागनप्तृक के प्राण संकट में पड़ गये। जीवन की सांध्यवेला समझकर उसने रथ को एकान्त स्थान में ले जाने का आदेश दिया। रथ से उतरकर, दर्भ का आसन बिछाकर वरुणनागनप्तृक ने अरिहंत को नमस्कार किया एवं जीवन पर्यन्त के लिए व्रतों को ग्रहण किया। कवच को खोला और शरीर में से बाण को बाहर निकाला तथा समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुआ।

वरुणनागनप्तृक का बाल मित्र युद्ध कर रहा था। वह भी घायल हुआ। वरुणनागनप्तृक के पीछे-पीछे आया और संथारा कर मृत्यु का वरण किया। सन्निकट में रहे हुए देवों ने सुगन्धित जल और पुष्पों की वर्षा की और गीत व गन्धर्व-नाद भी। लोगों ने समझा—जो संग्राम करते हुए मरते हैं, वे देवलोक को प्राप्त होते हैं, पर उन्हें यह पता नहीं कि कैसे व्यक्ति स्वर्ग में जाते हैं? (भगवती श. ७, उ. ९)

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! वरुणनागनप्तृक कहाँ गया? भगवान् ने कहा—वह सौधर्म देवलोक में गया और उसका मित्र मानव बना। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

प्रस्तुत कथानक में, वैदिक परम्परा तथा लोक-धारणाओं में यह बात फैली हुई थी कि रण-क्षेत्र में मरने वाला व्यक्ति स्वर्ग को वरण करता है। इस दृष्टि से लोग युद्ध में मरने को श्रेयस्कर मानते थे।[1] इस मिथ्या-धारणा का इसमें निरसन किया गया है। रणक्षेत्र में भी मरने वाला व्यक्ति

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—वीरगाथा काल का वर्णन

स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है बशर्ते वह पापों की आलोचना कर कषाय से मुक्त होकर समभाव में आयु पूर्ण करे। यदि कषाय की आग में सैनिक झुलस रहा है तो उसकी गति नरक एवं तिर्यंच की होगी। बबूल का पेड़ बोकर आम की आशा करना मिथ्या है। वैसे ही कषायभाव में सद्गति सुलभ नहीं है।

सोमिल ब्राह्मण

भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशक १० में सोमिल ब्राह्मण श्रमणोपासक का वर्णन है। वाणिज्यग्राम में सोमिल ब्राह्मण था। वह वेदों का पारंगत विद्वान् था। उसके पाँच सौ शिष्य थे। वहाँ पर भगवान् महावीर का आगमन हुआ। सोमिल ब्राह्मण ने सोचा—मैं अपने शिष्यों के साथ भगवान् के पास जाऊँ, यदि वे मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकेंगे तो मैं उन्हें निरुत्तर कर दूंगा। इस प्रकार विचार कर वह महावीर के पास आया और पूछा—भगवन्! आपके यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार क्या हैं? भगवान् ने कहा—हाँ हैं। वह तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, और आवश्यक आदि योगों में मेरी जो यतना (प्रवृत्ति) है, वह मेरी यात्रा है। यापनीय दो प्रकार का है—इन्द्रिय यापनीय और नोइन्द्रिय यापनीय। पाँचों इन्द्रियाँ निरुपहत (उपघात रहित) मेरे अधीन प्रवृत्ति करती हैं, यह मेरा इन्द्रिय यापनीय है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय मेरे पूर्ण रूप से नष्ट हो गये हैं, वे उदय में नहीं हैं, यह मेरा नोइन्द्रिय यापनीय है। मेरे वात, पित्त, कफ और सन्निपात जन्य अनेक प्रकार के शरीर सम्बन्धी दोष और रोगतंक उपशान्त हो गये हैं, वे उदय में नहीं आते, यह मेरा अव्याबाध है। आराम, उद्यान, देवकुल सभा, प्रपा, विविध स्थानों में जो स्त्री, पशु, पंडक रहित बस्तियों में प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि प्राप्त कर मैं विचरण करता हूँ, यह मेरे लिए प्रासुक विहार है।

सोमिल ने पुनः प्रश्न किया—सरिसव भक्ष्य है अथवा अभक्ष्य?

भगवान्—सोमिल! ब्राह्मण ग्रन्थों में सरिसव दो प्रकार के बताये गये हैं—१. समान वय वाला सरिसव (सदृशवय) मित्र २. धान्य सरिसव। जो मित्र सरिसव है वह सहजात, सहवर्धित और सहपांसुक्रीड़ित ये तीनों प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिए अभक्ष्य हैं।

धान्य सरिसव दो प्रकार का है—

(१) शस्त्र-परिणत—अग्नि आदि से निर्जीव बना हुआ और (२) अशस्त्र परिणत—निर्जीव नहीं बना हुआ। जो अशस्त्र परिणत है, वह अभक्ष्य है। शस्त्र परिणत भी दो प्रकार का है—एषणीय और अनेषणीय। एषणीय सरिसव भी दो प्रकार का है—याचित और अयाचित। अयाचित श्रमणों के लिए त्याज्य है। याचित भी दो प्रकार का है—लब्ध और अलब्ध। अलब्ध श्रमणों के लिए अभक्ष्य है और लब्ध श्रमणों के लिए भक्ष्य है। इसलिए सरिसव मेरे लिए भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी।

सोमिल ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—मास भक्ष्य है या अभक्ष्य है? महावीर ने कहा—ब्राह्मण ग्रन्थों में मास दो प्रकार का कहा गया है—द्रव्य मास और काल मास। जो काल मास है श्रावण, भाद्रपद आदि, वह श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य है। द्रव्य मास दो प्रकार का है—अर्थ माष और धान्य माष। अर्थ माष दो प्रकार का है—स्वर्ण माष और रौप्य माष, जो श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य है। धान्य माष दो प्रकार का है—शस्त्र परिणत माष और अशस्त्र परिणत माष। ये सभी मास, जो शस्त्र परिणत हैं वह सरिसव के समान भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।

भगवन्! कुलत्था भक्ष्य है अथवा अभक्ष्य है? भगवान् ने कहा—कुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है। वह दो प्रकार का है—स्त्री कुलत्था और धान्य कुलत्था, स्त्री कुलत्था तीन प्रकार की है—कुलकन्या, कुलवधू, कुलमाता, जो श्रमणों के लिए अभक्ष्य है। धान्य कुलत्था के सम्बन्ध में धान्य सरिसव के समान समझना। कुलत्था भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी।

सोमिल ने पुनः पूछा—भगवन्! आप एक हैं या अनेक हैं? अक्षय, अव्यय, अवस्थित या भूतभाव भविक हैं?

भगवान्—मैं एक भी हूँ और अनेक भी। मैं द्रव्य रूप से एक हूँ, ज्ञान और दर्शन के भेद से दो हूँ, आत्म-प्रदेश से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी। उपयोग की अपेक्षा से अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामों के योग्य हूँ। अर्थात् नाना रूपधारी भी हूँ।

सोमिल के अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे गम्भीर प्रश्न जो लम्बे समय तक चर्चा करने पर भी सुलझ नहीं सकते थे, उन सभी प्रश्नों का भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से क्षण भर में समाधान कर दिया। सोमिल महावीर को शब्द जाल में फँसाना चाहता था, इसीलिए उसने श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया था, पर भगवान् तो केवल-

ज्ञानी थे, अतः उनसे उसका वाक्छल किस प्रकार छिप सकता था? 'सरिसव' प्राकृत भाषा का श्लिष्ट शब्द है, जिसकी संस्कृत छाया है--'सर्षप' और 'सदृशवया'। 'सर्षप' का अर्थ सरसों है और 'सदृशवया' का अर्थ समान उम्र है। 'मास' भी प्राकृत का श्लिष्ट शब्द है, जिसकी संस्कृत छाया है—'माष' और 'मास'! 'माष' का अर्थ उड़द है और 'मास' का महीना है। 'कुलत्था' भी प्राकृत का श्लिष्ट शब्द है, जिसकी संस्कृत छाया है—'कुलस्था' और 'कुलत्था'? 'कुलस्था' का अर्थ कुलीन स्त्री और 'कुलत्था' का अर्थ है—कुलथी—धान्य विशेष।

भगवान् महावीर के तार्किक उत्तरों से सोमिल अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् के उपदेश को सुना और कहा—मैं श्रमण-धर्म स्वीकार नहीं कर सकता, अतः श्रावकधर्म ग्रहण करना चाहता हूँ। सोमिल ने भगवान् महावीर से श्रावकधर्म ग्रहण किया और समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण करके स्वर्ग का अधिकारी बना।

कूणिक का भगवान् महावीर के समवसरण में धर्मश्रवण

औपपातिक सूत्र में महावीर के समवसरण का वर्णन है। प्रस्तुत कथानक का प्रारम्भ चम्पानगरी में हुआ है। चम्पा का विस्तृत वर्णन किया गया है। जो सभी आगमों के नगरों के वर्णन का मूल आधार रहा है। वास्तुकला की दृष्टि के यह वर्णन बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन युग में नगरों का निर्माण किस प्रकार होता था, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। नगर की शोभा गगनचुम्बी नव्य भव्य उच्च अट्टालिकाओं से ही नहीं होती बल्कि सघन वृक्षों की हरियाली से होती है। हरियाली लहलहाती है पानी की अधिकता से। इसलिए चम्पानगरी के साथ पूर्णभद्र चैत्य का भी उल्लेख किया गया है। वन-खण्ड में विविध प्रकार के वृक्ष थे, लताएँ थीं और नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पक्षियों का मधुर कलरव दर्शकों के दिल को लुभाता था। उन सभी वृक्षों में अशोक वृक्ष का स्थान अनूठा था। भारतीय साहित्य में अशोक वृक्ष का उल्लेख हजारों स्थलों पर हुआ है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं ने उसके सम्बन्ध में चिन्तन किया है। तीर्थंकर भी अशोक वृक्ष के नीचे विराजित होते हैं।[1]

---

१ देखिए—औपपातिक सूत्र प्रस्तावना, ले० देवेन्द्रमुनि, पृ. २०

चम्पा का अधिपति कूणिक सम्राट था। वह भगवान् महावीर का परम उपासक था। उसकी भक्ति का जीता जागता चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है। भगवान् महावीर का चम्पानगरी में शुभागमन होता है। उनका विराट समवसरण लगता है। सम्राट कूणिक भगवान् को वन्दन के लिए पहुँचता है और उसकी सुभद्रा आदि देवियाँ भी। भगवान धर्मोपदेश देते हैं। सम्राट कूणिक जैन था या बौद्ध? इस प्रश्न पर हमने अन्यत्र चिन्तन किया है, अतः विशेष जिज्ञासु वहाँ देखें।[1]

अम्बड परिव्राजक

भगवती सूत्र में अम्बड परिव्राजक के सम्बन्ध में संक्षेप में उल्लेख है।[2] औपपातिक में विस्तार से निरूपण है। अम्बड परिव्राजक नामक एक अन्य व्यक्ति का भी उल्लेख हुआ है[3] जो आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होगा। औपपातिक में आये हुए अम्बड महाविदेह में मुक्त होंगे।[4] इसलिए दोनों अलग-अलग व्यक्ति होने चाहिए। अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य थे। वे कम्पिलपुर नगर से पुरिमताल नगर के लिए प्रस्थित हुए। भयानक जंगल में साथ का जल समाप्त हो गया, किन्तु वहाँ कोई भी व्यक्ति जल देने वाला न होने से उन्होंने शान्त चित्त से भगवान् महावीर को और अपने धर्माचार्य अम्बड परिव्राजक को नमस्कार किया। महाव्रतों को ग्रहण कर संलेखना सहित आयु पूर्ण किया। अम्बड परिव्राजक को वीर्यलब्धि एवं वैक्रिय-लब्धि के साथ अवधिज्ञान-लब्धि भी प्राप्त थी। वह कम्पिलपुर के सौ घरों में आहार करता था। उसकी आचार-संहिता श्रमणाचार से मिलती-जुलती थी। यद्यपि कच्चे पानी आदि का उपयोग ऐसी बातें हैं, जो श्रमणाचार से मेल नहीं खातीं, इसीलिए अम्बड परिव्राजक को श्रमणोपासक माना है। उसने श्रावक व्रत ग्रहण किए थे। अम्बड की भगवान् महावीर के प्रति अनन्य आस्था थी। अन्त में मासिक संलेखना के साथ आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक में पैदा हुआ और वहाँ से च्युत होकर महाविदेह में दृढ़प्रतिज्ञ कुमार होगा। वहाँ से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

---

१ औपपातिक सूत्र प्रस्तावना, ले० देवेन्द्र मुनि शास्त्री पृ० २०-२४

२ भगवती सूत्र, शतक १४, उद्देशक ८

३ स्थानांग सूत्र ९ स्था., सूत्र ६९२. मुनि कमल संपादित

४ यश्चौपपातिकोपांगे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते।

—स्थानांगवृत्ति, पत्र ४३४

स्थानांग में जो अम्बड परिव्राजक है, उसने भगवान् महावीर का चम्पा नगरी में धर्मोपदेश श्रवण किया। वहाँ से वह राजगृही की ओर प्रस्थित होने लगा तब भगवान् के अम्बड से कहा—श्राविका सुलसा को कुशल समाचार कहना। अम्बड सोचने लगा—वह महान् पुण्यवती है, जिसे भगवान् स्वयं कुशल समाचार प्रेषित कर रहे हैं। सुलसा में ऐसा कौन सा गुण है ? मैं उसके सम्यक्त्व की परीक्षा लूँगा।

परिव्राजक के वेष में ही अम्बड सुलसा के वहां पहुँचा और बोला—आयुष्मती ! मुझे आहार-दान दो। तुम्हें धर्म होगा। सुलसा ने कहा—किसको देने में धर्म है, यह मैं अच्छी तरह से जानती हूँ। अम्बड आकाश में पद्मासन की मुद्रा में स्थित होकर जन-जन के मानस को विस्मित करने लगा। लोगों ने भोजन के लिए उसे निमन्त्रण दिया। उसने किसी का भी निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और कहा—मैं सुलसा के यहाँ पर ही भोजन ग्रहण करूँगा। लोग हर्ष से विभोर होकर बधाइयाँ देने के लिए पहुँचे। सुलसा ने कहा—मुझे पाखण्डियों से कुछ भी लेना-देना नहीं है। लोगों ने सुलसा की बात अम्बड से कह दी। अम्बड ने कहा—वह विशुद्ध सम्यग्दर्शन की धारिका है, उसके अन्तर्मानस में किंचित् मात्र भी व्यामोह नहीं है। वह स्वयं सुलसा के वहां पर गया, सुलसा ने उसका स्वागत किया उससे वह प्रतिबुद्ध हुआ। (औपपातिक सूत्र ३९-४०)

दीघनिकाय के अम्बडसुत्त में अम्बड नाम के एक पण्डित ब्राह्मण का वर्णन है। निशीथचूर्णि पीठिका में प्रसंग है—भगवान् महावीर अम्बड को धर्म में स्थिर करने के लिए राजगृह पधारे थे।[1]

मद्रुक श्रमणोपासक

भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशक ७ में मद्रुक श्रमणोपासक का वर्णन है। राजगृह के गुणशीलक उद्यान के सन्निकट कालोदायी, शैलोदायी आदि अन्यतीर्थी रहते थे। राजगृह में मद्रुक श्रमणोपासक था, जो जीवादि तत्वों का ज्ञाता था। भगवान् महावीर के आगमन को सुनकर वह उनको वन्दन करने के लिए जा रहा था। मार्ग में अन्यतीर्थिकों ने पूछा—तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर पंचास्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं, पर उसे कैसे माना जाय ?

---

१ निशीथचूर्णि पीठिका, पृष्ठ २०

मद्रुक—वस्तु के कार्य से उसका अस्तित्व जाना और देखा जा सकता है। बिना कार्य के कारण दिखाई नहीं देता।

अन्यतीर्थी—तू कैसा श्रमणोपासक है, जो पंचास्तिकाय को जानता, देखता नहीं; तथापि मानता है।

मद्रुक—पवन बहती है यह सत्य है न?

अन्यतीर्थी—हाँ, बहती है।

मद्रुक—बहती हुई पवन को तुम देखते हो?

अन्यतीर्थी—वह दिखाई नहीं देती।

मद्रुक—पवन में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों का अनुभव होता है न? उन सुगन्ध और दुर्गन्ध वाले पुद्गलों को क्या तुम देखते हो?

अन्यतीर्थी—नहीं देखते।

मद्रुक—अरणि की लकड़ी में अग्नि रही हुई है, क्या उसे देखते हो?

अन्यतीर्थी—नहीं।

मद्रुक—समुद्र के पार गाँव, नगर, जंगल आदि बहुत से पदार्थ हैं, क्या उन्हें तुम देखते हो?

अन्यतीर्थी—नहीं।

मद्रुक—देवलोकों में विविध प्रकार के पदार्थ हैं, क्या उन्हें तुम देखते हो?

अन्यतीर्थी—नहीं।

मद्रुक ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—जिन पदार्थों को तुम नहीं देखते हो, यदि उनका अस्तित्व नहीं माना जाय तो तुम्हारी दृष्टि से बहुत से पदार्थों का अभाव हो जायेगा। अतः तुम्हारा कथन युक्तियुक्त नहीं है। अन्यतीर्थी मद्रुक के तर्कों का उत्तर न दे सके, वे अपना नन्हा-सा मुँह किये चल दिये।

मद्रुक भगवान् के समवसरण में पहुँचा। भगवान् ने मद्रुक को सम्बोधित कर कहा—तुमने अन्यतीर्थिकों को उचित उत्तर दिया है। यह सुनकर श्रमणोपासक मद्रुक अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् ने कहा—यह श्रमणोपासक

रह करके ही जीवन के अन्त में संथारा कर अरुणाभ विमान में देव बनेगा।

प्रस्तुत कथानक में मद्र‍ुक श्रमणोपासक का गम्भीर ज्ञान उजागर हुआ है। श्रमणोपासक बनना ही पर्याप्त नहीं है, श्रमणोपासकों को तत्त्वों का परिज्ञान होना भी आवश्यक है, जिससे वे अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का परिहार कर सकें। अन्य श्रमणोपासक भी इस दृष्टि से आगे बढ़ें, उन्हें भी प्रेरणा प्राप्त हो; इसलिए भगवान् महावीर ने अपनी भरी सभा में मद्र‍ुक की प्रशंसा कर अन्य को प्रेरणा दी। आधुनिक युग के श्रमणोपासक भी मद्र‍ुक के जीवन से प्रेरणा लें और वे तत्त्वदर्शन का गहन अभ्यास कर जैन धर्म की प्रबल प्रभावना करें।

निह्नव कथाएँ

प्रवचन निह्नव

आगम साहित्य में श्रमणोपासकों की कथाएँ यत्र-तत्र विकीर्ण रूप में भी आती हैं और उपासकदशांग में दस प्रमुख श्रमणोपासकों की कथाएँ हैं। इन कथाओं में भी कथातत्व (घटनाक्रम) अधिक नहीं है, किन्तु उनकी अध्यात्मसाधना का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। साधना की अखण्ड सम्पन्नता ही इनकी प्रेरणा है।

जैन साहित्य में विशेषकर आगमोत्तरकालीन साहित्य में निन्हवों की कथा भी प्रसिद्ध हैं। स्थानांग सूत्र में प्रवचन निह्नव सात बताये हैं— १. जमालि २. तिष्यगुप्त ३. आषाढ़ ४. अश्वमित्र ५. गंग ६. रोहगुप्त और ७. गोष्ठामाहिल। इन सातों ने क्रमश: बहुरत, जीवप्रादेशिक, अव्यक्तिक, समुच्छेदिक, वैक्रिय, त्रैराशिक और अबद्धिक मत की संस्थापना की थी।

निह्नव कौन

सुदीर्घकालीन परम्परा में विचार-भेद होना अस्वाभाविक नहीं है। जैन परम्परा में भी इस प्रकार विचार-भेद के उल्लेख प्राप्त हैं। जिन श्रमणों ने जैन परम्परा का परित्याग कर अन्य धर्म को स्वीकार कर लिया, उन्हें निह्नव नहीं कहा है। निह्नव वे हैं, जिनका वर्तमान परम्परा के साथ मतभेद हुआ किन्तु उन्होंने किसी अन्य मत को स्वीकार नहीं किया। जैनशासन में रहकर ही किसी एक विषय का अपलाप करने वाले निह्नव की अभिधा से अभिहित किये गये हैं। सप्त निह्नवों में से दो निह्नव भगवान् महावीर को कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् हुए और शेष पांच भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् हुए।[1] निह्नवों का अस्तित्व काल

---

१. णाणुप्पत्तीय दुवे, उप्पण्णा णिव्वुए सेसा।

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७८४

श्रमण भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदहवें वर्ष से निर्वाण के पश्चात् पाँच सौ चौरासी वर्ष तक का है।[1]

जमालि निन्हव

भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई।[2] इस मत के संस्थापक जमालि थे। वे कुण्डपुर के रहने वाले थे। भगवान् महावीर की बड़ी बहन सुदर्शना उनकी माँ थीं और भगवान् महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के साथ जमालि का पाणिग्रहण हुआ था। जमालि ने पाँच सौ पुरुषों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की और उनकी पत्नी प्रियदर्शना भी हजार महिलाओं के साथ दीक्षित हुई। जमालि ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। विविध प्रकार की वे तपस्यायें करने लगे। एक बार पृथक विहार की उन्होंने भगवान् से अनुमति माँगी किन्तु प्रभु मौन रहे। वे अपने पाँच सौ निर्ग्रन्थों के साथ पृथक विहार करने लगे। विहार करते हुए वे श्रावस्ती पहुँचे। तिन्दुक उद्यान के कोष्ठक चैत्य में विराजे। तप से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था तथा पित्त ज्वर से शरीर जलने लगा। वे बैठने में असमर्थ हो गये। एक दिन तीव्रतम वेदना से पीड़ित होकर उन्होंने श्रमणों को आदेश दिया—बिछौना करो। पित्तज्वर की वेदना से एक-एक पल उन्हें बहुत ही भारी लग रहा था। उन्होंने पूछा—बिछौना कर लिया है अथवा किया जा रहा है?[3] श्रमणों ने कहा—बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है। यह सुनकर जमालि के मन में विचिकित्सा हुई—भगवान् महावीर क्रियमाण

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७८३, ७८४.

२. चउदसवासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्सा। तो बहुरयाणदिट्ठी सावत्थीए समुप्पन्ना। —आवश्यकभाष्य, गाथा १२५

३. आचार्य मलयगिरि ने घटनाक्रम और सिद्धान्त पक्ष का जो निरूपण किया है, वह भगवती के निरूपण से जरा पृथक है। उनकी दृष्टि से जमाली ने श्रमणों से पूछा—बिछौना किया या नहीं? श्रमणों ने कहा—कर लिया। जमालि ने उठकर देखा कि बिछौना अभी पूरा नहीं किया गया है, वह क्रुद्ध हो उठा। उसने चिन्तन किया—क्रियमाण को कृत कहना मिथ्या है। अर्द्ध-संस्तृत संस्तारक असंस्तृत ही है। उसे संस्तृत नहीं माना जा सकता।

—देखें, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४०२

को कृत कहते हैं, यह सिद्धान्त मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष निहार रहा हूँ—बिछौना किया जा रहा है, उसे कृत कैसे माना जाये ? तात्कालिक घटना के आधार पर उन्होंने निश्चय किया 'क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता'। जो कार्य सम्पन्न हो चुका है उसे ही कृत कहा जा सकता है। कार्य की निष्पत्ति अन्तिम क्षणों में होती है, प्रथम, द्वितीय प्रभृति क्षणों में नहीं। उन्होंने अपने शिष्य समुदाय को बुलाकर कहा—भगवान् महावीर जो चलायमान है उसे चलित, जो उदीर्यमान है, उसे उदीरित और जो निर्जीर्यमान है उसे निर्जीर्ण कहते हैं, पर मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि यह धारणा मिथ्या है। बिछौना क्रियमाण है किन्तु कृत नहीं, संस्तीर्यमाण है किन्तु संस्तृत नहीं है।

कितने ही निर्ग्रन्थ श्रमण जमालि के कथन से सहमत हुए तो कितने ही निर्ग्रन्थ श्रमणों को उनका कथन उचित नहीं लगा। स्थविर निर्ग्रन्थों ने जमालि को समझाने का भी उपक्रम किया, और जब देखा कि वे किसी भी स्थिति में अपनी मिथ्या धारणा को बदलने के लिए तैयार नहीं हैं तो वे जमालि को छोड़कर भगवान् महावीर की शरण में पहुँच गये।

महासती प्रियदर्शना श्रावस्ती में ही ढंक कुम्भकार के यहाँ ठहरी हुई थी। जब वह जमालि के दर्शनार्थ आई तो जमालि ने अपनी सारी बात उससे कही। अनुराग के कारण प्रियदर्शना को भी जमालि की बात सही प्रतीत हुई। उसने अन्य साध्वियों को भी जमालि का सिद्धान्त समझाया। प्रियदर्शना ने ढंक कुम्हार को भी जमालि के सिद्धान्त से परिचय कराया। ढंक ने कहा—जमालि वाला सिद्धान्त मुझे यथार्थ नहीं लगता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु महावीर की वाणी सत्य है।

एक बार प्रियदर्शना स्वाध्याय में रत थी। ढंक ने एक अंगारा उस पर फेंका, उसकी संघाटी [साड़ी] का एक कोना जल गया। साध्वी ने कहा—ढंक ! तुमने मेरी संघाटी क्यों जलाई ? उसने कहा—संघाटी कहाँ जली, वह तो जल रही है। ढंक ने क्रियमाण कृत का रहस्य समझाया। प्रियदर्शना को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। उसने जमालि को समझाने का प्रयत्न किया। जब जमालि न समझा तो वह हजार साध्वियों के साथ भगवान् महावीर के संघ में चली गई।

जमालि एक बार चम्पा नगरी गये, वहीं पर भगवान् महावीर भी

विराज रहे थे। वे भगवान् के सन्निकट पहुँचे और कहा—आपके अन्य शिष्य असर्वज्ञ दशा में ही आप से पृथक् हुए हैं, पर मैं सर्वज्ञ होकर आपसे अलग हुआ हूँ। प्रश्नोत्तर भी हुए किन्तु जमालि अपनी धारणा पर ही अडिग रहे। 'क्रियमाण कृत नहीं है,' इस सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। वे महावीर के संघ में सम्मिलित नहीं हुए।

बहुरतवादी द्रव्य की निष्पत्ति में दीर्घकाल की अपेक्षा स्वीकार करते हैं, किन्तु क्रियमाण को कृत नहीं मानते। कार्य निष्पन्न होने पर ही उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। (भगवती शतक ९, उ० ३३)

जीवप्रादेशिकवाद के संस्थापक : "तिष्यगुप्त"

भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात् ऋषभपुर में जीव प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई।[1] राजगृह का प्राचीन नाम ऋषभपुर था।[2] एक बार आचार्य वसु राजगृह आये। वे चौदह पूर्व के धारक थे। अपने शिष्य तिष्यगुप्त को आत्मप्रवाद पूर्व का अध्ययन करा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद था। गौतम ने कहा—भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं ! दो, तीन यावत् संख्यात प्रदेश को भी जीव नहीं कह सकते हैं। द्रव्य में से एक प्रदेश न्यून को भी जीव नहीं कहा जा सकता। जीव अखण्ड चेतन द्रव्य है।

तिष्यगुप्त का मन आशंकित हो उठा। उसने कहा—अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं है। अन्तिम प्रदेश ही जीव है। आचार्य वसु ने विविध दृष्टान्त देकर तिष्यगुप्त को समझाने का प्रयास किया, पर वह नहीं समझा। इसलिए उसे संघ से पृथक् कर दिया। तिष्यगुप्त अपने मत का प्रचार-प्रसार करने लगा। वह एक बार आलमकप्पा नगरी के अम्बसाल चैत्य में ठहरा हुआ था। उस नगरी में 'मित्रश्री' श्रमणोपासक था। वह उसका उपदेश सुनने के लिए पहुँचा। मित्रश्री को लगा—इसका उपदेश मिथ्या है। उसे समझाने की दृष्टि से एक दिन वह अपने घर पर भिक्षा के लिए ले गया और विविध प्रकार के खाद्य तिष्यगुप्त के सामने प्रस्तुत किये। प्रत्येक पदार्थ का एक-एक कण उसे देने लगा। तिष्यगुप्त

---

१ आवश्यकभाष्य, गाथा १२७।

२ आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका पत्र १४३, ऋषभपुरं राजगृहस्याख्या !

सोच रहा था—अन्य सामग्री यह मुझे बाद में देगा। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त के चरणों में नमस्कार करके कहा—मैं महान् सौभाग्यशाली हूँ आप जैसे गुरुजनों को पाकर! धन्य है मेरे भाग्य जो अपने असीम अनुकम्पा की। यह सुनते ही तिष्यगुप्त को क्रोध आ गया। उसने कहा—तुमने मेरा अपमान किया है। मित्रश्री ने निवेदन किया—मैं आपश्री का अपमान कैसे कर सकता हूँ? मैंने तो आपके सिद्धान्त के अनुसार ही आपश्री को भिक्षा प्रदान की है। आपश्री अन्तिम प्रदेश को ही वास्तविक मानते हैं, दूसरे प्रदेशों को नहीं, इसलिए मैंने प्रत्येक पदार्थ का अन्तिम भाग आपको दिया है।

तिष्यगुप्त को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। मित्रश्री ने अच्छी तरह से भिक्षा बहराई। तिष्यगुप्त पुनः भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित हो गया।[1]

जीव के असंख्य प्रदेश होते हैं। किन्तु जीवप्रादेशिकवाद के मतानुसार जीव के चरम प्रदेश को ही जीव माना जाता था, शेष प्रदेशों को नहीं।

अव्यक्तिकवाद के प्ररूपक : "आचार्य आषाढ़"

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी में 'अव्यक्तवाद' की उत्पत्ति हुई।[2] इस वाद के प्रवर्तक आचार्य आषाढ़ के शिष्य थे। एक बार श्वेताम्बिका नगरी के पोलास उद्यान में वे अपने शिष्यों को योगाभ्यास करा रहे थे। एकाएक आचार्य आषाढ़ को हृदयशूल उत्पन्न हुआ और वे उसी क्षण मर गये। सौधर्म कल्प में देव बने। अवधिज्ञान से अपने मृत कलेवर को और योग-साधना में लीन शिष्यों को देखा। योग-साधना में शिष्य इतने तल्लीन थे कि गुरु के मरने का भान भी उन्हें नहीं था। देव रूप आचार्य सोचने लगे—मेरे बिना शिष्यों को कौन वाचना देगा? अतः उन्होंने पुनः अपने मृत शरीर में प्रवेश किया। जब शिष्यों की योगसाधना का क्रम पूरा हो गया तो आचार्य

---

१ आवश्यक, मलयगिरीवृत्ति, पत्र ४०५-४०६.

२ चउदस दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
अव्वत्तगाण दिट्ठी, सेअविआए समुप्पन्ना॥
—आवश्यकभाष्य, गाथा १२६

आषाढ़ ने देव रूप में प्रकट होकर कहा—श्रमणो ! मुझे क्षमा करना। मैं असंयती था तथापि संयतियों से नमस्कार करवाया। मृत्यु की सारी घटना उन्होंने शिष्यों के सामने रख दी। श्रमणों को यह सन्देह हो गया कि कौन श्रमण है और देव है ? यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, इसलिए सभी अव्यक्त है। स्थविरों ने समझाने का प्रयास किया, पर वे नहीं समझे।

एक बार वे विहार करते हुए राजगृह आये। वहाँ पर मौर्यवंशीय राजा बलभद्र श्रमणोपासक था। उसने उन शिष्यों के सम्बन्ध में सुन रखा था। उन्हें प्रतिबोध देने के लिए अपने चार व्यक्तियों को कहा—उन श्रमणों को यहाँ पर बुलाकर लाओ। जब श्रमण वहाँ पहुँचे तो राजा ने कहा—इन्हें कोड़े लगाओ। राजा के आदेश से कोड़े लगाये। उन श्रमणों ने कहा—हम तो तुम्हें श्रावक समझकर आये थे, पर तुम तो हमें पिटवा रहे हो। राजा के कड़ककर कहा—तुम तस्कर हो या गुप्तचर हो या अन्य कुछ हो, यह कौन जानता है ? उन श्रमणों ने कहा—हम तो साधु हैं। राजा ने कहा—तुम साधु हो या चारक हो, यह निश्चयपूर्वक कौन कह सकता हैं ? मैं श्रावक हूँ या नहीं हूँ, यह भी निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है ?

श्रमणों को अपनी भूल का भान हुआ। उन्होंने अपने अज्ञान पर खेद जाहिर किया। राजा ने कहा—मैंने आपको प्रतिबोध देने हेतु ही यह उपक्रम किया था, अतः आप मुझे क्षमा करें। अव्यक्तवाद का यह अभिमत था कि सभी कुछ अनिश्चित है; अवक्तव्य है। निश्चयपूर्व कुछ भी नहीं कह सकते। यह पूर्ण स्पष्ट है कि अव्यक्तवाद के प्रवर्तक आचार्य आषाढ़ नहीं थे। आचार्य आषाढ़ का देव रूप इस वाद का निमित्त बना था, इसीलिए वे इस वाद के प्रवर्तक रूप में विश्रुत हुए। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि आचार्य आषाढ़ के शिष्यों ने अव्यक्तवाद का प्रचलन किया। जिस समय प्रस्तुत घटना या प्रस्तुत प्रसंग उट्टंकित किया गया, उस समय उन शिष्यों का नाम स्मरण न होने से सांकेतिक रूप में अभेदोपचार की दृष्टि से आचार्य आषाढ़ का नाम दिया गया। आचार्य अभयदेव का अभिमत है—आचार्य आषाढ़ अव्यक्त मत की संस्थापना करने वाले श्रमणों के आचार्य थे, इसीलिए वे अव्यक्तवाद के आचार्य के रूप में विश्रुत हुए।[1]

---

१ सोऽप्यव्यक्तमतधर्माचार्यो, न चायं तन्मतप्ररूपकत्वेन किन्तु प्रागवस्थायामिति।
—स्थानांगवृत्ति, पत्र ३९१

समुच्छेदवाद के प्ररूपक : ''आचार्य अश्वमित्र''

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ बीस वर्ष पश्चात् मिथिलापुरी में 'समुच्छेदवाद' की उत्पत्ति हुई।[1] इसके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे। एक बार मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह चैत्य में आचार्य महागिरि अवस्थित थे। उनके शिष्य का नाम कौडिन्य और प्रशिष्य का नाम अश्वमित्र था। दशवें अनुप्रवाद (विद्यानुप्रवाद) पूर्व के नैपुणिक वस्तु का अध्ययन चल रहा था। उसमें छिन्नछेद नय की दृष्टि से यह आलापक था कि प्रथम समय में समुत्पन्न सभी नारक विच्छिन्न हो जायेंगे। द्वितीय-तृतीय आदि समय में उत्पन्न नैरयिक भी विच्छिन्न हो जायेंगे। इसी तरह सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे। इस प्रकार पर्यायवाद के प्रकरण को श्रवण कर अश्वमित्र का मन शंकित हुआ। वह चिन्तन करने लगा—वर्तमान समय में समुत्पन्न सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे तो सुकृत और दुष्कृत कर्मों का वेदन कौन करेगा? उत्पन्न होने के पश्चात् सबकी मृत्यु हो जायेगी।

महागिरि ने कहा—वत्स! ऐसा नहीं है। यह जो कथन किया गया है, एक नय की अपेक्षा से है, सर्व नयों की अपेक्षा से नहीं। निर्ग्रन्थ प्रवचन सर्वनय सापेक्ष है, इसीलिए शंका करना उचित नहीं। वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, पर एक पर्याय के नष्ट होने पर वस्तु नष्ट नहीं होती। आचार्य के समझाने पर भी जब वह नहीं समझा तो उन्होंने उसे संघ से पृथक् कर दिया।

एक बार अश्वमित्र कम्पिलपुर पहुँचा। वहाँ पर 'खण्डरक्षा' नाम श्रावक चुंगी अधिकारी था। उसे अश्वमित्र की विचार-धारा का परिज्ञान था, अतः उसने उसे पकड़ा और पिटाई की। अश्वमित्र ने कहा—मैंने सुना था कि तुम श्रावक हो। श्रावक होकर तुम साधुओं को पीटते हो, क्या यह उचित है?

श्रावक—आपके अभिमतानुसार वे श्रावक भी विच्छिन्न हो गए और जो प्रव्रजित श्रमण हैं वे भी विच्छिन्न हो गये। न हम श्रावक रहे और न आप साधु! लगता है आप चोर हैं।

अश्वमित्र समझ गया, उसे अपनी भूल का परिज्ञान हो गया। वह प्रतिबुद्ध होकर पुनः भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गया।

---

१ आवश्यकभाष्य, गाथा १३१

समुच्छेदवादी प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश मानते थे। वे एकान्त समुच्छेद का निरूपण करने के कारण निन्हव कहलाये।[1]

द्विक्रियावाद के प्रवर्तक : "आचार्य गंग"

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात् उल्लुकातीर नगर में 'द्विक्रियावाद' की उत्पत्ति हुई।[2] इसके प्रवर्तक आचार्य गंग थे। उल्लूका नदी के एक तट पर खेड़ा बसा हुआ था तो दूसरे तट पर उल्लुकातीर नामक नगर था। वहाँ पर आर्य महागिरि के शिष्य आर्य धनगुप्त थे। उनके शिष्य का नाम गंग था, जो खेड़े में ठहरा हुआ था, वह आचार्य को वन्दन करने के लिए चला। मार्ग में उल्लूका नदी थी, पैरों में पानी की ठण्डक का अनुभव हो रहा था तो सिर चिलचिलाती धूप से गरम हो रहा था। वह सोचने लगा—आगमों में वर्णन है—एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, दो क्रियाओं का नहीं। किन्तु मुझे दोनों क्रियाओं का साथ में वेदन हो रहा है। वह आचार्य देव के पास पहुंचा और अपनी बात कही। आचार्य ने कहा—वत्स! एक समय में एक क्रिया का वेदन होता है। मन का क्रम बहुत ही सूक्ष्म है। इसीलिए हमें उसकी पृथकता का अनुभव नहीं होता। विविध प्रकार से समझाने पर भी गंग नहीं माना तो आचार्य ने उसे संघ से पृथक् कर दिया। आचार्य गंग विचरण करता हुआ राजगृह पहुँचा। राजगृह में 'महातपतीरप्रभ' नामक एक झरना था। वहाँ 'मणिनाग' नामक नाग का चैत्य था। आचार्य गंग वहीं पर ठहरे। धर्मश्रवणार्थं परिषद् उपस्थित हुई। आचार्य ने द्विक्रियावाद का अपने प्रवचन में समर्थन किया। मणिनाग ने गंग को समझाने के लिए कोई तर्क नहीं दिया। इसलिए वह पूर्वकथित अव्यक्तवाद समुच्छेदवाद आदि के समान द्विक्रियावाद को किसी प्रबल तर्क द्वारा परास्त नहीं कर पाया। तब मणिनाग ने परिषद् को सम्बोधित करके कहा—यह कुशिष्य है क्योंकि यहाँ पर एक बार भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है। तो क्या वह प्रभु महावीर से अधिक ज्ञानी है? तू अपनी विपरीत प्ररूपणा परित्याग कर! तभी तेरा कल्याण होगा। मणिनाग की बात को सुनकर गंग घबराया। अपने गुरु के

---

१ आवश्यक, मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४०८, ४०९।

२ आवश्यकभाष्य, गाथा १३३।

सन्निकट आकर प्रायश्चित्त लिया तथा वे भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।[1]

द्विक्रियावादी एक ही समय में दो क्रियाओं का अनुवेदन मानते थे।

त्रैराशिकवाद के प्रवर्तक : "आचार्य रोहगुप्त"

श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पाँच सौ चोमालिस वर्ष बाद अन्तरंजिका नगरी में 'त्रैराशिक' मत का प्रवर्तन हुआ।[2] इसके प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त थे जिनका अपर नाम 'षडूलुक' भी था। अन्तरञ्जिका नगरी का राजा 'बलश्री' था। भूतगृह नामक चैत्य था। आचार्य श्रीगुप्त वहाँ पर ठहरे हुए थे। रोहगुप्त उनका संसारपक्षीय भाणेज था। वह एक बार आचार्य को वन्दन करने के लिए जा रहा था। उसे एक परिव्राजक मिला, जिसका नाम 'पोट्टशाल' था। उसने अपना पेट बाँध रखा था और उसके हाथ में जम्बूवृक्ष की टहनी थी। उसने कहा—कहीं ज्ञान से पेट न फट जाय, इसीलिए मैंने इसे बाँध रखा है। जम्बूद्वीप में मेरा कोई भी प्रतिवाद करने वाला नहीं है। अतः जम्बूवृक्ष की शाखा हाथ में घुमा रहा हूँ। सभी धार्मिकों को मैं चुनौती देता हूँ कि वे मुझे पराजित करें पर आज दिन तक किसी ने भी मेरी चुनौती को स्वीकार नहीं किया है। रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया और आचार्य के पास पहुँचा। आचार्य से निवेदन किया—मैंने पोट्टशाल की चुनौती को स्वीकार किया है। आचार्य ने कहा—वत्स! तेने बिना सोचे-समझे ही यह स्वीकृति दी है क्योंकि पोट्टशाल परिव्राजक वृश्चिक विद्या, सर्पविद्या, मूषकविद्या, मृगीविद्या, वराहीविद्या, कागविद्या, पोताकीविद्या इन सात विद्याओं में पारंगत है। इसीलिए वह तेरे से अधिक बलवान है।

रोहगुप्त भय से कांप उठा—भगवन्! अब मैं क्या करूँ? क्या यहाँ से अन्यत्र भागकर चला जाऊँ?

---

१ (क) आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति पत्र ४०६, ४१०।
(ख) मणिनागेणारद्धो भयोववत्ति पडिबोहितोवोत्तुं।
इच्छामो गुरुमूलं गंतूण ततो पडिक्कंतो॥
—विशेष आवश्यकभाष्य, गाथा २४५०।

२ पंच सया चोयाला तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स। पुरिमंतरंजियाए तेरासिय-दिट्ठि उप्पन्ना।
—आवश्यकभाष्य, गाथा १३५.

आचार्य ने कहा—अब भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। मैं तुझे इन सातों विद्याओं की प्रतिपक्षी विद्या बता देता हूँ। रोहगुप्त को मायूरी, नाकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, अलूकी और उलावकी ये सात विद्यायें सिखाईं। साथ ही रजोहरण को अभिमन्त्रित कर कहा—तू इन सात विद्याओं से उसको पराजित कर सकेगा। यदि इन विद्याओं के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या की आवश्यकता हो तो रजोहरण को घुमाना, जिससे कोई भी शक्ति तुझे पराजित नहीं कर सके।

गुरुदेव के आशीर्वाद को लेकर रोहगुप्त राज-सभा में पहुँचा। पोट्टशाल भी उधर से आया। पोट्टशाल ने अपने पक्ष की संस्थापना करते हुए कहा—राशि दो हैं—जीव राशि और अजीव राशि। रोहगुप्त ने कहा—राशि तीन हैं—जीव, अजीव और नोजीव। घट-पट आदि अजीव हैं, मनुष्य, तिर्यंच, नारक आदि जीव हैं, छिपकली की कटी हुई पूँछ नोजीव है।

पोट्टशाल को विविध युक्तियों से उसने पराजित कर दिया।

रोहगुप्त से पराजित होकर पोट्टशाल अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, उसने विद्याओं का प्रयोग किया। प्रतिपक्षी विद्याओं से उनकी सारी विद्याएँ विफल हो गईं। अन्त में परिव्राजक ने गर्दभीविद्या का प्रयोग किया। रोहगुप्त ने आचार्य द्वारा दिये गये अभिमंत्रित रजोहरण से उस विद्या को भी निष्फल कर दिया। सभी सभासदों ने पोट्टशाल परिव्राजक को पराजित घोषित कर दिया।

विजय प्राप्त कर रोहगुप्त आचार्य के पास आया और सम्पूर्ण वृत्त से उन्हें परिचित किया। आचार्य ने उपालम्भ देते हुए कहा—तेने असत्य प्ररूपणा की है। राशि तीन नहीं, दो ही हैं। अभी भी समय है। राजसभा में जाकर अपनी भूल स्वीकार करो। पर रोहगुप्त अपनी भूल स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसे तो अपनी प्रज्ञा पर अहंकार था। आचार्य ने विविध रूपकों के द्वारा उसे समझाया, पर जब वह बिल्कुल ही अपनी मिथ्या बात को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ तो आचार्य को लगा—यह स्वयं तो भ्रष्ट हुआ ही है, दूसरों को भी भ्रष्ट करेगा। इस लिए राज-सभा में जाकर मैं इसका निग्रह करूँ। आचार्य राजसभा में पहुँचे और राजा बलश्री से कहा—मेरे शिष्य रोहगुप्त ने विपरीत तथ्य की स्थापना की है। हम जैनी दो ही राशि मानते हैं। पर वह अहंकार से

ग्रसित होकर इस सत्य को स्वीकार नहीं कर रहा है। आप उसे राजसभा में बुलायें। मैं उससे चर्चा करूंगा। राजा ने रोहगुप्त को राज-सभा में बुलाया। छह महीने तक चर्चा चलती रही। राजा बलश्री भी परेशान हो गया। उसने आचार्य देव से निवेदन किया—भगवन्! इस चर्चा के कारण राजकार्य में बाधा आ रही है। आचार्य ने कहा—मैं आज ही इसका निग्रह करूंगा। वाद प्रारम्भ हुआ आचार्य ने कहा—यदि तीन राशि वाली बात सही है तो हम कुत्रिकापण चलें। राजा आदि सभी को लेकर आचार्य कुत्रिकापण पहुँचे। वहाँ अधिकारी देव से कहा—हमें जीव, अजीव और नोजीव के पदार्थ प्रदान करो। उस देव ने जीव, अजीव के पदार्थ लाकर दिये और कहा—नोजीव का पदार्थ इस विश्व में नहीं है। राजा को आचार्य के कथन की सत्यता प्रतीत हुई। आचार्य देव ने एक सौ चौमालीस प्रश्नों के द्वारा रोहगुप्त को निग्रह कर पराजित किया।[1]

राजा बलश्री ने आचार्य का अत्यधिक सम्मान किया। रोहगुप्त का तिरस्कार हुआ। राजा ने आदेश दिया—मेरे राज्य से चला जा। आचार्य ने उसे संघ से पृथक् कर दिया। रोहगुप्त अपने मत का प्ररूपण करता रहा। उसके अनेक शिष्यों ने उसके तत्त्व का प्रचार किया जिससे "त्रैराशिक" मत प्रचलित हुआ।

---

१. आवश्यक निर्युक्तिदीपिका में १४४ प्रश्नों का विवरण इस प्रकार प्राप्त है—वैशेषिक षट्पदार्थ का निरूपण करते हैं—१. द्रव्य २. गुण ३. कर्म ४. सामान्य ५. विशेष ६. समवाय।
द्रव्य के नौ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा।
गुण के सतरह भेद हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।
कर्म के पांच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रसारण, आकुञ्चन और गमन।
सत्ता के पांच भेद हैं—सत्ता, सामान्य, सामान्य विशेष, विशेष और समवाय।
इन भेदों का योग [९+१७+५+५]=३६ होता है। इनको पृथ्वी, अपृथ्वी, नो पृथ्वी, नो अपृथ्वी—इन विकल्पों से गुणित करने पर ३६×४=१४४ भेद प्राप्त होते हैं।
आचार्य ने इसी प्रकार के १४४ प्रश्नों के द्वारा रोहगुप्त को निरुत्तर कर उसका निग्रह किया। —आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका पत्र १४५, १४६.

अबद्धिकवाद के प्रवर्तक : "आचार्य गोष्ठामाहिल"

श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल ने "अबद्धिक मत" की संस्थापना की।[1]

दशपुर नगर में आर्यरक्षित ब्राह्मण पुत्र था। वह अनेक विद्याओं में पारंगत होकर घर लौटा। माता के द्वारा प्रेरित होकर वे आचार्य तोसलीपुत्र के पास दीक्षा ग्रहण कर दृष्टिवाद का अध्ययन करते हैं। उसके पश्चात् आर्य वज्र से नौ पूर्वों का अध्ययन कर दशवें पूर्व के चौबीस यविक ग्रहण किये। दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल—ये आर्यरक्षित के तीन प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र एक बार अर्थ की वाचना प्रदान कर रहे थे। विंध्य उनकी वाचना के पश्चात् उस पर चिंतन एवं पुनरावृत्ति कर रहा था। विषय था– जीव के साथ कर्मों का बंध तीन प्रकार से होता है—१. स्पृष्ट—कितने ही कर्म जीव प्रदेशों के साथ स्पर्श करते हैं और स्थिति का परिपाक होने पर वे उनसे अलग हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में—दीवाल पर फेंकी गई धूल दीवाल का स्पर्श कर नीचे गिर जाती है। २. स्पृष्टबद्ध—कितने ही कर्म जीव प्रदेशों का स्पर्श कर बद्ध होते हैं और वे कुछ समय के पश्चात् पृथक् हो जाते हैं। दीवाल पर गीली मिट्टी फेंकने पर कितनी ही मिट्टी चिपक जाती है और कितनी ही नीचे गिर पड़ती है। ३. स्पृष्टबद्ध निकाचित—कितने ही कर्म जीव प्रदेशों के साथ गाढ़ रूप से बँध जाते हैं। वे कालान्तर में पृथक हो जाते हैं।[2]

इस विवेचन को सुनकर गोष्ठामाहिल के मन में यह विचार पैदा हुआ—यदि कर्म को जीव के साथ बद्ध माना जायेगा तो मोक्ष का अभाव हो जायेगा। कर्म जीव के साथ स्पृष्ट होते हैं, बद्ध नहीं, वे कालान्तर में वियुक्त हो जाते हैं। जो वियुक्त होता है, वह एकात्मक रूप से बद्ध नहीं हो सकता। विंध्य ने गोष्ठामाहिल से कहा—जैसा आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने मुझे बताया है वैसा ही मैं कह रहा हूँ, पर उसे समझ में नहीं आया।

नौवें पूर्व में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में वाचना चल रही थी। गोष्ठा-

---

१ आवश्यकभाष्य, गाथा १४१.

२ आवश्यक, मलयगिरिवृत्ति पत्र ४१६ में इनके स्थान पर बद्ध, बद्धस्पृष्ट, और बद्धस्पृष्ट निकाचित—ये शब्द दिये गये हैं।

माहिल ने सोचा—अपरिमाण प्रत्याख्यान अच्छा है। परिमाण प्रत्याख्यान में वाञ्छा दोष उत्पन्न होता है। एक व्यक्ति परिमाण प्रत्याख्यान की दृष्टि से पौरुषी, उपवास, आदि विविध प्रकार के तप करता है किन्तु ज्योंही कालमान पूर्ण होता है, उसमें आहार की इच्छा तीव्र हो जाती है। इसलिए वह दोषयुक्त है। गोष्ठामाहिल ने अपने विचार विंध्य को कहे। विंध्य ने उधर ध्यान नहीं दिया तब दुर्बलिका पुष्यमित्र से उसने कहा। दुर्बलिका पुष्यमित्र ने समाधान करते हुए कहा—अपरिमित प्रत्याख्यान का सिद्धान्त अनुचित है। अपरिमाग का अर्थ यावत् शक्ति है या भविष्यतकाल है? यदि तुम यावत् शक्ति अर्थ ग्रहण करते हो तो हमारे मत को स्वीकार करना है। यदि द्वितीय अर्थ स्वीकार करते हो तो व्यक्ति मरकर देवरूप में उत्पन्न होता है। उसमें सभी व्रतों के भंग का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसीलिए अपरिमित प्रत्याख्यान का सिद्धान्त ठीक नहीं है। आचार्य ने गोष्ठामाहिल को विविध प्रकार से समझाया, पर वह अपने आग्रह पर दृढ़ रहा। उसने विभिन्न स्थविरों से यह पूछा, स्थविरों ने भी गोष्ठामाहिल को जिनेश्वर देव की आशातना न करने का संकेत किया। पर गोष्ठामाहिल अपने मत से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुआ। स्थविरों ने संघ को एकत्रित किया और शासनदेव से कहा-सीमन्धर स्वामी से जाकर पूछो—गोष्ठामाहिल का कथन सत्य है अथवा दुर्बलिका पुष्यमित्र का? देव ने तीर्थंकर से पूछा—किसका कथन सत्य है? भगवान् ने कहा—दुर्बलिका पुष्यमित्र का। गोष्ठामाहिल ने देव के कथन की उपेक्षा की। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने पुनः विचार करने के लिए कहा, पर वह तैयार नहीं हुआ। तब उसे संघ से पृथक् कर दिया।[1]

अबद्धिक मतवादियों का मन्तव्य था—कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं पर वे आत्मा के साथ एकीभूत नहीं होते।

सप्त निह्नवों में जमालि, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल ये तीन अन्त समय तक अलग रहे और शेष चार निह्नव पुनः जैनशासन में सम्मिलित हो गये। स्थानांग सूत्र में सप्त निह्नवों के नाम आदि का निर्देश है, पर वहाँ अन्य इतिवृत्त के सम्बन्ध में सूचन नहीं है। जमालि निह्नव का निरूपण भगवती सूत्र, शतक-९ और उद्देशक-३३ में विस्तार से आया है। पर अन्य निह्नवों के सम्बन्ध में मूल आगम साहित्य में वर्णन नहीं है।

---

१ आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ४१५-४१८

आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति में अन्य निह्नवों का निरूपण है। हमने प्रबुद्ध पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ पर उनकी चर्चा की है।

आजीवक तीर्थंकर : गौशालक

श्रमण भगवान् महावीर के जीवन में गौशालक एक प्रमुख चर्चास्पद व्यक्ति रहा है। भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में उसके जीवन की गाथायें दी गई हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति और मलयगिरिवृत्ति, महावीर चरियं में उसके जीवन के अनेक प्रसंग हैं। वह प्रारम्भ में भगवान् महावीर का शिष्य बना और बाद में प्रतिस्पर्धी और विद्रोही बना। आजीवक मत का आचार्य बनकर स्वयं को तीर्थंकर भी उसने घोषित किया।

गौशालक के नाम और व्यवसाय के सम्बन्ध में विभिन्न व्याख्याएँ हैं। भगवती, उपासकदशांग आदि आगम-साहित्य में 'गोसाले मंखलिपुत्ते' इस शब्द का प्रयोग हुआ है। गौशालक मंख कर्म करने वाला 'मंखलि' नामक व्यक्ति का पुत्र था। 'मंख' शब्द का अर्थ कहीं पर 'चित्रकार' और कहीं पर 'चित्रविक्रेता' किया है। नवांगी टीकाकर आचार्य अभयदेव ने लिखा है—'चित्रफलकं हस्तेगतं यस्य स तथा'—जो चित्रपट्टक हाथ में रखकर अपनी आजीविका चलाता है। हमारी अपनी दृष्टि से प्रस्तुत अर्थ विशेष संगत है। 'मंख' एक जाति विशेष थी। उस जाति के लोग शिव, ब्रह्मा या अन्य किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रखकर अपनी आजीविका चलाते थे। जिस प्रकार आज भी दाकोत जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र रखकर अपनी आजीविका चलाते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी 'मक्खली गोशाल' को आजीवक नेता कहा है। इस सम्बन्ध में एक कथा है—गौशालक एक दास था। वह स्वामी के आगे तेल का घड़ा लेकर चल रहा था। कुछ दूर जाने पर ढलाऊ चिकनी भूमि आई। मक्खली के स्वामी ने कहा—"तात! मा खलि, तात! मा खलि"—अरे स्खलित मत होना, अरे स्खलित मत होना! किन्तु गौशालक का पैर फिसल गया और तेल भूमि पर गिर पड़ा। मक्खली स्वामी के भय से भागने लगा, पर स्वामी ने भागते हुए का वस्त्र पकड़ लिया। वह वस्त्र छोड़कर नंगा ही भाग गया। इस प्रकार वह नग्न हो गया और लोग उसे 'मंखलि' कहने लगे।[1]

---

१ (क) धम्मपद, अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष १/१४३
(ख) मज्झिम निकाय—अट्ठकथा १/४२२

प्रस्तुत कथा बौद्ध परम्परा में उत्तरकालीन साहित्य में आई है, इसलिए विज्ञों ने उसका अधिक महत्व नहीं माना है।[1]

पाणिनी ने इसे 'मस्करी' शब्द माना है। 'मस्करी' शब्द का सामान्य अर्थ—परिव्राजक किया है।[2] भाष्यकार पतंजलि ने लिखा है—'मस्करी' वह साधु नहीं है जो हाथ में मस्कर या बाँस की लाठी लेकर चलता है तथापि वह क्या है ? मस्करी वह है—जो उपदेश देता है, कर्म मत करो ! शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।[3] पाणिनी और पतंजलि ने गोशाल के नाम का निर्देश नहीं किया है, किन्तु उनका लक्ष्य वही है। 'कर्म मत करो'—यह व्याख्या उस समय प्रचलित हुई जब गोशालक एक धर्माचार्य के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। जैन आगम व आगमेतर साहित्य में गोशालक को मंखलि का पुत्र तो माना ही है साथ ही उसे गोशाला में उत्पन्न भी माना है। जिसकी पुष्टि पाणिनी 'गोशालाया जात गोशालः।' (४/३/३५) की व्युत्पत्ति इस व्युत्पत्ति-नियम से करते हैं। आचार्य बुद्धघोष ने सामञ्ञफलसुत्त की टीका में गोशालक का जन्म 'गोशाला' में हुआ, ऐसा माना है।[4]

आधुनिक शोधकर्त्ताओं ने गोशालक और आजीवक मत के सम्बन्ध में नवीन स्थापना करने का प्रयास किया है। पर परिताप है नवीन स्थापना करते समय इतिहास और परम्परा की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। जिससे उनकी स्थापना सही स्थापना न होकर मिथ्या स्थापना हो गई। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार गोशालक के गुरु श्रमण भगवान् महावीर थे।[5] दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से गोशालक भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का एक श्रमण था। वह भगवान महावीर की परम्परा में आकर गणधर

---

१ आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृ० ४१

२ मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।

—पाणिनी व्याकरण ६/१/१५४

३ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः किं तर्हि। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।

—पातञ्जल महाभाष्य ६/१/१५४

४ सुमंगल विलासिनी (दीघनिकाय अट्ठकथा) पृ० १४३-४४

५ भगवती १५वाँ शतक

बनना चाहता था, किन्तु जब उसे गणधर पद नहीं मिला तो वह पृथक् हो कर श्रावस्ती में आया और अपने आपको 'तीर्थंकर' कहने लगा।[1]

डा० वेणीमाधव बरुवा ने लिखा है—यह तो कहा ही जा सकता है कि जैन और बौद्ध परम्परा में मिलने वाली जानकारी से यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि जैसे—जैन गोशालक को महावीर के दो ढोंगी शिष्यों में से एक शिष्य बताते हैं। प्रत्युत उन जानकारियों से विपरीत यह प्रमाणित होता है—उन दोनों में एक दूसरे का कोई ऋणी है तो वस्तुतः गुरु ही ऋणी है न कि जैनियों के द्वारा माना गया उनका ढोंगी शिष्य।[2] डा० बरुवा आगे लिखते हैं—भगवान महावीर पहले पार्श्वनाथ की परम्परा में थे, किन्तु एक वर्ष के पश्चात् जब वे अचेलक हुए तब आजीवक पन्थ में चले गये।[3] गोशालक भगवान् महावीर से दो वर्ष पूर्व जिन पद प्राप्त कर चुके थे।[4] डा०बरुवा यह स्वीकार करते हैं कि ये सभी कल्पना के ही महान प्रयोग कहे जा सकते हैं तथापि इन कल्पनाओं ने गोपालदास जीवाभाई पटेल[5], धर्मानन्द कौशाम्बी आदि को भी प्रभावित किया। इस मान्यता के मूल सर्जक डा० हरमन जैकोबी रहे हैं।[6] उसी का अनुसरण करते हुए डा. बाशम ने अपने महानिबन्ध 'आजीविकों का इतिहास और सिद्धान्त' में विस्तार से प्रकाश डाला है। इस मूल मनोवृत्ति का आधार—किसी भी पाश्चात्य विचारक ने जो कुछ भी लिख दिया है वही सही है, यह भ्रान्त धारणा है। जो भी मूर्धन्य मनीषी गोशालक के सम्बन्ध में लिखते हैं, उन का मूल आधार जन और बौद्ध ग्रन्थ ही हैं। उनमें से कितनी ही बातों को सही और कितनी ही बातों को गलत मानना, यह ऐतिहासिक दृष्टि नहीं हो सकती। जो तथ्य जैन साहित्य में दिये गये हैं उन तथ्यों को बौद्ध

---

१ मसयरि पूरणारिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवसरणे अगहियझुणिया नियत्तेण॥
—भावसंग्रह गा. १७६

२ The Ajivikas, J. D. L. Vol. II, 1920, PP. 17-18

३ The Ajivikas, J. D. L. Vol. II, 1920, P. 18.

४ The Ajivikas, J. D. L. Vol. II, 1920, P. 21.

५ महावीर स्वामीनो संयमधर्म [सूत्रकृतांग का गुजराती अनुवाद, पृष्ठ २४।]

६ S. B. E. Vol. XLV, Introduction, pp. XXIX To XXXII.

परम्परा के ग्रन्थों ने भी मान्य किया है। जहाँ पर उन्होंने आजीवक मत की आलोचना की वहाँ उसकी प्रशंसा के अन्दर उसे बारहवें देवलोक और मोक्षगामी कहा है। जो यह मानते हैं कि गोशालक महावीर का गुरु था, यह बिल्कुल ही निराधार और कपोल कल्पित बात है। गोशालक ने स्वयं यह स्वीकार किया—"गोशालक तुम्हारा शिष्य था, पर मैं यह नहीं हूँ। मैंने गोशालक के शरीर में प्रवेश किया है यह शरीर उस गोशालक का है, पर आत्मा भिन्न है।" इस प्रकार विरोधी प्रमाणों के अभाव में विद्वानों ने जो अर्थशून्य कल्पनाएँ की हैं, वे भ्रम में डालने वाली हैं। आधुनिक विद्वान इस सम्बन्ध में जागरूक हो रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है।

एक बार गणधर गौतम भिक्षा के लिए श्रावस्ती में गये। उन्होंने नगरी में जन-प्रवाद सुना—श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विचर रहे हैं—एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे गोशालक। वे भगवान् के चरणों में पहुँचे और इस विषय में सत्य तथ्य जानना चाहा। भगवान् ने गोशालक का पूर्व परिचय दिया—इसके पिता का नाम 'मंखलि' था। माता का नाम 'भद्रा' था। चित्रपट्ट बनाकर आजीविका चलाता था। वह 'गोबहुल' ब्राह्मण की गोशाला ठहरा हुआ था, वहाँ इसका जन्म हुआ। गोशाला में जन्म होने से इसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मेरा द्वितीय वर्षावास राजगृह के तन्तुवायशाला में था। वहीं पर गोशालक भी दूसरा स्थान न मिलने से आकर ठहरा। मैं मासखमण के पारणे के लिए राजगृह के 'विजय गाथापति' के यहाँ पहुँचा। उसने उत्कृष्ट भावना से दान दिया। जिससे पाँच दिव्य प्रकट हुए—वसुधारा की वृष्टि, पाँच वर्ण के पुष्पों की वृष्टि, ध्वजा और वस्त्र की वृष्टि, देव दुन्दुभि और आकाश में 'अहोदानं-अहोदानं' की दिव्य ध्वनि। जन-मानस से यह बात सुनकर गोशालक वहाँ पहुँचा और वसुधारा आदि देखकर प्रभावित हुआ। मेरे को नमस्कार कर 'मैं धर्म शिष्य हूँ और आप मेरे धर्माचार्य हैं' इस प्रकार बोला। मैंने दूसरे मासखमण का पारणा 'आनन्द' गाथापति के वहाँ किया और तीसरे मास-खमण का पारणा 'सुनन्द' गाथापति के वहाँ किया। चतुर्थ मासखमण का पारणा कोल्लाक सन्निवेश में 'बहुल' ब्राह्मण के यहाँ हुआ। गोशालक ने मुझे तन्तुवायशाला में न देखा तो मेरी अन्वेषणा करता हुआ कोल्लाक सन्निवेश में आया। मैं उस समय मनोज्ञ भूमि में ध्यानस्थ था। गोशालक ने मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की और 'मैं आपका शिष्य हूँ' इस प्रकार बोला। टीकाकार आचार्य अभयदेव ने 'अभ्युपगच्छामि' का अर्थ 'मैंने

गौशालक को शिष्यत्व रूप में स्वीकार किया'—ऐसा किया है।[1] अब वह मेरे साथ ही रहने लगा। एक बार मैं सिद्धार्थ ग्राम से कूर्मग्राम जा रहा था। रास्ते में एक तिल का पौधा था। उसने मेरे से पूछा—तिल का पौधा निष्पन्न होगा या नहीं? मैंने कहा—'होगा। ये सात तिल पुष्प के जीव इसी पौधे की एक फली में सात तिल रूप में उत्पन्न होंगे।' मेरी बात पर विश्वास न होने से पीछे रुककर उस पौधे को मिट्टी सहित उखाड़कर एक ओर फेंक दिया। उसी समय वर्षा हुई और वह पौधा जमीन में स्थिर हो गया। मेरे कथनानुसार वह पौधा पुनः सात तिलों के रूप में उत्पन्न हुआ।

एक बार गौशालक मेरे साथ कूर्मग्राम नगर आया। कूर्मग्राम के बाहर 'वैश्यायन' नामक बालतपस्वी छट्ठ-छट्ठ तप कर रहा था। दोनों हाथ ऊँचे रखकर सूर्य के सन्मुख खड़े होकर आतापना ले रहा था। उसके सिर से गर्मी के कारण जूँए नीचे गिर रही थीं और वह पुनः उठा-उठाकर उन्हें सिर में रख रहा था। गौशालक ने पीछे रहकर उससे कहा—तुम तत्त्वज्ञ मुनि हो या जुँओं के शय्यातर हो? तीन बार कहने पर वैश्यायन कुपित हुआ और तेजो समुद्घात कर तेजोलेश्या बाहर निकाली तथा गौशालक पर प्रक्षिप्त की। गौशालक पर अनुकम्पा कर मैंने तेजोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिए शीतललेश्या निकाली। वैश्यायन ने कहा—हे भगवन्! मैंने जाना यह आपका शिष्य है। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि यह आपका शिष्य है तो मैं यह नहीं करता। गौशालक तेजोलेश्या को देखकर प्रभावित हुआ।

गौशालक ने मेरे से पूछा—संक्षिप्त विपुल तेजोलेश्या कैसे प्राप्त होती है? मैंने कहा—'नख सहित बन्द की गई मुट्ठी में जितने उड़द के बाकुले आवें उतने मात्र से तथा चुल्लु भर पानी से छट्ठ-छट्ठ की तपस्या के साथ दोनों हाथ ऊँचे रखकर आतापना लेने वाले पुरुष को छह माह के पश्चात् तेजोलेश्या प्राप्त होती है।

एक बार वह मेरे साथ पुनः कूर्मग्राम से सिद्धार्थ ग्राम की ओर जा रहा था, तब उसने कहा—आपने 'तिल पुष्प के जीव सात तिल के रूप में उत्पन्न होंगे'—यह कहा था सो वह बात मिथ्या हो गई। मैंने पौधे की ओर संकेत किया। उसे मेरी बात पर विश्वास नहीं था। अतः तिल-फली

---

१ भगवती सूत्र—पं० श्री घेवरचन्दजी बाँठिया "वीरपुत्र"
—अ. भा. सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ—सैलाना, शतक १५वाँ, पृ० २३८७.

को तोड़कर सात तिल बाहर निकाले और उसे यह विश्वास हुआ कि 'सभी जीव मर कर पुनः उसी योनि में पैदा होते हैं।' गोशालक मेरे से अलग हुआ और उसने तेजोलेश्या की साधना की। इसीलिए गोशालक जिन नहीं किन्तु जिन-प्रलापी है। यह बात श्रावस्ती में प्रसारित हो गई। मंखलिपुत्र गोशालक ने भी यह बात सुनी। उसे बहुत क्रोध आया। वह आतापना भूमि से कुम्भकारापण में आया और आजीवक संघ के साथ अत्यन्त अमर्श से बैठा।

भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द भिक्षा के लिए श्रावस्ती में गये हुए थे। वे भिक्षा लेकर लौट रहे थे। गोशालक ने आनन्द को अपने पास बुलाकर कहा—तुम जरा मेरी बात सुनकर जाओ। कुछ व्यापारी भयंकर अटवी में पहुँचे। वे अपने साथ जो पानी लाये थे, वह समाप्त हो गया जंगल में आगे पहुँचने पर एक विशाल बल्मिक दिखाई दिया। उसमें चार। शिखर थे। उन्होंने एक शिखर को तोड़ा। उसमें से बढ़िया मधुर जल प्राप्त हुआ। सभी तृप्त हो गये। दूसरा शिखर तोड़ा, उसमें से स्वर्ण-राशि प्राप्त हुई। उनकी लोभवृत्ति प्रबल हुई। उन्होंने तीसरा शिखर तोड़ा, उसमें से मणि-रत्न निकले। उन व्यापारियों ने सोचा—चौथा शिखर तोड़ने पर वज्र रत्न निकलेंगे। चतुर व्यापारी ने शिखर को तोड़ने का निषेध किया, किन्तु दूसरे व्यापारियों उसके कथन की उपेक्षा की। ज्यों ही शिखर तोड़ा, उसमें से भयंकर दृष्टिविष सर्प निकला। सारे व्यापारी जलकर भस्म हो गये। सर्प ने केवल एक व्यापारी को बचाया और उसे सम्मान सहित घर पहुँचा दिया। इसी तरह हे आनन्द! मेरे सम्बन्ध में महावीर कुछ भी कहेंगे तो मैं उन्हें अपने तपस्तेज से भस्म कर दूँगा। उस हितैषी व्यक्ति की तरह तुझे बचा लूँगा। आनन्द अत्यधिक भयभीत हुआ। वह भगवान् महावीर के पास आया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। क्या भगवान्! वह भस्म कर सकता है? भगवान् ने कहा—वह भस्म कर सकता है किन्तु अरिहन्त प्रभु को नहीं। वह जला तो नहीं सकता किन्तु परिताप अवश्य दे सकता है। अतः तुम जाओ और गौतम आदि निर्ग्रन्थों को कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है, उसमें बहुत ही दुर्भावना है, इसीलिए उसकी बातों का कोई भी जवाब नहीं दें। आनन्द ने सभी मुनिवरों को सूचना दे दी।

गोशालक वहाँ आ पहुँचा। उसने कहा—आपका शिष्य गोशालक मर चुका है, मैं दूसरा हूँ। भगवान् ने कहा—अन्य न होते हुए भी तुम अपने को अन्य बता रहे हो, यह योग्य नहीं है। गोशालक ने क्रुद्ध होकर

कहा—तू आज ही नष्ट हो जायेगा, तेरा जीवन नहीं रहेगा। भगवान् के सारे शिष्य चुप रहे। सर्वानुभूति अणगार, जिनका भगवान् पर अत्यधिक अनुराग था, उन्होंने कहा—भगवान् महावीर ने आपको शिक्षा और दीक्षा दी। उन धर्माचार्य के प्रति इस प्रकार के वचन कह रहे हो? यह सुनते ही गौशालक का चेहरा तमतमा उठा—उसने सर्वानुभूति अणगार को तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से जलाकर भस्म कर दिया। वह पुनः प्रलाप करने लगा। सुनक्षत्र अणगार से भी न रहा गया, उन्होंने भी गौशालक को समझाने का प्रयत्न किया। गौशालक ने सुनक्षत्र अणगार को भी जलाकर भस्म कर दिया।

भगवान् महावीर ने गौशालक को समझाना चाहा। गौशालक का क्रोधित होना स्वाभाविक था। वह सात-आठ कदम पीछे हटा। भगवान् महावीर को भस्म करने के लिए उसने तेजोलेश्या का प्रहार किया। पर प्रभु के अमित तेज से तेजालेश्या उनको जला न सकी, वह प्रदक्षिणा कर पुनः गौशालक के शरीर को जलाती हुई उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई। गौशालक ने भगवान् से कहा—काश्यप! मेरी तेजोलेश्या से पराभूत व पीड़ित होकर तू छह मास की अवधि में मृत्यु को प्राप्त होगा। महावीर ने कहा—मैं तो सोलह वर्ष तक तीर्थंकर-पर्याय में विचरण करूँगा और तू अपनी तेजोलेश्या से पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ अवस्था में काल-धर्म को प्राप्त होगा।

अब गौशालक का तेज नष्ट हो चुका था। भगवान् महावीर के आदेश से स्थविरों से विविध प्रकार के प्रश्न किये। गौशालक उत्तर नहीं दे सका। अन्य अनेक आजीवक स्थविर भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये। सारे नगर में चर्चा फैल गई कि किसका कथन सत्य है और किसका असत्य? लब्ध प्रतिष्ठित लोगों ने कहा—भगवान् महावीर का कथन सत्य है।

गौशालक के शरीर में भयंकर वेदना हुई। विक्षिप्त सा इधर-उधर निश्वास छोड़ता हुआ वह कुम्भकारापण में पहुँचा। वह अपने दोष को छिपाने के लिए चार पानक पेय और चार अपानक अपेय प्ररूपित कर रहा था। वे चार पानक ये हैं—१. गाय के पृष्ठ भाग से गिरा हुआ २. हाथ से उलीचा हुआ ३. सूर्य ताप से तपा हुआ ४. शिलाओं से गिरा हुआ। चार अपानक ये हैं, जो पीने के लिए ग्राह्य नहीं है किन्तु दाह आदि के उपशमन

के लिए व्यवहार योग्य है जैसे १. स्थाल पानी से आर्द्र हुए ठण्डे छोटे-बड़े बर्तन—इन्हें हाथ से स्पर्श करे, किन्तु पानी न पीए। २. त्वचा पानी—आम, गुठली और बेर आदि कच्चे फल मुँह में चबाना परन्तु उसका रस नहीं पीना। ३. फलों का पानी—उड़द, मूँग, मटर आदि की कच्ची फलियाँ मुँह में लेकर चबाना परन्तु उसका रस नहीं पीना। ४. शुद्ध पानी।

श्रावस्ती में 'अयंपुल' आजीवकोपासक था। उसे 'हल्ला' वनस्पति के आकार के सम्बन्ध में जिज्ञासा हुई। वह रात्रि में ही गोशालक के पास पहुँचा। उस समय गोशालक मद्यपान किये हुए हँस रहा था और नाच रहा था। वह लज्जित होकर पुनः लौटने लगा। गोशालक ने स्थविरों को भेजकर उसे बुलाया और कहा—तुम मेरे पास आये हो, पर मेरी यह स्थिति देखकर लौटना चाहते थे किन्तु मेरे हाथ में कच्चा आम नहीं, आम की छाल है। निर्वाण के समय इसका पीना आवश्यक है। निर्वाण के समय नृत्य, गीत आदि भी आवश्यक हैं, अतः तुम भी वीणा बजाओ।

गोशालक को लगा कि अब मैं लम्बे समय का मेहमान नहीं हूँ, अतः उसने अपने स्थविरों को बुलाकर कहा—यदि मेरी मृत्यु आ जाय तो मेरे शरीर को सुगन्धित पानी से नहलाना, गेरुक वस्त्र से शरीर को पोंछना, गोशीर्ष चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र धारण करवाना और सभी प्रकार के अलंकारों से विभूषित करना। एक हजार व्यक्ति उठा सकें, ऐसी शिविका में बैठाकर यह उद्घोषणा करना—चौबीसवें तीर्थंकर मंखलि पुत्र गोशालक सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये हैं।

सातवीं रात्रि व्यतीत हो रही थी। उसका मिथ्यात्व नष्ट हुआ और सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई। गोशालक को अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। मैं जिन नहीं हूँ किन्तु जिन होने का मैंने दावा किया। अपने धर्माचार्य से द्वेष किया और श्रमणों की हत्या की। यह मैंने भयंकर भूल की। उसी समय स्थविरों को बुलाकर गोशालक ने कहा—मेरी भयंकर भूलें हुई हैं, इसीलिए मेरी मृत्यु के बाद मेरे बांये पैर में रस्सी बाँधना और मेरे मुँह में तीन बार थूकना। श्रावस्ती के राजमार्गों पर से मुझे ले जाते हुए यह उद्घोषणा करना—गोशालक जिन नहीं, भगवान् महावीर ही जिन हैं। मरे हुए कुत्ते की तरह मुझे घसीट कर ले जाना। उसने स्थविरों को शपथ दिलाई और उसी रात्रि में गोशालक की मृत्यु हो गई।

स्थविरों ने सोचा—यदि हम गोशालक के कथनानुसार करेंगे तो हमारी और हमारे धर्माचार्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी। यदि उसके कथन की उपेक्षा करेंगे तो गुरु-आज्ञा का भंग होगा। यह सोचकर उन्होंने कुम्भकारापण को बन्द कर आंगन में श्रावस्ती का चित्र बनाया तथा गोशालक के कथनानुसार सारा कार्य किया। उसके बाद गोशालक के प्रथम आदेश के अनुसार उसकी अर्चा की और धूमधाम से उसकी शव-यात्रा निकाली तथा अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

इस तरह हे गौतम! मेरा कुशिष्य गोशालक जीवन के अन्तिम क्षणों में प्रशस्त भावना के कारण बारहवें देवलोक अच्युत कल्प में देव बना। वहाँ से च्युत होकर अनेक भवों में परिभ्रमण करते हुए इसे सम्यक्त्व की उपलब्धि होगी और दृढ़प्रतिज्ञ केवली बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में गोशालक का व्यवस्थित जीवन-चरित्र दिया गया है।

अनुसंधानकर्त्ताओं को इसमें विपुल सामग्री प्राप्त होगी।

गोशालक निह्नव नहीं था, मिथ्यात्वी था। भगवती के अतिरिक्त आगम के व्याख्या साहित्य में उसके अमानवीय कृत्यों की लम्बी सूची दी गई है। गोशालक ने अपने लौकिक प्रभाव से जन-मानस को आकर्षित किया था। कितने ही महानुभाव यह शंका उपस्थित करते हैं—भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की रक्षा की जबकि समवसरण में गोशालक ने तेजोलेश्या से सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर प्रहार किया, तब महावीर ने उन्हें क्यों नहीं बचाया? टीकाकार ने स्पष्ट किया है—भगवान उस समय वीतरागी थे। वे जानते थे उसके निमित्त से मुनियों का मरण है। केवली अवस्था में लब्धि का प्रयोग नहीं करते। छद्मस्थ अवस्था में अनुकम्पा से उन्होंने गोशालक को बचाया था। कितने ही लोगों का यह भी मानना है कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखाकर भगवान् महावीर ने भूल की। यदि भगवान ऐसा नहीं करते तो कुमत का प्रचार नहीं होता और न मुनि-हत्या ही होती। पर उन्हें यह सोचना चाहिए कि महापुरुष बिना भेद-भाव के सभी का उपकार करते हैं। प्रतिफल की कामना से वे कभी भी सौदेबाजी नहीं करते। भगवान ने छद्मस्थ अवस्था में ऐसा कोई

कार्य नहीं किया जिसमें प्रमाद और पाप-कर्म हों।[1] भगवान् महावीर के द्वारा शीतललेश्या का प्रयोग एक परम कारुणिक भावना का निदर्शन है। जब सामने पंचेन्द्रिय प्राणी जल रहा हो और दूसरा व्यक्ति निरपेक्ष भाव से उसे निहारता रहे, उसके अन्तर्मानस में अनुकम्पा की लहर न उठे, यह कैसे सम्भव है ? आचार्य भीखणजी ने इस अनुकम्पा-प्रसंग को भगवान् महावीर की भूल बताई है। उन्होंने कहा—"छद्मस्थ चूक्या तिण समै"— अर्थात् महावीर ने गोशालक को बचाकर भूल की ! हमारी दृष्टि से यह अहिंसा का एकान्तिक आग्रह या एकांगी चिन्तन है। भगवान् महावीर की अहिंसा नकारात्मक ही नहीं, क्रियात्मक भी थी। गोशालक की प्राण रक्षा कर भगवान् ने एक आदर्श उदाहरण उपस्थित किया।

(भगवती सूत्र शतक १५)

□

१ 'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइं पि कुव्वित्था।

—आचा., श्रुत. १, अध्य. ९, उद्देशा ४, गा. १५

विविध कथाएँ (प्रकीर्णक कथाएँ)

श्रमण-श्रमणियों का निदान

पूर्व पृष्ठों में हमने अनाथी मुनि के द्वारा सम्राट श्रेणिक को प्रतिबोध प्राप्त हुआ था, यह उल्लेख किया है। यहाँ पर भगवान् महावीर का साक्षात् सम्पर्क और उनके प्रति असाधारण श्रद्धा का प्रतिपादन किया है।

महाराजा श्रेणिक ने कौटुम्बिक (राजकर्मचारी) पुरुषों को बुलाकर यह आदेश दिया—राजगृह नगर के बाहर जितने भी आराम, उद्यान, शिल्प-शालायें, आयतन, देवकुल, सभायें, प्रपायें, उदकशालायें, पान्थशालायें, भोजनशालायें, चूने के भट्टे, व्यापार की मंडियां, लकड़ी आदि के ठेके, मूंज आदि के कारखाने आदि के जो अध्यक्ष हैं उनसे जाकर कहो— जब श्रमण भगवान् महावीर इस नगर में पधारें; तुम लोग स्थान, शयनासन आदि ग्रहण करने की आज्ञा दो और उनके पधारने का संवाद मेरे तक पहुँचाओ। कौटुम्बिक पुरुषों ने ऐसा ही किया।

भगवान् महावीर का जब राजगृह में पदार्पण हुआ, तब राजा श्रेणिक को सूचना दी। तब राजा श्रेणिक बहुत ही हर्षित हुआ तथा संवाददाताओं को पारितोषिक दिया। महाराणी चेलना के साथ स्नानादि से निवृत्त हो बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण कर राजा श्रेणिक भगवान् की धर्म-सभा में पहुँचा। भगवान् महावीर ने धर्मोपदेश दिया। परिषद् विसर्जित हुई। श्रेणिक की दिव्य ऋद्धि को देखकर कितने ही श्रमणों के मन में विचार आया—धन्य है यह श्रेणिक बिम्बसार! जो चेलना जैसी रानी और मगध जैसे राज्य का उपभोग कर रहा है। हमारी भी तपःसाधना का फल हो तो हम भी इसी प्रकार के मनोरम कामभोगों को प्राप्त करें। चेलना की दिव्य ऋद्धि देखकर कितनी ही श्रमणियों के मन में यह विचार आया कि हम भी चेलना की तरह ही कामभोगों का उपभोग करें।

भगवान् महावीर से यह रहस्य कब छिप सकता था ? उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान-बल से श्रमण-श्रमणियों के निदान की बात जानी। उन्हें निदान के दुष्परिणाम से परिचित कराया। श्रमण-श्रमणियों ने अपने दुःसंकल्प की आलोचना की। प्रस्तुत कथानक से यह स्पष्ट है कि श्रेणिक को भगवान् महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति थी। साथ ही इस बात का भी संकेत मिलता है कि वह प्रथम बार भगवान् महावीर के पास गया था। जैन परम्परा की दृष्टि से श्रेणिक पहले अन्य धर्मावलम्बी था। चेलना तो पितृपक्ष में भी निर्ग्रन्थ धर्म को मानने वाली थी। उसके प्रयत्न से ही सम्राट श्रेणिक निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक एवं जैन बना था। सम्भव है, इसीलिए चेलना को आगे किया हो ! (दशाश्रुत स्कन्ध १०)

श्रमण और श्रमणियों ने जो निदान करने का सोचा, वह प्रथम सम्पर्क में ही सम्भव है। बार-बार मिलने के पश्चात् वह भावना नहीं हो सकती।

रथ-मूसल संग्राम

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—रथ-मूसल संग्राम क्या है ? उसमें कौन जीता और कौन हारा ?

भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—इस युद्ध में इन्द्र, असुरेन्द्र, असुरकुमार, चमरेन्द्र ये जीते थे और नौ मल्लवी, नौ लिच्छवी ये राजा-गण पराजित हुए थे। कोणिक भूतानन्द नामक पट्टहस्ती पर आसीन होकर रथमूसल संग्राम में आया था। उसके आगे देवराज शक्र थे, उसके पीछे असुरकुमारराज चमर थे। लोहे से निर्मित एक विशिष्ट प्रकार के कवच की विकुर्वणा की। इस युद्ध में देवेन्द्र, मनुजेन्द्र और असुरेन्द्र ये तीन इन्द्र एक साथ युद्ध कर रहे थे। गौतम ने पुनः जिज्ञासा की—भगवन् ! इस संग्राम को रथ-मूसल संग्राम क्यों कहा? भगवान् ने उत्तर दिया—जिस समय यह संग्राम हो रहा था, उस समय अश्वरहित, सारथीरहित, योद्धा-रहित और मूसलसहित रथ अत्यन्त जन-संहार, जन-वध, जन-मर्दन और रक्त से भूमि को रञ्जित करता हुआ चारों ओर दौड़ रहा था। इसीलिए उसे 'रथ-मूसल' संग्राम कहा है। उस संग्राम में छियानवें लाख योद्धा मारे गए। उनमें से दस हजार योद्धाओं के जीव एक मछली के उदर में पैदा हुए। उनमें से एक वरुणनागनप्तृक देवलोक में उत्पन्न हुआ। उसका बाल-

मित्र मनुष्य बना और अवशेष मानवों के जीव नरक और तिर्यंच योनि में पैदा हुए।

गणधर गौतम ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—देवेन्द्र शक्र ने और असुरकुमार चमरेन्द्र ने कोणिक-राजा को किस कारण से सहायता प्रदान की ? भगवान् ने कहा—देवेन्द्र देवराज शक्र तो कोणिक राजा का 'कार्तिक' सेठ के भव में मित्र था और असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर कोणिक राजा का 'पूरण' नामक तापस की अवस्था का साथी था। इसीलिए इन दोनों इन्द्रों ने कोणिक की सहायता की।

(भगवती शतक ७, उद्देशक ९)

रथ-मूसल संग्राम में काल आदि कुमारों की मृत्यु

राजगृह में राजा श्रेणिक का राज्य था। उसकी रानी चेलना से 'कूणिक' का जन्म हुआ। श्रेणिक की दूसरी रानी काली से 'काल' नामक राजकुमार का जन्म हुआ। एक बार काल कूणिक के साथ रथ-मूसलसंग्राम में पहुँचा। उस समय भगवान् महावीर चम्पानगरी में पधारे। काली महारानी ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन् ! मेरे पुत्र काल की युद्ध में विजय होगी या पराजय ? महावीर ने कहा—तेरा पुत्र रथ-मूसल संग्राम में वैशाली के राजा चेटक के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होगा। तू उसे देख नहीं सकेगी।

राजगृह नगर में राजा श्रेणिक का राज्य था। उसकी नन्दा रानी से 'अभयकुमार' का जन्म हुआ। श्रेणिक की रानी चेलना को अपने पति के उदर के मांस को खाने का दोहद पैदा हुआ। दोहद पूर्ण न होने से वह उदास रहने लगी। अंग परिचारिकाओं से राजा श्रेणिक को ज्ञात हुआ। अभयकुमार के पूछने पर राजा ने सारा वृत्तान्त सुनाया। अभयकुमार ने विश्वस्त अनुचर को भेज कर मांस रुधिर मंगवाकर राजा श्रेणिक के उदर पर रखवा दिया। इस तरह वस्त्र से आच्छादित कर दिया कि जिससे ज्ञात नहीं हो सके। दूर प्रासाद में बैठी हुई महारानी चेलना सब देखती रही। अभयकुमार ने मांस काटने का बहाना किया और राजा को मूर्च्छित स्थिति में बताकर महारानी चेलना का दोहद पूर्ण किया। बौद्ध परम्परा के अनुसार वैद्य ने राजा की बाहु का रक्त निकलवाकर दोहद की पूर्ति की। रानी को ज्योतिषी ने बताया कि यह पुत्र पिता को मारने वाला होगा। इसलिए रानी उसे नष्ट करने का प्रयत्न करती है। चेलना के मन

में संतोष न था। वह मन ही मन में दुःखी हो रही थी कि इस बालक के गर्भ में आते ही पति का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः इस दुष्ट गर्भ को गिरा देना ही श्रेयस्कर है। रानी ने गर्भपात के लिए अनेक प्रयोग किये किन्तु कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। जन्म लेने पर नवजात शिशु को महारानी चेलना ने कूड़ी (रोड़ी) पर फिकवा दिया। जब राजा श्रेणिक को पता चला तो उन्होंने शिशु को मंगवाया। कूड़ी पर पड़े हुए शिशु की अंगुली में कुक्कुट की चोंच से चोट आ गई थी, जिससे उसकी अँगुली छोटी रह गई, अतः उसका नाम 'कूणिक' रखा गया।

कूणिक का नाम जैन और बौद्ध दोनों परम्परा में मिलता है। जैन परम्परा में उसे 'कोणिक' या 'कूणिक' कहा गया है तो बौद्ध परम्परा में उसे 'अजातशत्रु' लिखा है। कूणिक नाम 'कूणि' शब्द से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है—अंगुली का घाव।[1] 'कूणिक' का अर्थ हुआ अंगुली के घाव वाला व्यक्ति। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[2]

उपनिषद्[3] और पुराणों[4] में अजातशत्रु' नाम व्यवहृत हुआ है। यह अधिक सम्भव है 'कूणिक' उनका मूल नाम रहा होगा और 'अजातशत्रु' उपाधि विशेषण रहा होगा। मूल नाम से कभी-कभी उपाधि विशेष प्रचलित हो जाती है। यहीं कारण है कि भारतीय साहित्य में उसका 'अजातशत्रु' नाम विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है। मथुरा के संग्रहालय में एक शिलालेख में उसका नाम 'अजातशत्रु कूणिक' उट्टंकित है।[5] 'अजातशत्रु' शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं—(१) 'न जातः शत्रुर्यस्य' जिसका कोई शत्रु जन्मा ही नहीं हो।[6] (२) 'अजातोऽपि शत्रुः' अर्थात् जन्म से पूर्व ही (पिता का शत्रु) शत्रु।[7] द्वितीय अर्थ आचार्य बुद्धघोष ने किया है। यह अर्थ पूर्ण रूप से संगत भी है। अजातशत्रु प्रतापी नरेश था। उसके नाम से

---

१ Apte's Sanskrit—English Dictionary, Vol. 1, p. 580.

२ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ३०६.

३ Dialogues of Buddha, Vol. II, p. 78.

४ वायुपुराण, अ० ९९, श्लोक ३१९; मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लोक ६.

५ Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. V, Part IV, pp. 550-51.

६ Dialogues of Buddha, Vol. II, p. 78.

७ दीघनिकाय, अट्ठकथा—१, १३३.

बड़े-बड़े वीर काँपते थे इसलिए यह नाम गर्हा का प्रतीक न होकर उसकी वीरता का प्रतीक है। जिनदास गणी महत्तर ने कूणिक को 'अशोकचन्द्र' भी लिखा है। कहते हैं—जब कूणिक को 'असोगवणिया' नाम के उद्यान में फेंक दिया गया तो वह उद्यान चमक उठा। इसलिए कूणिक का नाम 'अशोकचन्द्र' रखा गया।

कूणिक की अंगुली पक जाने से उसमें से मवाद निकलती और उससे वह चिल्लाता था। अपने पुत्र की वेदना को शान्त करने के लिए राजा श्रेणिक अंगुली को मुँह में रखकर चूसता जिससे बालक चुप हो जाता। बौद्ध परम्परा की दृष्टि से जन्मते ही बालक को राजा के कर्मचारी वहाँ से हटा देते हैं कि कहीं महारानी उसे मार न दें। कुछ समय के पश्चात् उस बालक को महारानी को सौंपते हैं। पुत्र-प्रेम से महारानी उसमें अनुरक्त हो जाती है। एक बार अजातशत्रु की अंगुली में फोड़ा हो जाता है, बालक रोने लगता है जिससे कर्मकर उसे राजसभा में ले जाते हैं। राजा उसकी अंगुली को मुँह में रख लेता है। फोड़ा फूट जाता है। पुत्र-प्रेम से पागल बना हुआ राजा उस रक्त और मवाद को थूकता नहीं, किन्तु निगल जाता है।

कूणिक के अन्तर्मानस में यह विचार पैदा हुआ कि राजा श्रेणिक के रहते हुए मैं राजा नहीं बन सकता। इसलिए वह अपने अन्य भ्राताओं को अपने साथ मिलाकर स्वयं राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है और राजा श्रेणिक को गिरफ्तार कर कारागृह में बन्द कर देता है। बौद्ध परम्परा की दृष्टि से अजातशत्रु जीवन के उषाकाल से ही महत्वाकांक्षी था। उसकी महत्वाकांक्षा को उभारने वाला देवदत्त था। जिसके कारण उसने पिता को धूमगृह (लौह-कर्म करने का घर) में डलवा दिया।

जैन दृष्टि से एक दिन कूणिक अपनी माँ को नमस्कार करने पहुँचा। माँ को चिन्तासागर में डुबकी लगाते हुए देखकर कूणिक ने कहा—माँ! क्यों चिन्तित हो रही हो? मैं तुम्हारा पुत्र राजा बन गया हूँ, फिर भी तुम चिन्तित हो? मुझे कारण बताना होगा। माँ ने श्रेणिक के प्रेम की घटना सुनाई और कहा—तुझे धिक्कार है। अपने महान् उपकारी पिता को तैने कष्ट दिया है। कूणिक के मन में पिता के प्रति प्रेम जागृत हुआ। उसे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ और हाथ में परशु लेकर पितृ-मोचन के लिए चल पड़ा। श्रेणिक ने दूर से देखा—कूणिक परशु हाथ में लेकर

मुझे मारने के लिए आ रहा है। यह मुझे बुरी तरह से मारेगा इससे तो यही श्रेयस्कर है कि मैं स्वयं ही प्राणों का अन्त कर लूं। श्रेणिक ने उसी समय तालपुट विष खाकर अपने प्राणों का अन्त किया।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में बताया है—धूमगृह में कोशलदेवी के अतिरिक्त कोई भी नहीं जा सकता था। अजातशत्रु अपने पिता को भूखा और प्यासा रख कर मरवाना चाहता था, क्योंकि देवदत्त ने अजातशत्रु को कहा था—पिता को शस्त्र से न मारें, किन्तु भूखे और प्यासे रखकर मारें। जब कोशलदेवी राजा से मिलने जाती तो उत्संग में भोजन छिपाकर ले जाती और राजा को दे देती। अजातशत्रु को ज्ञात होने पर उसने कर्मकरों से कहा—मेरी माता को उत्संग बांध कर मत जाने दो। तब महारानी जूड़े में भोजन छिपाकर ले जाने लगी। उसका भी निषेध हुआ। तब वह स्वर्ण पादुका में छिपाकर भोजन ले जाने लगी। जब उसका भी निषेध किया गया तो महारानी गंदोदक से स्नान कर शरीर पर मधु का लेप कर राजा के पास जाने लगी। उसके शरीर को चाटकर राजा कुछ दिन तक जीवित रहा। अन्त में अजातशत्रु ने माता को भी धूमगृह में जाने का निषेध किया।

राजा श्रेणिक अब श्रोतापत्ति के सुख पर जीने लगा। अजातशत्रु ने देखा—राजा मर नहीं रहा है इसलिए नाई को बुलाकर कहा—मेरे पिता राजा के पैरों को तुम पहले शस्त्र से छील दो, उस पर नमक युक्त तेल का लेपन करो और फिर खैर के अंगारे मे उस पर सिकताव करो? नापित ने वैसा ही किया, जिससे राजा मर गया।

जैन परम्परा की दृष्टि से माता से पिता के प्रेम की बात को सुनकर कूणिक के मन में पिता की मृत्यु मे पूर्व ही पश्चात्ताप हो गया था। जब कूणिक ने देखा—पिता ने आत्महत्या करली है तो वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। कुछ समय के बाद जब उसे होश आया तो वह फूट-फूट कर रोने लगा—"मैं कितना पुण्यहीन हूँ, मैंने अपने पूज्य पिता को

---

१ (क) जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं

—दशवैकालिक चूर्णि ८, २९२

(ख) छह प्रकार का विषपरिणाम बताया है—दष्ट, भुक्त, निपतित, मांसानुसारी, शोणितानुसारी, सहस्रानुपाती।

—स्थानांग सूत्र, पृष्ठ ३५५ अ.

बन्धनों में बांधा और मेरे निमित्त से ही पिता की मृत्यु हुई है।'' वह पिता के शोक से संतप्त होकर राजगृह को छोड़कर चम्पा नगरी पहुँचा और उसे मगध की राजधानी बनाया।

बौद्ध दृष्टि से जिस दिन बिम्बसार की मृत्यु हुई, उस दिन अजातशत्रु के पुत्र हुआ। संवादप्रदाताओं ने लिखित रूप से संवाद प्रदान किया। पुत्र-प्रेम से राजा हर्ष से नाच उठा। उसका रोम-रोम प्रसन्न उठा। उसे ध्यान आया—जब मैं जन्मा था, तब मेरे पिता को भी इसी तरह आह्लाद हुआ होगा। उसने कर्मकरों से कहा—पिता को मुक्त कर दो। संवाददाताओं ने राजा के हाथ में बिम्बसार की मृत्यु का पत्र थमा दिया। पिता की मृत्यु का संवाद पढ़ते ही वह आँसू बहाने लगा और दौड़कर माँ के पास पहुँचा तथा माँ से पूछा—माँ! क्या मेरे पिता को भी मेरे प्रति प्रेम था? माँ ने अंगुली चूसने की बात कही। पिता के प्रेम की बात को सुनकर वह अधिक शोकाकुल हो गया और मन ही मन दुःखी होने लगा।

कूणिक का दोहद, अंगुली में व्रण, कारागृह आदि प्रसंगों का वर्णन जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में प्राप्त है। परम्परा में भेद होने के कारण कुछ निमित्त पृथक् हैं। जैन परम्परा की घटना 'निरयावालिका' की है, जिसका रचनाकाल पं० दलसुखभाई मालवणिया वि० सं० के पूर्व का मानते हैं।[1] बौद्ध परम्परा में यह घटना 'अट्ठकथाओं में आई है। इसका रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी है।[2] जिस परम्परा को जो कथा का स्रोत मिला उसी के आधार पर वह ग्रन्थों में आई है।

जैन परम्परा में कूणिक की क्रूरता का चित्रण हुआ है। पर वह बौद्ध परम्परा की तरह स्पष्ट नहीं है। बौद्ध परम्परा में 'अजातशत्रु' अपने पिता के पैरों को छिलवाता है और उसमें नमक भरवा कर अग्नि से सेक करवाता है। यह उसका अमानवीय रूप बहुत ही स्पष्टता से उजागर हुआ है। जैन परम्परा में उसे (श्रेणिक को) कारागृह में डालने की बात तो कही है, पर पिता को बेरहमी से भूखे मारने की बात नहीं कहीं है। जैन दृष्टि से श्रेणिक की मृत्यु स्वयं ने की तो बौद्ध परम्परा की दृष्टि से अजातशत्रु ने।

---

१ आगम-युग का जैन दर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, १९६६, पृष्ठ २९
—पं० दलसुख मालवणिया

२ आचार्य बुद्धघोष—महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में कूणिक की माता का नाम अलग-अलग मिलता है। जातक की दृष्टि से कोशलदेवी कौशल के अधिपति 'महाकौशल' की पुत्री थी और 'प्रसेनजित' की बहिन थी।[1] विवाह के सुनहरे अवसर पर काशी का एक ग्राम उसे दहेज के रूप में दिया गया था। किन्तु जब बिम्बसार का वध कूणिक के द्वारा किया गया तो प्रसेनजित ने वह ग्राम पुनः ले लिया। अजातशत्रु प्रसेनजित का भानजा था, इसलिए युद्ध के मैदान में उन्होंने उसको नहीं मारा तथा अपनी पुत्री 'वजिरा' का पाणिग्रहण अजातशत्रु के साथ कर दिया और ग्राम पुनः कन्यादान के रूप में अजातशत्रु को दे दिया[2]। संयुक्तनिकाय में अजातशत्रु को 'प्रसेनजित' का भानजा और 'विदेहीपुत्र' ये दोनों कहे गये हैं।[3] किन्तु गहराई से चिन्तन करने पर इन दोनों नामों में संगति का अभाव है। आचार्य बुद्धघोष ने 'विदेही' का अर्थ विदेह देश की राजकन्या न कर 'पण्डिता' किया है।[4] जैन दृष्टि से चेलना वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक की कन्या थी, इसलिए वह 'वैदेही' थी।[5] सम्भव है, प्रसेनजित की बहिन कोशलदेवी अजातशत्रु की कोई विमाता रही हो। तिब्बती परम्परा[6] तथा 'अमितायुर्ध्यान सूत्र'[7] में 'वैदेही वासवी' यह उसकी माँ का नाम आया है और उसका कारण विदेह देश की राजकन्या बताया है।[8]

जैन आगम साहित्य में कूणिक के लिए 'विदेहपुत्र' शब्द व्यवहृत हुआ है।[9] 'राईस डेविड्स' के अभिमतानुसार बिम्बसार राजा को दो रानियाँ थीं—एक प्रसेनजित की बहिन कोशलदेवी और दूसरी विदेह कन्या। विदेह कन्या का पुत्र 'अजातशत्रु' था।[10]

---

१ Jataka, Ed. by Fausboll, Vol. III, p. 121.

२ जातक अट्ठकथा सं० २४६, २८३।

३ संयुत्तनिकाय २-२-४।

४ वेदेहिपुत्तो ति वेदेहीत पण्डिताधिवचनं एतं, पण्डितित्थियापुत्तो ति अत्थो।'
—संयुक्तनिकाय, अट्ठकथा—१, १२०

५ आवश्यकचूर्णि, भाग २, पत्र १६४।

६ Rockhill : Life of Buddha, p. 63.

७ S. B. E. Vol. XLIX. p. 166.

८ Rockhill : Life of Buddha, p. 63.

९ भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ६, पृष्ठ ५७६.

१० Buddhist India, p. 3.

हम पूर्व बता चुके हैं कि राजा बिम्बसार जब धूमगृह में था, उस समय 'अट्ठकथा' के अनुसार उसकी सेवा में रानी 'कोशला' थी। 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म' में रानी का नाम 'खेमा' लिखा है और उसे कौशलदेश की राजकन्या लिखा है।[1] 'थेरीगाथा' के अनुसार वह 'मद्र' देश की थी।[2] अमितायुर्घ्यानसूत्र' के अनुसार रानी का नाम 'वैदेही वासवी' था। डा० राधाकुमुद मुखर्जी का अभिमत है—वैदेही वासवी सम्भव है—चेलना थी।[3]

कूणिक राजगृह को छोड़कर चम्पा में आकर बस गया। कूणिक के दो लघुभ्राता थे—हल्ल और विहल्ल। निरयावलिका की टीका, भगवती की टीका और भरतेश्वर बाहुल्ली वृत्ति में हल्ल और विहल्ल ये दो नाम आये हैं। अनुत्तरोपपातिक में 'विहल्ल' और 'वेहायस' चेलना के पुत्र बताये हैं और हल्ल को धारिणी का पुत्र लिखा है। निरयावलिकावृत्ति और भगवतीवृत्ति में 'हल्ल' और 'विहल्ल' दोनों चेलना के पुत्र कहे हैं। शोधार्थियों के लिए यह विषय अन्वेषणीय है।

राजा श्रेणिक ने अपनी प्रसन्नता से 'सेचनक' हस्ती और देव द्वारा दिया गया 'अठारहसरा हार' हल्ल और विहल्ल को दे दिये। उत्तराध्ययनचूर्णि,[4] आवश्यकचूर्णि[5] आदि में इनकी उत्पत्ति की रोचक घटना है। आवश्यकचूर्णि के अनुसार इन दोनों वस्तुओं का मूल्य श्रेणिक के सम्पूर्ण राज्य के बराबर था।[6]

विहल्लकुमार 'सेचनक' हस्ति पर आरूढ़ होकर अपने अन्तःपुर के साथ गंगा तट पर जाता और हाथी सूँड पर लेकर कभी रानी को उछालता तो कभी विहल्ल को। कभी दाँतों पर लेकर सूँड़ से जल की वर्षा करता। इस प्रकार उनकी विविध क्रीड़ाओं को देखकर नगर में यह चर्चा होने लगी कि राजश्री का सच्चा उपभोग विहल्लकुमार कर रहा है।

---

१ Encyclopaedia of Buddhism, p. 316.

२ थेरीगाथा, अट्ठकथा, १३६-४३।

३ हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १८३।

४ उत्तराध्ययनचूर्णि

५ आवश्यक चूर्णि—उत्तरार्द्ध, पत्र १६७।

६ आवश्यकचूर्णि—उत्तरार्द्ध, पत्र १६७।

कूणिक की पत्नी पद्मावती ने सुना। उसने कूणिक से कहा—मेरे पास दोनों अमूल्य वस्तुएँ नहीं है। कूणिक ने उसे कहा—पिताश्री ने पहले से ही उनको सौंप दी हैं। किन्तु रानी के अत्याग्रह से कूणिक ने हल्ल और विहल्ल कुमारों को बुलाकर कहा—हार और हाथी मुझे सौंप दो। उत्तर में उन्होंने निवेदन किया—पूज्य पिताश्री ने हमें दोनों वस्तुएँ दी हैं। हम आपको कैसे दे सकते हैं? इस उत्तर को सुनकर कूणिक रुष्ट हो गया। समय देखकर वे अपने अन्तःपुर के साथ वैशाली चेटक राजा के पास पहुँच गये। कूणिक को ज्ञात होने पर चेटक को दूत भेजकर हार और हाथी, हल्ल तथा विहल्ल को चम्पा भेजने के लिए कहलाया। चेटक ने सूचन किया—आधा राज हल्ल तथा विहल्ल को दे दो तो मैं हार और हाथी भिजवा दूँगा। कूणिक ने पुनः कहलवाया—हल्ल और विहल्ल मेरी बिना आज्ञा के हार तथा हाथी ले गये हैं, वह मगध की सम्पत्ति है। अतः अ.प लौटा दें अथवा युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ।

दूत के अभद्र व्यवहार से और पत्र को पढ़कर चेटक भी उत्तेजित हो गये। उन्होंने गलहत्था देकर उसे निकाल दिया और कहा—मैं अन्याय सहन नहीं कर सकता। शरणागत की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। यदि वह युद्ध के लिए तैयार है तो मैं भी पीछे हटने वाला नहीं हूँ।

कूणिक ने अपने काल आदि भाइयों को बुलाकर युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दिया और वे सभी वैशाली पहुँचे। इधर राजा चेटक ने भी काशी के नौ मल्लवी और कौशल के नौ लिच्छवी इस प्रकार अठारह गण-राजाओं को बुलाकर मंत्रणा की। सभी ने यही कहा—हार और हाथी को लौटाना उचित नहीं। शरणागत की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कूणिक ने 'गरुड़व्यूह' रचा तो राजा चेटक ने 'शकटव्यूह' की रचना की। राजा चेटक भगवान महावीर का परम उपासक था। उसका यह अभिग्रह था—मैं एक दिन में एक से अधिक बाण नहीं चलाऊँगा। उसका बाण अमोघ था। पहले दिन कूणिक की ओर से कालकुमार सेनापति बनकर आया। वह चेटक के बाण से धराशायी हो गया। दूसरे दिन सुकालकुमार, तीसरे दिन महाकाल, चौथे दिन कण्ह, पाँचवें दिन सुकण्ह, छठे दिन महाकण्ह, सातवें दिन वीरकण्ह, आठवें दिन रामकण्ह, नौवें दिन पिउसेणकण्ह और दसवें दिन महासेणकण्ह की क्रमशः राजा चेटक के हाथ से मृत्यु हुई। उस समय भगवान् महावीर चम्पा नगरी में विराज रहे थे। दसों राजकुमारों की माताओं ने भगवान्

महावीर से प्रश्न किया—कालकुमार आदि जीवित रहेंगे या मृत्यु का वरण करेंगे ? भगवान् ने प्रत्युत्तर में कहा—वे सभी मृत्यु को प्राप्त कर चुके हैं। दसों रानियों ने दीक्षा ग्रहण की। (निरयावलिका १-१०)

महाशिलाकंटक संग्राम

महाशिलाकंटक-संग्राम का निरूपण भगवती (श० ७ उ० ६) में हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघनिकाय' के महापरिनिव्वाणसुत्त तथा उसकी 'अट्ठकथा' में 'वज्जी-विजय कहा' है। युद्ध का कारण, उसकी प्रक्रिया और उसकी निष्पत्ति परम्परा की पृथकता से भिन्न-भिन्न रूप में मिलती है। पर यह स्पष्ट है कि मगध की वैशाली गणतन्त्र पर विजय हुई थी। इस युद्ध के समय भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ये दोनों विद्यमान थे। दोनों से युद्ध के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये। दोनों ने उनके उत्तर दिये। इस युद्ध के वर्णन से उस समय की राजनैतिक स्थितियों का भी परिज्ञान होता है।

यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं—राजा कूणिक के सेनापति राजा चेटक के अमोघ बाण से मर रहे थे। राजा कूणिक को लगा—अब मेरी पराजय निश्चित है। उसने तीन दिन का उपवास करके शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की। वे दोनों इन्द्र प्रकट हुए। उनके सहयोग से पहले दिन महाशिलाकंटक संग्राम की योजना हुई। शक्रेन्द्र द्वारा निर्मित अभेद्य वज्र रूप कवच को कूणिक ने धारण किया, जिससे राजा चेटक का अमोघ बाण उसे मार न सका। परस्पर भयंकर युद्ध हुआ। कूणिक की सेना के द्वारा राजा चेटक की सेना पर कंकड़, तृण, पत्र आदि जो कुछ भी डाला जाता, वह महाशिला की तरह प्रहार करता।[1] उस प्रथम दिन के युद्ध में ही चौरासी लाख मानव मारे गये। द्वितीय दिन रथमूसल संग्राम की विकुर्वणा हुई। देव निर्मित रथ पर चमरेन्द्र स्वयं आसीन हुआ तथा मूसल से चारों ओर प्रहार करने लगा।[2] दूसरे दिन में छियानवे लाख मानवों का संहार हुआ। इस प्रकार दो दिन के संग्राम में 'एक करोड़ अस्सी लाख' मानवों का विनाश हुआ। चेटक तथा नौ मल्लवी और

---

१. भगवती सूत्र, सटीक, सूत्र २९९, पत्र ५७८

२. भगवती सूत्र, सटीक, शतक ७, उद्दे० ९, सूत्र ३००, पृ० ५८४

लिच्छवी—इन अठारह काशी कौशल के गणराजाओं की पराजय हुई और कूणिक की विजय हुई।[1]

राजा चेटक पराजित होकर वैशाली में चला गया। नगर के द्वार बन्द कर दिये गये। कूणिक ने प्राकार तोड़ने का बहुत प्रयास किया पर सफल न हो सका। उसने वैशाली के बाहर सेना का घेरा डाल दिया।

एक दिन उसे आकाशवाणी सुनाई दी—श्रमण कूलबालक[2] जब मागधिका वेश्या में अनुरक्त होगा तब कूणिक (अशोकचन्द्र) वैशाली नगरी का अधिग्रहण करेगा।[3] कूणिक ने कूलवालक की खोज की। मागधिका वेश्या को बुलाया गया। मागधिका ने कपट से श्राविका का रूप बनाकर कूलबालक को अपने में अनुरक्त किया। कूलबालक नैमित्तिक वेष को धारण कर किसी तरह वैशाली पहुँचा। उसे ज्ञात था कि मुनि सुव्रतस्वामी के स्तूप के कारण ही यह नगरी बची हुई है। नागरिकों ने नैमित्तिक समझकर उससे उपाय पूछा। नैमित्तिक वेशधारी कुलबालक ने नागरिकों को बताया—स्तूप के कारण ही शत्रु तुम्हें परेशान कर रहे हैं। यदि स्तूप टूट जायेगा तो शत्रु यहाँ से भाग जायेंगे। लोगों ने स्तूप तोड़ना प्रारम्भ किया। कूल-बालक के संकेतानुसार कूणिक की सेना पीछे हटी और जब स्तूप पूर्ण रूप से टूट गया तो कूणिक ने एकाएक आक्रमण कर वैशाली के प्राकार को नष्ट कर दिया।[4]

शत्रु से बचने के लिए हल्ल और विहल्ल कुमार हार तथा हाथी को लेकर चले, किन्तु खाई में प्रच्छन्न रूप से आग थी। सेचनक हाथी को विभंगज्ञान से आग का पता लग गया था, अतः वह आगे नहीं बढ़ रहा था। उसको बलात् आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया गया तो उसने

---

१ भगवती, शतक ७, उद्देशक ६, सूत्र २०१

२ 'कूलबालुक' तपस्वी नदी के कूल के समीप आतापना लेता था। उसके तपः प्रभाव से नदी का प्रवाह थोड़ा मुड़ गया। उससे उसका नाम 'कूलबालुक' हुआ। —उत्तराध्ययन सूत्र, लक्ष्मीवल्लभ कृत वृत्ति, (गुजराती अनुवाद सहित), अहमदाबाद, १६३५, प्रथम खण्ड, पत्र ८

३ समणे जइ कूलवालए, मागहिअं गणिअं रमिस्सए।
राया अ असोगचंदए, वेसालिं नगरीं गहिस्सए॥ —वही, पत्र १०

४ उत्तराध्ययन सूत्र, लक्ष्मीवल्लभ कृत वृत्ति, पत्र ११

अपनी सूंड से हल्ल और विहल्ल को नीचे उतार दिया और स्वयं अग्नि में प्रवेश हो गया। हाथी शुभ अध्यवसाय में आयु पूर्ण कर देव बना। देव-प्रदत्त हार को देव उठाकर चल दिया। शासनदेव हल्ल और विहल्ल को महावीर के पास ले गये और वहाँ वे दोनों दीक्षित हुए।[1]

राजा चेटक ने आमरण अनशन कर सद्गति प्राप्त की।[2]

बौद्ध परम्परा में मगध विजय का प्रसंग इस प्रकार है—गंगा के एक पट्टन के सन्निकट पर्वत में रत्नों की खान थी।[3] 'अजातशत्रु' और लिच्छवियों में यह समझौता हुआ था कि आधे-आधे रत्न परस्पर ले लेंगे। अजातशत्रु ढीला था। आज या कल करते हुए वह समय पर नहीं पहुँचता। लिच्छवी सभी रत्न लेकर चले जाते। अनेक बार ऐसा होने से उसे बहुत ही क्रोध आया पर गणतन्त्र के साथ युद्ध कैसे किया जाय? उनके बाण निष्फल नहीं जाते।[4] यह सोचकर वह हर बार युद्ध का विचार स्थगित करता रहा, पर जब वह अत्यधिक परेशान हो गया, तब उसने मन ही मन निश्चय किया कि मैं वज्जियों का अवश्य ही विनाश करूँगा। उसने अपने महामन्त्री 'वस्सकार' को बुलाकर तथागत बुद्ध के पास भेजा।[5]

तथागत बुद्ध ने कहा—वज्जियों में सात बातें हैं—१. सन्निपात-बहुल हैं अर्थात् वे अधिवेशन में सभी उपस्थित रहते हैं।

२. उनमें एकमत है। जब सन्निपात भेरी बजती है तब वे चाहे जिस स्थिति में हों, सभी एक हो जाते हैं।

३. वज्जी अप्रज्ञप्त (अवैधानिक) बात को स्वीकार नहीं करते और वैधानिक बात का उच्छेद नहीं करते।

४. वज्जी वृद्ध व गुरुजनों का सत्कार-सम्मान करते हैं।

---

१ भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००-१०१

२ आचार्य भिक्षु, भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड २, पृष्ठ ८८

३ बुद्धचर्या (पृष्ठ ४८४) के अनुसार "पर्वत के पास बहुमूल्य सुगन्ध वाला माल उतरता था।"

४ दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमंगल विलासिनी), खण्ड २ पृ. ५२६, Dr. B. C. Law : Buddhaghosa, p. 111, हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १८८

५ दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त, २/३ (१६)

५. वज्जी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों के साथ न तो बलात्कार करते हैं और न बलपूर्वक विवाह करते हैं।

६. वज्जी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते।

७. वज्जी अर्हतों के नियमों का पालन करते हैं, इसलिए अर्हत् उन के वहाँ पर आते रहते हैं।

ये सात नियम जब तक वज्जियों में हैं और रहेंगे, वहाँ तक कोई भी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकती।[1]

प्रधान अमात्य 'वस्सकार' ने आकर अजातशत्रु को कहा—और कोई उपाय नहीं है, जब तक उनमें भेद नहीं पड़ता, वहाँ तक उनको कोई भी शक्ति हानि नहीं पहुँचा सकती। वस्सकार के संकेत से अजातशत्रु ने राजसभा में 'वस्सकार' को इस आरोप से निकाल दिया कि यह वज्जियों का पक्ष लेता है। वस्सकार को निकालने की सूचना वज्जियों को प्राप्त हुई। कुछ अनुभवियों ने कहा—उसे अपने यहाँ स्थान न दिया जाये। कुछ लोगों ने कहा--नहीं, वह मागधों का शत्रु है इसलिए वह हमारे लिए बहुत ही उपयोगी है। उन्होंने 'वस्सकार' को अपने पास बुलाया और उसे 'अमात्य' पद दे दिया। वस्सकार ने अपने बुद्धि-बल से वज्जियों पर अपना प्रभाव जमाया। जब वज्जी गण एकत्रित होते, तब किसी एक को वस्सकार अपने पास बुलाता और उसके कान में पूछता—क्या तुम खेत जोतते हो? वह उत्तर देता—हाँ, जोतता हूँ। महामात्य का दूसरा प्रश्न होता—दो बैल से जोतते हो अथवा एक बैल से?

दूसरे लिच्छवी उस व्यक्ति को पूछते—बताओ, महामात्य ने तुम्हारे को एकान्त में ले जाकर क्या बात कही? वह सारी बात कह देता पर वे कहते—तुम सत्य को छिपा रहे हो। वह कहता—यदि तुम्हें मेरे पर विश्वास नहीं है तो मैं क्या कहूँ? इस प्रकार एक-दूसरे में अविश्वास की भावना पैदा की गई और एक दिन उन सभी में इतना मनोमालिन्य हो गया कि एक लिच्छवी दूसरे लिच्छवी से बोलना भी पसन्द नहीं करता। सन्निपात भेरी बजाई गई, किन्तु कोई भी नहीं आया। 'वस्सकार' ने अजातशत्रु को प्रच्छन्न रूप से सूचना भेज दी। उसने ससैन्य आक्रमण

१ दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त, २/३ (१६)

किया। भेरी बजायी गयी पर कोई भी तैयार नहीं हुआ। अजातशत्रु ने नगर में प्रवेश किया और वैशाली का सर्वनाश कर दिया।[1]

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं ने मगध विजय और वैशाली नष्ट होने का विवरण प्रस्तुत किया है। जैन दृष्टि से चेटक अठारह गण देशों का नायक था। बौद्ध परम्परा उसे केवल प्रतिपक्षी ही मानती है। जैन दृष्टि से कूणिक के पास तैंतीस करोड़ सेना थी तो चेटक के पास सत्तावन करोड़ सेना थी। और दोनों ही युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख मानवों का संहार हुआ। बौद्ध दृष्टि से युद्ध का निमित्त है—रत्न राशि! जैन परम्परा में जैसे चेटक का प्रहार अमोघ बताया है, वैसे ही बौद्ध ग्रन्थों की दृष्टि से वज्जी लोगों के प्रहार अचूक थे। नगर की रक्षा का मूल आधार जैन दृष्टि से स्तूप को माना है तो बौद्ध दृष्टि से पारस्परिक एकता, गुरुजनों का सम्मान आदि बताया गया है। जितना व्यवस्थित वर्णन जैन परम्परा में है, उतना बौद्ध परम्परा में नहीं हो पाया है। वैशाली की पराजय में दोनों ही परम्पराओं में छद्म भाव का उपयोग हुआ है। वैशाली का युद्ध कितने समय तक चला? इस सम्बन्ध में जैन दृष्टि से एक पक्ष तक तो प्रत्यक्ष युद्ध हुआ और कुछ समय प्राकार-भंग में लगा। बौद्ध दृष्टि से 'वस्सकार' तीन वर्ष तक वैशाली में रहा और लिच्छवियों में भेद उत्पन्न करता रहा। डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अभिमतानुसार युद्ध की अवधि कम से कम सोलह वर्ष तक की है[2]

□

१ दीघनिकाय अट्ठकथा, खण्ड १, पृष्ठ ५२३

२ हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १८६

उपनय कथाएँ

जैन कथा साहित्य में इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं जिनसे किसी उपनय, रूपक या दृष्टान्त के माध्यम से उपदेश या शिक्षा दी गई है। इसमें कुछ प्राणि कथाएँ भी मिलती हैं तो कुछ रूपक भी हैं। ज्ञातासूत्र में इस प्रकार की उपनय कथाओं की बहुलता है। जिस पर यहाँ प्रकाश डाला है।

विजय तस्कर कथा

साधना की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है—पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति! और जब तक आसक्ति है, तब तक आत्मानन्द का अनुभव नहीं होता। जब इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का विष मिल जाता है, तब समाधिभाव नष्ट हो जाता है। श्रमण अपने शरीर पर भी ममत्व न रखे। वह आहार और पानी के द्वारा शरीर का संपोषण किस प्रकार करता है? यह दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रकार बताया है।

राजगृह में धन्ना सार्थवाह था। उसकी पत्नी भद्रा थी। अनेक मनौतियों के पश्चात् उसके पुत्र हुआ। उसका नाम 'देवदत्त' रखा। एक बार पंथक देवदत्त को बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर खेलने ने लिए ले जा रहा था। देवदत्त बालकों के साथ खेलने लगा। उधर से 'विजय' नामक तस्कर चोर आया और देवदत्त को उठाकर चल दिया। उसने आभूषण उतार लिये और देवदत्त को कुएँ में फेंक दिया, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। पंथक अनुचर को तो ध्यान ही नहीं रहा। जब उसे ध्यान आया तो बालक नदारद था। उसने बहुत ढूंढ़ा, जब वह नहीं मिला तो रोता-रोता घर पर आया। धन्ना सार्थवाह ने नगर-रक्षकों को सूचना दी। खोजने पर उन्हें अन्धकूप में बालक का शव मिला। पैरों के चिह्न को निहारते हुए वे सघन झाड़ियों में छिपे हुए विजय चोर के पास पहुँचे और उसे पकड़कर खूब मारा तथा कारागृह में बन्द कर दिया।

साधारण से अपराध के लिए धन्ना सार्थवाह को भी एक दिन

कारागृह में बन्द कर दिया गया। विजय तस्कर और धन्ना सार्थवाह दोनों एक ही बेड़ी में बद्ध थे। धन्ना सार्थवाह की पत्नी भद्रा ने बढ़िया भोजन कारागृह में भेजा। धन्ना सार्थवाह जब भोजन करने बैठा तो विजय तस्कर ने उस भोजन में से कुछ पदार्थ खाने के लिये मांगे। धन्ना सार्थवाह अपने पुत्र-घातक को उसमें से भोजन कैसे दे सकता था? उसने इन्कार कर दिया। जब धन्ना सार्थवाह को मल-मूत्र विसर्जन की बाधा उपस्थित हुई तो उन्होंने विजय तस्कर को कहा। क्योंकि वे दोनों एक ही बेड़ी में आबद्ध थे। वे एक दूसरे के बिना जा नहीं सकते थे, अतः विजय चोर ने कहा—मैं तो भूखा-प्यासा हूँ। तुम्हें जाना हो तो जाओ। कुछ समय तक वह मल-मूत्र रोकने का प्रयास करता रहा पर कब तक रोकता? अन्त में विवश होकर धन्ना सार्थवाह ने विजय चोर को आहार-पानी देने का वचन दिया, तब वह साथ में जाने लगा। आहार-पानी लाने का कार्य पंथक अनुचर का था। उसने सेठ को आहार देते हुए देखकर विचार किया—यह कैसा सेठ है? जो अपने पुत्र के हत्यारे को आहार दे रहा है। उसने सेठानी को कहा। सेठानी को अत्यधिक क्रोध आया कि सेठ पुत्र के हत्यारे का पोषण कर रहे हैं। कुछ समय के बाद सेठ को कारागृह से मुक्ति मिली। वह घर पर पहुँचा किन्तु सेठानी की मुद्रा को देखकर सेठ ने कहा—क्या तुझे मेरा कारागृह से मुक्त होना अच्छा नहीं लगा? भद्रा सार्थवाही ने कहा—आपने मेरे लाड़ले लाल के हत्यारे विजय चोर को आहार आदि दिया। यही मेरे कोप का कारण है। श्रेष्ठी ने कहा—कर्तव्य, धर्म या प्रत्युपकार की दृष्टि से नहीं, अपितु मल-मूत्रविसर्जन में सहायक होने की दृष्टि से आहारादि दिया था। यह सुनकर भद्रा को सन्तोष हुआ।

प्रस्तुत कथा-प्रसंग को देकर शास्त्रकार ने कहा—सेठ को विवशता से पुत्र घातक को भोजन देना पड़ा, वैसे ही साधक को संयमनिर्वाह के लिए आहार आदि शरीर को देना पड़ता है। श्रेष्ठी ने तस्कर को अपना परम हितैषी समझ कर भोजन नहीं दिया, पर कार्य-सिद्धि के लिए दिया, वैसे ही श्रमण भी ज्ञान, दर्शन की सिद्धि के लिए आहार ग्रहण करता है। (णाया. १/२) आगम साहित्य में श्रमण के आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। उस गुरुतम रहस्य को यहाँ कथा के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

मयूरी के अण्डे

आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। गीता में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञान' कहा है। इस विश्व में ज्ञान सबसे महान् है। वह ज्ञान श्रद्धा से प्राप्त होता है। भगवान् महावीर ने श्रद्धा को दुर्लभ ही नहीं, किन्तु परम दुर्लभ कहा है। अतः साधक को यह प्रेरणा दी है—"तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहि पवेइयं।" जिसका चित्त चंचल है, मन डांवाडोल है, वह सिद्धि को वरण नहीं कर सकता। सफलता के लिए श्रद्धा अनिवार्य है।

चम्पा नगरी में जिनदत्त-पुत्र और सागरदत्त-पुत्र ये दो सार्थवाह-पुत्र थे। दोनों अभिन्न मित्र थे। वे धूप-छाया की तरह साथ रहते थे। पर दोनों की वृत्ति एक-दूसरे से विपरीत थी। एक बार वे गणिका देवदत्ता के साथ सुरभि उद्यान में पहुँचे। स्नान, भोजन, संगीत, नृत्य का आनन्द लेते हुए वे सघन झाड़ियों में बने हुए 'मालूकाकच्छ' में गये। उन्हें यकायक निहार कर एक मयूरी घबराहट से केकारव करती हुई वृक्ष की शाखा पर जा बैठी। सार्थवाहपुत्रों को वहाँ पर दो अण्डे दिखाई दिये। दोनों ने एक-एक अण्डा उठा लिया। सागरदत्तपुत्र का मन शंकालु था, वह पुनः पुनः अण्डे को उलट-पुलट कर देखता कि कब अण्डे में से बच्चा बाहर निकलेगा। बार-बार हिलाने से अण्डा निर्जीव हो गया। जिनदत्त-पुत्र ने वह अण्डा मयूर-पालकों को सौंप दिया। बच्चा हुआ। उसे विविध प्रकार की नृत्यकलाएँ सिखाईं। सारे नगर में उसकी प्रसिद्धि हो गई।

(ज्ञाता धर्मकथा श्रु. १, अ. ३)

प्रस्तुत रूपक के माध्यम से यह बताया है कि 'संशयात्मा विनश्यति' और जो श्रद्धाशील होता है, वह सिद्धि को वरण करता है। इसी तरह चाहे श्रमण हो, चाहे श्रमणी हो, उन्हें श्रद्धानिष्ठ होकर साधना करनी चाहिए। जो श्रद्धा के साथ साधना करता है, वह सफलता को सम्प्राप्त होता है।

इस कथा के वर्णन से यह भी परिज्ञात होता है कि उस युग में भी मानव आज की तरह पशु-पक्षियों को प्रशिक्षण देता था। प्रशिक्षण देने पर पशु-पक्षी गण ऐसी कला प्रदर्शित करते, जिससे दर्शक मन्त्रमुग्ध हो जाते। पशु-पक्षी, जिनका जीवन विकल है, वे भी प्रशिक्षण से कलावान बन सकते हैं। यदि मानव शिक्षण के क्षेत्र में आगे बढ़े तो वह स्व और पर दोनों के जीवन का कल्याण कर सकता है।

कूर्म कथानक

वाराणसी के बाहर मृतगंगा तीर नामक द्रह (तालाब) था जिसमें रंग-बिरंगे कमल के फल खिल रहे थे। अनेक प्रकार के मच्छ, कच्छप, मगर, ग्राह, प्रभृति जलचर प्राणी उस तालाब में थे। एक समय दो कूर्म तालाब में से बाहर निकले और आसपास आहार की खोज में घूमने लगे। उसी समय दो सियार वहाँ आ पहुँचे। सियारों को देखकर कूर्म भयभीत हुए। उन्होंने अपने पैर, गर्दन और शरीर को छिपा लिया। सियारों की दृष्टि उन कछुओं पर पड़ी। वे उन पर झपटे। छेदन-भेदन करने का बहुत कुछ प्रयास किया, पर वे सफल न हो सके। सियार बहुत चालाक जानवर होता है। सियारों ने सोचा—जब तक ये अपने अंगों का गोपन किये हुए रहेंगे तब तक हम इनका बाल भी बांका नहीं कर सकेंगे। अतः हमें चालाकी से काम लेना चाहिए। वे दोनों सियार कूर्मों के पास से हट गये और झाड़ी में छिप गए। उन दोनों में से एक कूर्म चंचल प्रकृति का था। उसने धीरे-धीरे अपने अवयव बाहर निकाले। सियार उस पर झपटे और उसे मारकर खा गये। दूसरे कूर्म ने दीर्घकाल तक अपने अंगों को गोपन करके रखा। जब सियार चले गये तब वह शीघ्रता से तालाब में पहुँच गया। सियार उस कूर्म का बाल भी बांका नहीं कर सके। इसी तरह जो साधक अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में रखता है, उसकी किंचित् भी क्षति नहीं होती। (ज्ञाताधर्मकथा श्रु० १ अ० ४) सूत्रकृतांग[1] में भी अत्यन्त संक्षेप में कूर्म के रूपक को साधक के जीवन के साथ निरूपित किया है। श्रीमद् भगवतगीता में भी श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कछुए का दृष्टान्त दिया है।[2] तथागत बुद्ध ने भी साधक के जीवन के लिए कूर्म का रूपक प्रस्तुत किया है। इस तरह कूर्म का रूपक जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में इन्द्रियनिग्रह के लिए दिया गया है। कथा के माध्यम से देने के कारण यह रूपक अत्यन्त प्रभावशाली बन गया है।

---

१. जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे। एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे। —सूत्रकृतांग, प्र० श्रुत०, अ० ८, गाथा ४२६

२. यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। —श्रीमद् भगवद्गीता, २/५८

रोहिणीज्ञात—

ज्ञाताधर्मकथा श्रुतस्कंध प्रथम, अध्ययन सात में रोहिणीज्ञात का दृष्टान्त है। राजगृह नगर में धन्य सार्थवाह के धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित—ये चार पुत्र थे। उनकी उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी—ये चारों क्रमशः पत्नियाँ थीं। धन्य सार्थवाह अत्यन्त दूरदर्शी था। जब वह वृद्धावस्था से ग्रसित हो गया तो उसे अपने कुटुम्ब की सुव्यवस्था की चिन्ता हुई। चारों पुत्रवधुओं की परीक्षा के लिए उसने एक समारोह में पाँच-पाँच शालि के दाने उन्हें दिये और कहा—जब भी मैं माँगू तब मुझे पुनः देना। प्रथम पुत्रवधू ने सोचा—श्वसुरजी की बुद्धि मारी गई है, यही कारण है कि इतना बड़ा समारोह करके केवल पाँच दाने दिये हैं और उस पर भी पुनः लौटाने की बात! यहाँ दानों की क्या कमी है, वे जब भी माँगेंगे उस समय मैं इन्हें दे दूँगी। यह सोचकर उन दानों को उसने फेंक दिया। द्वितीय पुत्रवधू से सोचा—यद्यपि दानों का मूल्य नहीं है तथापि पूज्य श्वसुर का यह दिव्य प्रसाद है, यह सोचकर उसने वे दाने खा लिये। तृतीय पुत्रवधू ने सोचा—किसी विशिष्ट अभिप्राय से ये दाने दिये गये हैं, अतः इन्हें सम्भाल कर रखना उपयुक्त है। चतुर्थ पुत्रवधू बुद्धिमती थी। उसने सोचा—कोई न कोई गूढ़ रहस्य इसमें छिपा हुआ है। उसने पाँचों दाने मायके भेज दिये। उसकी सूचना के अनुसार वे दाने खेत में बो दिये गये। पाँच वर्षों में दानों के अम्बार लग गये। पाँच वर्ष के पश्चात् श्रेष्ठी ने दाने माँगे। सभी ने सत्य कह दिया। पहली पुत्रवधू को घर की सफाई का कार्य सौंपा। द्वितीय पुत्रवधू को भोजनशाला का कार्य दिया गया क्योंकि वह खाने में दक्ष थी। तृतीय पुत्रवधू को कोषाध्यक्ष पद पर नियुक्त किया। चतुर्थ पुत्रवधू ने पाँच दाने माँगने पर जब अनाज का ढेर लगा दिया तो उसे गृहस्वामिनी के पद पर आसीन किया और कहा—तू वस्तुतः यशस्विनी पुत्रवधू है। तेरे कारण ही यह घर फलेगा-फूलेगा।

प्रस्तुत रूपक के माध्यम से शास्त्रकार ने कहा—जो साधक प्रथम पुत्रवधू की भाँति महाव्रतों को ग्रहण करके फक (छोड़) देते हैं, वे इस भव और परभव में सर्वत्र अवहेलना के भाजन होते हैं। जो महाव्रतों को ग्रहण कर सांसारिक उपभोगों में लग जाते हैं, वे भी निन्दा के पात्र हैं। जो साधक रक्षिता की भाँति महाव्रतों को सुरक्षा करते हैं वे प्रशंसा के पात्र होते हैं और जो साधक रोहिणी की भाँति सद्गुणों की अभिवृद्धि करता है, वह परमानन्द का भागी बनता है।

प्रोफेसर टाइमन ने अपनी जर्मन पुस्तक "बुद्ध और महावीर" में बाइबिल की मैथ्यू और लूक की कथा के साथ इस कथा की तुलना की है। वहाँ पर शालि के दानों के स्थान पर टैलेन्ट[1] शब्द का प्रयोग किया है। टैलेन्ट उस युग का सिक्का विशेष था। एक व्यक्ति ने विदेश जाते समय अपने तीन पुत्रों को दस-दस टैलेन्ट दिये थे। एक ने व्यापार के द्वारा उनकी अत्यधिक वृद्धि की, दूसरे पुत्र ने उन्हें जमीन में गाड़ दिये और तीसरे ने खर्च कर दिये। लौटने पर पिता प्रथम पुत्र पर बहुत ही प्रसन्न हुआ।

आकर्ण : उत्तम जाति का अश्व

ज्ञाताधर्म कथा श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन १७ में अश्वज्ञात का वर्णन है। जो साधक इन्द्रियों के वशवर्ती होकर अनुकूल विषयों की उपलब्धि होने पर उसमें लुब्ध हो जाते हैं, वे रागवृत्ति के कारण भव-भ्रमण करते हैं। उन्हें अनेक प्रकार की व्यथायें भी सहन करनी पड़ती हैं और जो उनमें आसक्त नहीं होते, वे सांसारिक यातनाओं से बच जाते हैं। जैसे—हस्तिशीर्ष नगर के कुछ व्यापारी नौका में बैठकर जा रहे थे। एकाएक तूफान से नौका डगमगाने लगी। निर्यामक को भी यह भान नहीं रहा कि नौकाएँ कहाँ जा रही हैं? कुछ समय के पश्चात् तूफान शान्त हुआ। निर्यामक ने देखा—नौकाएँ कालिक द्वीप के किनारे जा लगी हैं। वहाँ उन्होंने हीरे-पन्ने-स्वर्ण और चाँदी की खदानें देखीं। उन्होंने वहाँ बढ़िया घोड़े भी देखे। उन्हें घोड़ों से कोई प्रयोजन नहीं था। अतः पर्याप्त धन लेकर वे अपने नगर लौट आये। जब व्यापारीगण राजा कनककेतु के पास बहुमूल्य उपहार लेकर पहुंचे तो राजा ने पूछा—तुमने कोई अद्भुत वस्तु देखा है क्या? उन्होंने कालिक द्वीप के घोड़ों की बात कही। राजा के आदेश से व्यापारी पुनः कालिक पहुँचे। उन्होंने सुगन्धित और सुस्वादु पदार्थ चारों ओर बिखेर दिये। इन्द्रियों के वशीभूत होकर कुछ घोड़े उन पदार्थों का उपभोग करने के लिए उधर आये और वे उनके जाल में फँस गये। जो घोड़े उन पदार्थों के प्रति आकर्षित नहीं हुए वे अपने आपको मुक्त रख सके। इसी तरह जो साधक इन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह पथभ्रष्ट

---

१. टैलेन्ट (talent) शब्द का वास्तविक अर्थ बुद्धि तथा मानसिक विशिष्ट शक्ति होता है।

हो जाता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि व्यापारी अश्वों को पकड़ने के लिए जब गये तब बल्लकी, भ्रामरी, कच्छभी, बम्बा, पटभ्रमरी, आदि विविध प्रकार की वीणायें, विविध प्रकार के चित्र, सुगन्धित पदार्थ, गुड़िया-मत्स्यंडिका, शक्कर, मत्स्यंडिका पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर प्रकार की शर्कराएँ और विविध प्रकार के वस्त्र लेकर पहुँचे थे। इससे यह स्पष्ट है कि भारत में विविध प्रकार की कलायें तथा साधन-सामग्री उलब्ध थीं जो यहाँ की संस्कृति की उन्नति का सहज प्रतीक हैं।

मृगापुत्र

विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम अध्ययन प्रथम में मृगापुत्र का कथानक आया है। जैन साहित्य में कर्म-सिद्धान्त का बहुत ही विस्तारपूर्वक सांगोपांग वर्णन किया गया है। वह वर्णन जिज्ञासुओं के लिए रसप्रद होने पर भी सहज सुगम नहीं है। प्रस्तुत कथानक में कथा के द्वारा इस विषय को बहुत ही सुगम और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है तथा कर्म-विपाक की प्ररूपणा की है। मृगापुत्र प्रकृष्ट पापकर्म के उदय से जब रानी के गर्भ में आया तो रानी राजा को अप्रिय हो गई। राजा उसे देखना भी पसन्द नहीं करता। रानी सोचने लगी—मैं राजा की इतनी अधिक प्रिय-पात्र थी कि मुझे बिना निहारे राजा को चैन नहीं पड़ता थी। एकाएक यह परिवर्तन कैसे हो गया? सम्भव है, गर्भ ने अपना प्रभाव दिखाया हो! बच्चे का जन्म हुआ। वह अन्धा, बहरा, लूला, लंगड़ा और हुण्डक संस्थानी था। उससे शरीर में हाथ, पैर, कान, नाक आदि अवयवों का अभाव था। केवल उनके चिह्न मात्र थे। मृगादेवी ने उसे घूरे पर फिंकवाना चाहा, पर राजा के समझाने से उसने उस बालक को गुप्त रूप से भू-गृह में रख दिया। उस नगरी में एक जन्मान्ध भिखारी था। उसे निहार कर गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—भगवान! क्या किसी स्त्री के कोई बच्चा जन्म से ही अन्धा होता है? भगवान् के मृगापुत्र की बात बताते हुए कहा—वह लूला, लँगड़ा, अन्धा और बहरा है। प्रभु की आज्ञा से गौतम उसे देखने के लिए पहुँचे। उसके शरीर में से मृत सर्प की तरह भयंकर दुर्गन्ध आ रही थी। वह जो भी आहार करता, रक्त और मवाद बनाकर बाहर निकलता और उसे वह पुनः खा जाता। उसको देखते ही गणधर गौतम को नारकीय दृश्य स्मरण हो आया। भगवान् ने उसके पूर्वभव का वर्णन करते हुए कहा—इस जीव ने पूर्वभव में अनेक पाप-

कृत्य किये थे। जिसके फलस्वरूप उसे उस जन्म में सोलह महारोग हुए। वहाँ से मरकर यह नरक में गया। नरक से निकलकर यह 'मृगापुत्र' हुआ है। यहाँ भी यह पाप-फल भोग रहा है। इसके पश्चात् भी अनेक जन्मों तक यह पाप का फल भोगेगा।

प्रस्तुत कथा में यह बताया है—शासन या सत्ता प्राप्त होने पर जो उसका दुरुपयोग करता है,प्रजा पर अनुचित कर लादता है,रिश्वत लेता है, उसे इस पाप का फल इस प्रकार भोगना पड़ता है। आधुनिक वातावरण में पले-पुसे सत्ता के लोभी शासकों के लिए यह कथा सर्चलाइट की तरह उपयोगी है।

उज्झितक कथानक

गौ-मांसभक्षण, मद्यपान और विषयासक्ति के दुःखद फलों को बताने के लिए 'उज्झितक' कुमार की कथा दी गई है। 'उज्झितक' वाणिज्यग्राम के विजयमित्र सार्थवाह का पुत्र था। गौतम गणधर वाणिज्यग्राम में भिक्षा के लिए पधारे। उन्होंने अत्यधिक कोलाहल सुना। उन्हें मालूम हुआ कि राजा के अधिकारीगण किसी व्यक्ति को बाँधकर मारते-पीटते हुए ले जा रहे हैं। गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—इसे इतना कष्ट क्यों दिया जा रहा है ? भगवान् ने उत्तर में कहा—हस्तिनापुर में 'भीम' नामक एक कूट-ग्राह अर्थात् पशुओं का तस्कर रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'उत्पला' था। जब वह गर्भवती हुई तब उसे गाय, बैल आदि के मांस खाने की इच्छा हुई। उसकी पूर्ति की गई। गायों को त्रास देने के कारण उसका नाम 'गोत्रास' रखा गया। वह जीवन भर गौ-मांस का उपयोग करता रहा। वहाँ से मरकर वाणिज्यग्राम' में 'विजयमित्र' के यहाँ पर यह 'उज्झितक' नाम का पुत्र हुआ। जब यह बड़ा हुआ तब इसके माता-पिता का देहान्त हो गया। नगर-रक्षक ने इसे घर से निकाल दिया। कुसंगति में पड़ने से द्यूतगृह, वेश्यागृह, मद्यगृह आदि में घूमने लगा। वाणिज्यग्राम में 'कामध्वजा' वेश्या थी। वह अत्यन्त रूपवती और कलाओं में दक्ष थी। उनके अनुपम सौन्दर्य पर उज्झितक आसक्त हो गया। कामध्वजा वेश्या राजा को भी प्रिय थी। अतः राजा ने अपने अनुचरों से उसे पकड़वाया और उसकी खूब मरम्मत की। उसे शूली पर चढ़ाया गया। पाप कर्म के कारण यह नरक आदि गतियों में परिभ्रमण करेगा। यह विषयासक्ति का कटु परिणाम है।

प्रस्तुत कथानक में यह बात प्रतिपादित की गई है कि हँसते हुए व्यक्ति पाप कृत्य करता है, उसका फल जब प्राप्त होता है तब रो-रोकर भुगतने पर भी वह छूटता नहीं है।

(विपाकसूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन २)

अभग्नसेन

पाप की दारुण कथा का इसमें चित्रण हुआ है। पुरिमतालशालाटवी चोरपल्ली में 'विजय' नाम का एक तस्कर अधिपति रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'खंदसिरी' था। उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'अभग्नसेन' रखा गया। गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने उनका पूर्वभव सुनाते हुए कहा—अभग्नसेन पूर्वभव में 'निन्नय' नामक अण्डों का व्यापारी था। वह कबूतरी, मुर्गी, मोरनी आदि के अण्डों को स्वयं एकत्रित करता, दूसरों से करवाता, फिर उन अण्डों को आग पर तलता, भूनता और उन्हें बेचकर अपना जीविकोपार्जन करता तथा स्वयं अण्डों का भक्षण भी करता था, जिसके फलस्वरूप वह तृतीय नरक में उत्पन्न हुआ और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर 'अभग्नसेन' तस्कर हुआ है। इसने प्रजा के तन, धन, जन का अपहरण कर उन्हें विविध यातनाएँ दीं जिससे राजा ने क्रुद्ध होकर पकड़ने के लिए अनेक प्रयास किये, पर वह सफल न हो सका। एक बार विराट उत्सव का आयोजन कर उसे आमंत्रित किया गया। अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर उसे शूली पर चढ़ाया गया। पाप का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। (विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन ३)

शकट

'शकट' साहंजनी ग्राम के 'सुभद्र' नामक सार्थवाह का पुत्र था। गणधर गौतम ने देखा—राजपथ पर अनेक व्यक्तियों से घिरा हुआ एक व्यक्ति खड़ा है और उसके पीछे एक महिला भी। उन दोनों के नाक कटे हुए थे तथा गाढ़ बन्धनों में वे जकड़े हुए भी थे। उच्च स्वर से वे पुकार रहे थे—हम अपने पाप का फल भोग रहे हैं। गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—ये कौन हैं? और इन्होंने ऐसा कौन-सा पापकृत्य किया है जिसका ये फल भोग रहे हैं? भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—'छगलपुर' नगर में 'छन्निक' नामक कसाई था। वह विविध प्रकार के पशुओं का मांस बेचता था। इस पाप के फलस्वरूप वह मरकर चतुर्थ नरक में गया और वहाँ से निकलकर वैश्य सुभद्र की पत्नी 'भद्रा' की कुक्षि से

पैदा हुआ तथा सप्त कुव्यसनों का सेवन करने लगा। 'सुदर्शना' नामक वेश्या से वह प्रेम करता था। प्रधान-अमात्य 'सुषेण' भी उस वेश्या पर अनुरक्त था। सुषेण ने एक बार वेश्या के साथ उसे देखा और उस पर कुपित हो गया। सुषेण की आज्ञा से एवं पूर्वकृत पाप कर्मों के कारण इन दोनों की यह स्थिति हुई है। इस प्रकार हिंसकवृत्ति व दुराचार के कारण यह अनेक जन्मों में दुःख पायेगा।

यह सत्य है कि किये हुए कर्मों को भोगना पड़ता है। यद्यपि नास्तिक या भौतिकवादी व्यक्तियों को यह विश्वास नहीं होता। "कृतस्य कर्मणो नूनं, परिणामो भविष्यति" व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। यदि उसे यह ध्यान हो जाये कि मुझे कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तो वह कर्म बांधने से अपने आपको बचाने का प्रयास करेगा।

प्रस्तुत कथानक में यही रहस्य व्यक्त किया गया है। (विपाक सूत्र श्रुत स्कन्ध प्रथम, अध्ययन ४)

बृहस्पतिदत्त

बृहस्पतिदत्त कोशाम्बी के 'सोमदत्त' पुरोहित का पुत्र था। वह पूर्व-भव में 'महेश्वरदत्त' नाम का राजपुरोहित था। वह राजा की बलवृद्धि और स्वास्थ्य लाभ के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के बालकों को मारकर नरमेध यज्ञ करता था। जिस पाप के फलस्वरूप वहाँ से मरकर वह पाँचवीं नरक में गया और वहाँ से निकलकर वह 'बृहस्पतिदत्त' हुआ है। राजकुमार का 'बृहस्पतिदत्त' पर अत्यधिक स्नेह था। अतः राजा की मृत्यु के बाद वह राजपुरोहित बना। महारानी पर अनुरक्त हो जाने से राजा ने इसे मृत्यु दण्ड दिया। इस प्रकार पूर्वकृत कर्मों के कारण यह विविध योनियों में परिभ्रमण करता रहेगा।

(विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम अध्ययन ५)

नन्दीवर्धन कुमार

नन्दीवर्द्धन 'श्रीदाम' राजा का पुत्र था। वह पूर्वभव में किसी राजा के यहाँ कोतवाल था। अपराधियों को अत्यधिक क्रूर दण्ड देकर वह आनन्द की अनुभूति करता था। जिस पाप के फलस्वरूप वह मरकर छठी नरक में गया। नरक से निकलकर राजा का पुत्र 'नन्दीवर्द्धन' हुआ।

उसने अपने पिता को मारकर स्वयं राज्य लेना चाहा और उस षड्यन्त्र में उसने एक नाई का सहयोग लिया। समय से पूर्व ही रहस्य खुल जाने से राजा ने अपने हत्यारे पुत्र नन्दीवर्द्धन को प्राणदण्ड दिया। पूर्वकृत कर्मों के कारण इसे अनेक जन्मों तक भयंकर दुःख भोगना पड़ेगा। कथा का सार यह है कि अपराधी व्यक्ति को भी निर्दयता से दण्ड नहीं देना चाहिए और दण्ड देकर आह्लादित नहीं होना चाहिए। (विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन ६)

उम्बरदत्त

उम्बरदत्त 'सागरदत्त' सार्थवाह का पुत्र था। पूर्वभव में वह एक कुशल वैद्य था तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा में निष्णात था। वह रुग्ण व्यक्तियों को मद्य, मांस, मत्स्य भक्षण का उपदेश देता और कहता—इससे तुम्हें शीघ्र स्वास्थ्य लाभ होगा। इस पाप के फलस्वरूप वह छठी नरक में पैदा हुआ और वहाँ से मरकर यह 'उम्बरदत्त' हुआ है। दुराचार के सेवन से और पूर्वकृत पाप कर्मों के कारण इसके शरीर में सोलह महारोग पैदा हुए। यहाँ से मरकर यह अनेक जन्मों में दुःख प्राप्त करेगा। इस प्रकार पूर्व में कृत पाप कर्मों का फल प्रत्येक जीव को भोगना ही पड़ता है—यह बात कथा के माध्यम से स्पष्ट की गई है। (विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन ७)।

शौरिकदत्त

शौरिकदत्त समुद्रगुप्त नामक एक धीवर का पुत्र था। शौरिकदत्त पूर्वभव में किसी राजा के यहाँ भोजन निर्माण का कार्य करता था। वह भोजन में विविध प्रकार के पशु-पक्षी व मत्स्य के मांस को तैयार कर स्वयं भी खाता और राजा को भी खिलाकर आनन्दित होता था जिसके फल-स्वरूप वह मरकर छठी नरक में पैदा हुआ और वहाँ से निकल कर यह 'शौरिकदत्त' हुआ। यह एक दिन मछली को भूनकर खा रहा था कि मछली का काँटा इसके गले में चुभ गया। अनेक प्रयत्न करने पर भी वह काँटा नहीं निकला। भयंकर वेदना से कष्ट पाकर इसने आयु पूर्ण किया और मरकर नरक आदि गतियों में परिभ्रमण करेगा। प्रस्तुत कथानक में भी पाप के फल का ही चित्रण किया गया है और यह सन्देश दिया गया है कि पाप के कार्यों से बचा जाय। (विपाक सूत्र १, अध्ययन ८)

देवदत्ता

देवदत्ता 'दत्त' नाम के गृहपति की कन्या थी। 'वेश्रमणदत्त' राजा के पुत्र 'कुशनन्दी' के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। कुशनन्दी माता का परम भक्त था। वह तेल आदि से माता का मर्दन करता। उसकी हर प्रकार की सुख-सुविधा का ध्यान रखता पर देवदत्ता को यह बात पसन्द नहीं थी, इसीलिए रात्रि में सोती हुई सास को देवदत्ता ने मार दिया। राजा को ज्ञात होने पर उसने देवदत्ता के वध की आज्ञा दी। इस प्रकार वह पूर्वकृत पाप के कर्मों के कारण अनेक जन्मों तक दारुण वेदना का अनुभव करती रहेगी। (विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन ९)

अंजू कथानक

अंजू 'धनदेव' सार्थवाह की कन्या थी। 'विजय' नामक राजा के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। गुह्य स्थान पर भयंकर शूल रोग पैदा होने से अंजू को अपार कष्ट हुआ। नाना प्रकार के उपचार करवाये, किन्तु रोग शान्त नहीं हुआ। जिससे उसके शरीर की कान्ति नष्ट हो गई। एक बार गणधर गौतम ने उसकी अस्थि-पंजरसम काया देखी तो भगवान् से जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान् महावीर ने उसके पूर्वजन्म का वर्णन करते हुए कहा—यह पूर्वभव में वेश्या थी। उस पाप के कारण ही इस जन्म में इसे कष्ट भोगना पड़ रहा है। इसके पश्चात् भी इसे अनेक जन्मों तक कष्ट भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार 'मृगापुत्र' से लेकर 'अंजू' कथानक तक दस कथायें दी गई हैं। इनका मूल आधार विपाक सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध है। इन दसों कथाओं के सभी पात्र ऐतिहासिक ही हों, यह बात नहीं है। किन्तु पौराणिक और प्राग् ऐतिहासिक काल के पात्र हैं। इन सभी कथाओं में हिंसा, स्तेय और अब्रह्म के कटुक परिणाम प्रतिपादित किये गये हैं, पर असत्य और महापरिग्रह के परिणामों की चर्चा नहीं हुई है। शास्त्रकार का मूल उद्देश्य यही है कि साधक पाप से निवृत्त हों और शुभ भावों में परिणति करें तथा शुद्धता की ओर अग्रसर हों।

इस दृष्टि से गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने विविध प्रसंग बताकर जीवन का महान तथ्य उजागर किया। (विपाक सूत्र श्रुतस्कन्ध प्रथम, अध्ययन १०)।

पूरण बाल तपस्वी

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा की—भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर को दिव्य देव ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई ? भगवान् ने कहा—बेभेल सन्निवेश में 'पूरण' गृहपति था। उसने तामली तापस की तरह अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सँभालाकर 'दानामा' प्रव्रज्या ग्रहण की। बेले के चारणे में चार खण्ड वाला लकड़ी का पात्र लेकर वह भिक्षा के लिए निकलता। प्रथम खण्ड में आने वाली भिक्षा पथिकों को देता, दूसरे खण्ड की भिक्षा कौवे और कुत्तों को खिलाता, तीसरे खण्ड की भिक्षा मछलियों और कछुओं को खिलाता और चतुर्थ खण्ड की भिक्षा स्वयं ग्रहण करता। इस प्रव्रज्या में दान की प्रधानता होने से यह प्रव्रज्या 'दानामा' कहलाती थी। क्योंकि वह तीन खण्डों में से दान दे देता तथा केवल एक खण्ड का ही आहार करता और वह भी दो दिन के बाद में। जब 'पूरण' बालतपस्वी का शरीर अत्यन्त कृश हो गया, उसे यह अनुभव हुआ कि अब मैं साधना करने में समर्थ नहीं हूँ तब उसने पादपोपगमन संथारे के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया। भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—हे गौतम ! मैं उस समय छद्मस्थ अवस्था में था। मुझे दीक्षा ग्रहण किये हुए ग्यारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। ग्रामानुग्राम विचरता हुआ मैं 'सुषमापुर' नगर के अशोक वनखण्ड में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्ट पर अट्ठम तप कर और एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर कर तथा एक रात्रि की महाप्रतिमा को धारण कर ध्यानस्थ था। उस समय 'पूरण' बालतपस्वी साठ भक्त का अनशनपूर्ण कर 'चमरचंचा' राजधानी में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसने सौधर्म कल्प में शक्रेन्द्र को दिव्य भोग भोगते हुए अवधिज्ञान से देखा। चमरेन्द्र के मन में आक्रोश पैदा हुआ कि यह कौन है ? सामानिक देवों ने कहा—वे शक्रेन्द्र हैं। चमरेन्द्र ने कहा—वह दुरात्मा मेरे सिर पर बैठा हुआ है ? सामानिक देवों ने निवेदन किया—शक्रेन्द्र ने पूर्व अर्जित पुण्यों के प्रभाव से यह विपुल ऋद्धि और अतुल पराक्रम प्राप्त किया है। इतना सुनते ही चमरेन्द्र का क्रोध अति प्रबल हो उठा। वह युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हुआ। सभी देवों ने ऐसा न करने के लिए आग्रह किया, पर उसने अपना हठ नहीं छोड़ा।

चमरेन्द्र ने सोचा—शक्रेन्द्र महान् पराक्रमी है तो मैं पराजित होकर किसकी शरण लूंगा? वह मेरे पास आया और कहने लगा—मैं अपकी शरण

से शक्रेन्द्र को जीत लूंगा। अतः उसने एक लाख योजन का वैक्रिय रूप बनाया और अपने शस्त्र को घुमाता हुआ तथा गम्भीर गर्जना से देवों को भयभीत करता हुआ सौधर्मेन्द्र पर लपका। उसने एक पैर सौधर्मावतंसक विमान की वेदिका पर रखा और दूसरा पैर सुधर्मा सभा पर। उसने शस्त्र से इन्द्रकील पर तीन बार प्रहार किया और सौधर्मेन्द्र को अपशब्द कहे।

सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान से सब कुछ जान लिया। उसने चमरेन्द्र पर प्रहार करने के लिए वज्र को फेंका। चमरेन्द्र भय से भयभीत बना हुआ अपने शरीर का संकोच करता है और "आपकी शरण है—आपकी शरण है" इस प्रकार चिल्लाता हुआ अपना सूक्ष्म रूप बनाकर मेरे पैरों में छिप गया। शक्रेन्द्र ने देखा—बिना अरिहन्त की शरण के असुर यहाँ आ नहीं सकता। यह भगवान् महावीर की शरण लेकर यहाँ आया और पुनः उनकी शरण में पहुँच गया है। वज्र भगवान् के अत्यन्त निकट पहुँच चुका है, केवल चार अंगुल दूर रहने पर शक्रेन्द्र ने उसका संहरण कर लिया। शक्रेन्द्र ने भगवान् को वन्दन कर चमरेन्द्र से कहा—तुम भगवान् महावीर की असीम कृपा से बच गये हो। अब भयभीत मत बनो। यह कहकर शक्रेन्द्र अपने स्थान पर लौट गया।

गणधर गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—देव, जो दिव्य शक्ति का धनी है, वह किसी पुद्गल को पहले फेंककर फिर उस पुद्गल को पीछे से जाकर पकड़ने में समर्थ है या नहीं? भगवान ने कहा—वह समर्थ है, क्योंकि जो पुद्गल प्रक्षिप्त किया जाता है उसकी गति पहले शीघ्र होती है तथा बाद में मन्द हो जाती है किन्तु दिव्य ऋद्धि वाले देव की गति पहले भी शीघ्र होती है और बाद में भी।

गौतम ने दूसरी जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! यदि देव पीछे से पुद्गल को पकड़ने में समर्थ है तो शक्र असुरेन्द्र को क्यों नहीं पकड़ सका? भगवान ने फरमाया—असुरेन्द्र की नीचे जाने की गति तीव्र होती है और ऊपर जाने की गति मन्द और मन्दतर होती है। वैमानिक देवों की ऊर्ध्व गति तीव्र होती है और अधोगति मन्द होती है। असुरेन्द्र एक समय में जितने क्षेत्र नीचे जा सकता है उतने क्षेत्र नीचे जाने में शक्रेन्द्र को दो समय लगते हैं और वज्र को तीन समय लगते हैं। इस कारण से शक्रेन्द्र असुरेन्द्र को पकड़ने में समर्थ नहीं है।

असुरेन्द्र अपने स्थान पर पहुँचा। उसने सोचा—मैंने ठीक नहीं

किया। शक्रेन्द्र ने मेरा भयंकर अपमान किया है। सामानिक देवों ने कहा—आप चिन्तामुक्त हों। असुरेन्द्र ने कहा—जिन महाप्रभु भगवान् महावीर की शरण लेकर मैं बच सका हूँ उनका मेरे पर महान उपकार है, अतः हम सब वहाँ चले। वह अपनी दिव्य ऋद्धि के साथ भगवान् महावीर के पास आया और बत्तीस प्रकार के नाट्य दिखाकर स्व-स्थान को लौट गया। गौतम ने पूछा—भगवन्! क्या असुरेन्द्र मुक्त होंगे? भगवान ने उत्तर दिया—हाँ, यह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्त होंगे।

स्थानांग में दस आश्चर्यों का वर्णन है। आश्चर्य का अर्थ है—कभी-कभी होने वाली विशेष घटना! सामान्य रूप से जो घटना नहीं होती पर अनन्त काल के पश्चात् स्थिति विशेष से जो घटना होती है, उसे आश्चर्य की संज्ञा दी गई है। चमर कभी सौधर्म सभा में जाते नहीं और वे गये, यह आश्चर्य है।

(भगवती शतक ३ उद्देशक २)

महाशुक्र देवों का आगमन

एक बार महाशुक्र देवलोक से दो देव आये और भगवान् महावीर को वन्दना करके बोले—भगवन्! आपके कितने शिष्य सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे? महाप्रभु महावीर ने उत्तर दिया—मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे। यावत् सभी दुःखों का अन्त करेंगे।

गणधर गौतम ने प्रथम ध्यान समाप्त कर द्वितीय ध्यान में प्रवेश करने के पूर्व यह सोचा—ये दो महाऋद्धि और महाप्रभावशाली देव कौन आये हैं? मैं उन्हें नहीं जानता। ये किस विमान से और किसलिए आये है? भगवान् महावीर ने गौतम के अन्तर्मानस की बात बताते हुए कहा—तेरे मन में इस प्रकार के विचार उद्‌बुद्ध हुए थे, अतः तू उन्हीं देवों से पूछ। गौतम ज्योंही देवों के सामने जाने लगे, देवों ने उठकर गौतम को वन्दन किया और कहा—भगवन्! हम महाशुक्र नामक सातवें स्वर्ग से आये हैं। हमने भगवान से प्रश्न किया—आपके कितने शिष्य सर्व दुःखों का अन्त कर मुक्त होंगे? भगवान् ने मन से ही उत्तर दिया—मेरे सात सौ शिष्य सिद्धि को वरण करेंगे। गणधर गौतम तथा अन्य शिष्यों को भगवान् के दिव्य ज्ञान पर आश्चर्य हुआ। इस लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी से छिपा हो, वे हस्तामलकवत् सभी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानते देखते हैं।

(भगवती शतक ५, उद्‌देशक ४)

धर्मकथानुयोग महाग्रन्थ[1]

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य में से एक सौ चौदह कथाओं का धर्मकथानुयोग में संकलन हुआ है। चक्रवर्ती षट्खण्डों पर विजय पताका फहराता है, वैसे ही इस ग्रन्थ में भी छह खण्ड हैं जो साधक के अन्तर्जीवन पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए हैं। इन खण्डों में निम्न आगमों से कथाएँ उट्टंकित की गई हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरौपपातिक, विपाक, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, निरयावलिया, कल्पावतंसिका, पुप्फिया, पुपफचूलिया, वृष्णिदशा, उत्तराध्ययन, नन्दीसूत्र, दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र। आगम साहित्य में जहाँ भी कथायें प्राप्त हुई हैं या उस सम्बन्धी स्रोत उपलब्ध हुए हैं, उन सभी का यह श्रेष्ठ आकलन संकलन है।

प्राचीन आगमों की सूचियों के अनुसार आगमों में कथाओं का अक्षय कोष था। ज्ञातासूत्र में ही हजारों आख्यायिकाए थीं।

ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस कथाएँ हैं।

(१) उत्क्षिप्त ज्ञात—मेघकुमार (२) संघाट (३) अण्डक (४) कूर्म (५) शैलक (६) रोहिणी (७) मल्ली (८) माकंदी (९) चन्द्र (१०) दावद्रव वृक्ष (११) तुम्ब (१२) उदक (१३) मंडूक (१४) तेतलीपुत्र (१५) नन्दीफल (१६) अमरकंका (द्रौपदी) (१७) आकीर्ण (१८) सुषमा (१९) पुण्डरीक-कण्डरीक।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में अनेक कथायें हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) काली (२) राजी (३) रजनी (४) विद्युता (५) मेघा (६) शुंभ (७) निसुंभा (८) रंभा (९) निरंभा (१०) मदणा (११) ईला (१२) सतेरा (१३) सौदामिनी (१४) इन्द्रा (१५) घना (१६) विद्युता (१७) रुचा (१८) सुरुचा (१९) रुचांशा (२०) रुचकावती (२१) रुचकान्ता (२२) रुचप्रभा (२३) कमला (२४) कमलप्रभा (२५) उत्पला (२६) सुदर्शना (२७) रूपवती (२८) बहुरूपा (२९) सुरूपा (३०) सुभगा (३१) पूर्णा (३२) बहुपुत्रिका (३३) उत्तमा (३४) भारिका (३५) पद्मा (३६) बसुमती (३७) कनका (३८)

[1] यह बृहद् निबन्ध धर्मकथानुयोग भाग १ की प्रस्तावना रूप है।

कनकप्रभा (३९) अवतंसा (४०) केतुमती (४१) वज्रसेना (४२) रतिप्रिया (४३) रोहिणी (४४) नवमिका (४५) ह्री (४६) पुष्पवती (४७) भुजगा (४८) भुजंगवती (४९) महाकच्छा (५०) अपराजिता (५१) सुघोषा (५२) विमला (५३) सुस्वरा (५४) सरस्वती (५५) सूर्यप्रभा (५६) आतपा (५७) अचिमाली (५८) प्रभंकरा (५९) चन्द्रप्रभा (६०) दोषीनाभा (६१) अचिमाली (६२) प्रभंकरा (६३) पद्मा (६४) शिवा (६५) सती (६६) अंजू (६७) रोहिणी (६८) नवमिका (६९) अचला (७०) अप्सरा (७१) कृष्णा (७२) कृष्णरानी (७३) रामा (७४) रामरक्षिता (७५) वसु (७६) वसुगुप्ता (७७) वसुमित्रा (७८) वसुन्धरा।

उपसंहार

इस प्रकार सम्प्रति कुल ९७ कथाएँ हैं। उनमें कितनी ही कथाएँ तो केवल नाम मात्र की हैं। उन कथाओं में सूचनाओं के अतिरिक्त घटनाओं का अभाव है।

भाषा की दृष्टि से इन कथाओं में कितनी ही कथाओं की भाषा तो इतनी लालित्यपूर्ण है कि पाठक को सहसा संस्कृत के कादम्बरी ग्रन्थ का स्मरण हो आता है। इन कथाओं की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इन कथाओं का मूल उद्देश्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, श्रद्धा, इन्द्रियविजय आदि आध्यात्मिक तत्वों का सरल शैली में निरूपण करना है। इन कथाओं में धर्म और वैराग्य का ही विशेष रूप से उपदेश दिया गया है।

समस्त कथाओं का आलोड़न करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि कथाओं में विभिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियाँ है, जो विभिन्नता में भी समानता बनाये हुए हैं। हम स्थूल रूप से उन प्रवृत्तियों को निम्न रूप से विभक्त कर सकते हैं—

१. शील, सदाचार और संयम का विश्लेषण।

२. आत्मा के प्रति निष्ठा और उसके विशोधन के विभिन्न उपाय।

३. मानवता की पुण्य प्रतिष्ठा के लिए जातिभेद और वर्गभेद की निस्सारता का निरूपण करना।

४. उच्च गति की प्राप्ति के लिए आहार विहार की विशुद्धि और स्वयं के पापों की आलोचना।

५. आत्म-संशुद्धि के लिए आलोचना प्रतिक्रमण के साथ ही प्रायश्चित्त और विविध प्रकार के तपों का निरूपण।

६. साधना मार्ग के स्वरूप को समझाने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र का विश्लेषण।

७. आचार की विशुद्धि अहिंसा से और विचार की विशुद्धि अनेकांत—स्याद्वाद् से ही सम्भव है। अतः उन सिद्धान्तों की प्ररूपणा।

८. भौतिकवाद की मृग-मरीचिका अध्यात्मवाद की वास्तविकता से ही मिट सकती है। इस बात का अनेक दृष्टियों से निरूपण किया गया है। दया, ममता, करुणा आदि सद्गुणों के उद्घाटन से मानवता की प्रतिष्ठा हो सकती है। राग द्वेष आदि के संस्कार अनात्मभाव के प्रतीक हैं। मानव स्वयं का भाग्य विधाता है। वह परोक्ष शक्ति का पल्ला छोड़कर अपने पुरुषार्थ में विश्वास करता है।

९. हिंसामूलक वैदिक क्रियाकाण्डों का वैचारिक विरोध है।

१०. यात्रा सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी।

११. कर्मवाद की गुरु ग्रन्थियों को कथाओं द्वारा सुगम रीति से व्यक्त किया है। पुण्य और पाप का सफल चित्रण भी इसमें विवेचित है।

१२. शोषित और शोषक में समता लाने हेतु अपरिग्रह एवं संयम का निरूपण।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास के विकास में इस आगमिक कथा साहित्य का गौरवपूर्ण स्थान है। उस युग की उदात्त संस्कृति का इन कथाओं ने यत्र-तत्र निरूपण हुआ है। इन कथाओं में कितने ही पात्र प्राग् ऐतिहासिक काल के हैं तो कितने ही पात्र ऐतिहासिक काल के हैं और कितने ही पात्र पौराणिक और काल्पनिक भी हैं।

इन कथाओं में तात्कालिक सामाजिक और सांस्कृतिक जन-जीवन का पता चलता है। आर्य और अनार्य के रूप में दो मुख्य जातियाँ थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण थे। जैन दृष्टि से जो व्यक्ति सदाचारी है, वह आर्य है। यदि ब्राह्मण, भी सदाचार रहित है तो वह अनार्य है। जातिमद में उन्मत्त बने हुए ब्राह्मणों का विरोध करते हुए स्पष्ट कहा—'कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होता है।' केवल सिर मुँडा लेने से श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने मात्र से मुनि नहीं होता कुश और चीवर को धारण करने से तपस्वी नहीं होता; अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। इस तरह जातिवाद एवं वर्णवाद का खण्डन कर कर्म को महत्व दिया

गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए उच्च कुलोत्पन्न शब्द व्यवहृत हुआ है। वैश्य का मुख्य कार्य व्यापार था, इसलिए उनके लिए 'वणिक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। शूद्रों की स्थिति शोचनीय थी, किन्तु भगवान् महावीर ने शूद्रों को साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने का अधिकार दिया। 'हरिकेशबल' चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु उन्होंने उच्च पद प्राप्त किया। पारिवारिक जीवन में मुख्य रूप से पुरुष ही शासक होता था। अपवाद रूप से स्त्रियाँ भी शासन करती थीं, जैसे—थावच्चापुत्र की माता! ग्रन्थ में नारी के सभी रूप प्रकट हुए हैं—माता, पत्नी, बहन, वधू, पुत्री, पुत्रवधू, वेश्या आदि। नारी के पतित और आदर्श ये दोनों रूप बताये गये हैं। नारी जहाँ वासना के दलदल में फँसती है, वहाँ वह स्वयं भी पतित होती है और दूसरों को भी पतित करती है और जब नारी अपने स्वरूप को पहचानती है तो वह पुरुषों को सन्मार्ग पर लाती है, जैसे—रथनेमि को राजीमती ने, इषुकार राजा को रानी कमलावती ने प्रतिबुद्ध किया। उस युग में पशुधन पर्याप्त था। पशु विविध कार्यों में उपयोगी थे, हाथी और घोड़ों का उपयोग युद्ध में होता था। हाथियों में 'गंधहस्ती' सर्वश्रेष्ठ था और घोड़ों में कम्बोज देशोत्पन्न घोड़े सुशिक्षित, युद्धोपयोगी और श्रेष्ठ माने जाते थे। कालिकद्वीप के अश्व भी उत्तम नस्ल के माने जाते थे। आनन्द आदि श्रावकों के पास हजारों गायों के गोकुल थे। पशुओं को शिक्षण भी दिया जाता था। शिक्षित पशु-पक्षी जन-जन का मनोरंजन भी करते थे। व्यापार सुदूर प्रदेशों में भी चलता था। समुद्र यात्रायें भी होती थीं पर आज की तरह उस युग में समुद्र यात्रा सरल नहीं थी। कई बार संचालक मार्ग भूलकर दिशाभ्रमित हो जाता था। तूफान आने पर रक्षा के लिए समुचित साधन नहीं थे। मुख्य रूप से उस समय सोलह महारोग प्रचलित थे। बहुत से चिकित्सक भी थे, जो वमन, विरेचन, औषधि सेवन, धूम्रप्रदान, नेत्रस्नान, सर्वौषधिस्नान, मन्त्र विद्या आदि के द्वारा चिकित्सा करते थे। उस युग में मंत्र-तंत्र, शक्ति तथा शुभाशुभ फल प्रदान करने वाले तन्त्रों में भी विश्वास था। समाज में सुख-शांति बनाये रखने के लिए शासन व्यवस्था थी। शासन करने वाला राजा कहलाता था। वे प्रायः एक देश के स्वामी होते थे। वे अपने देश की उन्नति के लिए प्रयत्न करते थे। सभी देशों पर एकछत्र राज्य करने वाला 'चक्रवर्ती' कहलाता था। सभी राजागण चक्रवर्ती को नमस्कार करते थे। लावारिस सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था।

राजागण अपनी कोषवृद्धि के लिए जागरूक रहते थे। चोर आदि को दण्ड दिया जाता था। भयंकर अपराध होने पर मृत्युदण्ड का भी विधान था। वधस्थान पर ले जाते समय अपराधी की एक निश्चित वेशभूषा थी। उसे शहर में घुमाया जाता, जिससे अन्य लोग वैसा कार्य न करें। शरणागत की रक्षा के लिए प्राणों की भी बाजी लगाई जाती थी। नाट्यकला, स्थापत्यकला, संगीतकला, चित्रकला आदि कलाओं के विकास में राजा और श्रेष्ठियों का योगदान होता था। जन-मानस की प्रवृत्ति भोगविलास की ओर अधिक थी। उस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करने के लिये साधुगण कठिन परीषह सहन कर ग्रामानुग्राम विचरण करते और अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो को त्यागमार्ग का पावन उपदेश प्रदान करते थे। इस प्रकार प्रस्तुत धर्मकथानुयोग में उस युग के समाज और संस्कृति का परिचय मिलता है। किसी एक काल विशेष की रचना न होने से इसमें चित्रित समाज और संस्कृति को एक कालविशेष का पूर्ण चित्र नहीं कह सकते तथापि तात्कालिक समाज और संस्कृति की झलक विभिन्न प्रसंगों में अवश्य मिलती है।

मेरी दृष्टि से जैन कथा साहित्य का वैदिक और बौद्ध साहित्य के साथ तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन होना चाहिए। उस अध्ययन में बहुत कुछ नये तथ्य प्रकट हो सकते हैं। आज आवश्यकता है—शोधार्थियों को व्यापक दृष्टि से अनुसंधान करने की। मैंने अपनी प्रस्तावना में कुछ कथाओं का इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। इस कार्य को अधिक व्यापक रूप देने की आवश्यकता है।

○

आगमोत्तरकालीन कथा साहित्य

['उपमिति भव-प्रपंच कथा' पर प्रस्तावना]

भगवान महावीर विहार यात्रा पर थे। चलते-चलते, वे जब उस वन के निकट पहुँचे, जिसमें चण्डकौशिक विषधर रहता था, तब वहाँ पर गायें चरा रहे ग्वालों ने महावीर से कहा—'इधर एक भयंकर सर्प रहता है। अतः आप इधर से न जाकर, उधर वाले रास्ते से चले जावें।'

ग्वालों के कथन का, महावीर पर जरा भी असर न हुआ। वे, निर्विकार भाव से, अपने पथ पर आगे बढ़ चले।

ग्वालों ने, उन्हें उसी रास्ते पर जाते देखा, जिस पर जाने से उन्होंने उन्हें मना किया था, तो वे भयभीत और आशंकित मन से सोचने लगे—'यह संत, अब बच नहीं सकेगा, शायद!'

मैंने, आगमों में उल्लिखित इस घटना-क्रम पर जब-जब भी चिन्तन किया, मुझे लगा—'भय, सर्प की विकरालता में नहीं है, उसके जहरीलेपन में भी नहीं है। अपितु, व्यक्ति के अपने मन में भय रहता है। कोई भी व्यक्ति जब स्वयं क्रोध से भरा होता है, तब उसे, सर्वत्र क्रोध ही क्रोध नजर आता है। उसके मन में, जब अशान्ति समाई होती है, तब, सारा संसार उसे अशान्त दिखलाई पड़ता है। ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठा और संत्रासों से परिपूरित मन, सारे संसार में, अपनी ही कलुषित कालिमा को छाया हुआ देखता है। और, अपने मन में जब शान्ति हो, संतोष हो, निर्मलता हो, समता हो, सरलता हो, अमरता हो, तब, विश्व का सारा वातावरण भी उसे शान्त, सन्तुष्ट, निर्मल आदि रूपों में दृष्टिगोचर होगा।

वन-वन विहारी महावीर का मन, शान्ति, सन्तुष्टि, सहजता, समता, सरलता आदि मानवीय गुणों से लेकर दयालुता, परदुःखकातरता आदि अतिमानवीय गुणों को भी अपने में प्रतिष्ठापित कर चुका था। मृत्यु का भय, हमेशा-हमेशा के लिए उसमें से विगलित हो चुका था और उसके

स्थान पर उसमें अनन्त अमरता समाहित हो चुकी थी। ऐसे में, ग्वालों के भय-आशंका पूरित निवेदन से, भला वे क्यों सहमते ? अपना पथ-परिवर्तन क्यों करते ?

ग्वालों द्वारा निषिद्ध पथ पर, अपने दृढ़ कदम बढ़ाने के पीछे, महावीर का यह आशय भी नहीं था कि वे उन ग्वालों के ग्राम्य-मन पर प्रभाव डालना चाहते हों कि निर्ग्रन्थ संत, काल की विकरालता से भी भयभीत नहीं होते। बल्कि, उनके मन में, ग्वालों के पूर्वोक्त कथन-श्रवण से प्रादुर्भूत वह करुणापूरित भाव आन्दोलित हो उठा था, जिसमें पापी चण्डकौशिक के विद्रोही मन में भरी विकरालता को विगलित करके, उसके स्थान पर, उसमें अमृतत्व समाहित कर देने की चाह निहित रही थी।

वस्तुतः स्वयं के अभ्युदय और उत्कर्ष की परम-समृद्धि को सम्प्राप्त कर लेना 'जिनत्व' और 'कैवलित्व' की साधना की सफलता का द्योतक हो सकता है, पर, 'तीर्थङ्करत्व' को चरितार्थता तो तभी सार्थक बन पाती है, जब एक केवली, एक जिन, भव-भयत्रस्त मानवता के मन में अमृतत्व को प्रतिष्ठित कर पाने में सफल बनता है। महावीर के उक्त आचरण में, गोपालों द्वारा वर्जित मार्ग पर ही अग्रसर होने के मूल में, महावीर के तीर्थङ्करत्व की सफलता और चरितार्थता का एक सार्थक चिरस्थायी मानदण्ड स्थापित होने का संयोग पूर्व निर्धारित था; इस बात को, वे बखूबी जानते थे।

महावीर जानते थे कि चण्डकौशिक के मन में बसी विकरालता को, भयंकरता को निकाल कर फेंक देने के बाद, एक बार उसमें अमृत-ज्योति जगमगा उठी, तो फिर उसका सारा जीवन, अपने आप ज्योतिर्मय बन जायेगा।

महर्षि सिद्धर्षि प्रणीत, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रस्तावना-लेखन के इस प्रसङ्ग में, आगम-वर्णित उक्त घटनाक्रम और उससे जुड़ा मेरा चिन्तन, आज मुझे सहसा स्मरण हो आया। इसलिए कि महर्षि सिद्धर्षि का आशय भी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन के प्रसङ्ग में, बहुत कुछ वैसा ही रहा है, जैसा कि किसी तीर्थङ्कर के पवित्र जीवन-दर्शन के अध्ययन-मनन, चिन्तन से आप्लावित आचरण में प्रतिस्फूर्त होना चाहिए। सिद्धर्षि जानते थे - चण्डकौशिक की भयङ्करता, बाह्य जगत की भयङ्करता पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसका आधार, उसके मन में, उसके अन्तस् में, गहराई तक जड़ें जमाये बैठा था। रावण भी, इसलिए

'राक्षस' नहीं था कि जगत का बाह्य परिवेश राक्षसी था, बल्कि, वह इसलिए राक्षस था कि उसका स्वयं का समग्र अन्तःकरण 'राक्षसत्व' से, 'रावणत्व' में सराबोर रहा।

इसलिए, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन का श्रमसाध्य दायित्वपूर्ण आचार, इस आशा के साथ निभाया कि यदि एक जीवात्मा का अन्तःकरण भी, ज्ञान के आलोक से एक बार जगमगा उठा, तो उसका समग्र जीवन, ज्योतिर्मय बनने में देर नहीं लगेगी। इस आशय को, उन्होंने अपने इस कथा-ग्रन्थ में स्वयं स्पष्ट किया है—'इस ग्रन्थ को मैं इसलिए बना रहा हूँ कि इसमें प्रतिपादित ज्ञान आदि का स्वरूप, सर्वजन-ग्राह्य हो सकेगा। यदि, कदाचित् ऐसा न भी हो सका, तो भी, संसार के समस्त प्राणियों में से किसी एक प्राणी ने भी, इसका अध्ययन, मनन और चिन्तन करके, अपने आचरण को शुद्धभाव रूप में परिणमित कर लिया, और वह सन्मार्ग पर आ लिया, तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल हुआ मानूंगा।'[1]

संस्कृत भाषा एवं साहित्य का विकास-क्रम

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न शब्द है—'संस्कृत'। जिसका अर्थ होता है—'एक ऐसी भाषा, जिसका संस्कार कर दिया गया हो।' इस संस्कृत भाषा को 'देववाणी' या 'सुरभारती' आदि कई नामों से जाना/पहिचाना जाता है। आज तक जानी/बोली जा रही, विश्व की तमाम परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम भाषा 'संस्कृत' ही है। इस निर्णय को, विश्व भर का विद्वद्वृन्द एक राय से स्वीकार करता है।

भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विश्व की सिर्फ दो ही भाषाएँ ऐसी हैं, जिनके बोल-चाल से संस्कृतियों/सभ्यताओं का जन्म हुआ, और, जिनके लिखने/पढ़ने से व्यापक साहित्य/वाङ्मय की सर्जना हुई। ये भाषाएँ हैं—'आर्य भाषा' और 'सेमेटिक भाषा'। इनमें से पहली भाषा 'आर्यभाषा' की दो प्रमुख शाखाएँ हो जाती हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी शाखा का पुनः दो भागों में विभाजन हो जाता है। ये विभाग हैं—ईरानी और भारतीय।

ईरानी भाषा में, पारसियों का सम्पूर्ण मौलिक धार्मिक साहित्य लिखा पड़ा है। इसे 'जेन्द अवेस्ता' के नाम से जाना जाता है। भारतीय

१ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रथम प्रस्ताव, पृष्ठ १०३

शाखा में संस्कृत भाषा ही प्रमुख है। जेन्द अवेस्ता की तरह, संस्कृत भाषा में भी समग्र भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। आज के भारत की सारी प्रान्तीय भाषाएँ, द्रविड़ मूल की भाषाओं को छोड़कर संस्कृत से ही निःसृत हुई हैं। संस्कृत, समस्त आर्य भाषाओं में प्राचीनतम ही नहीं है, बल्कि, उसके (आर्यभाषा के) मौलिक स्वरूप को जानने/समझने के लिए, जितने अधिक साक्ष्य, संस्कृत भाषा में उपलब्ध हो जाते हैं, उतने, किसी दूसरी भाषा में नहीं मिलते।

पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रैंच, जर्मन, अंग्रेजी आदि सारी यूरोपीय भाषायें सम्मिलित हो जाती हैं। इन सब का मूल उद्गम 'आर्यभाषा' है।

संस्कृत भाषा के भी दो रूप हमारे सामने स्पष्ट हैं—वैदिक और लौकिक, यानी लोकभाषा। वैदिक संहिताओं से लेकर वाल्मीकि के पूर्व तक का सारा साहित्य वैदिक भाषा में है। जब कि वाल्मीकि से लेकर अद्यन्तनीय संस्कृत रचनाओं तक का विपुल साहित्य 'लौकिक संस्कृत' में गिना जाता है, यही मान्यता है विद्वानों की।

दरअसल, आर्यों के पुरोहित वर्ग ने, अपने धार्मिक क्रिया-कलापों के लिए जिस परिष्कृत/परिमार्जित भाषा को अंगीकार किया, वही भाषा, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का माध्यम बनी। कालान्तर में इसके स्वरूप-व्यवहार में धीरे-धीरे होता आया परिवर्तन, जब स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, तब उसे पुनः परिष्कृत करके, एक नये व्याकरण शास्त्र के नियमों में ढाल कर, नया स्वरूप प्रदान कर दिया गया। इस नये परिष्कृत स्वरूप को ही लौकिक संस्कृत के नाम से जाना गया।

कुछ आधुनिक भाषा-शास्त्रियों की मान्यता है—संस्कृत का साहित्य भण्डार, यद्यपि काफी प्रचुर है, तथापि, उसे जन-साधारण के बोल-चाल/पठन-पाठन की भाषा बनने का गौरव कभी नहीं मिल पाया। इन विद्वानों की दृष्टि में, संस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसमें, सिर्फ साहित्यिक सर्जना भर की सामर्थ्य रही, और है। उसकी यह कृत्रिमता ही, उसे शिष्ट व्यक्तियों के दायरे तक सीमित बनाये रही। इसलिए, इसे 'भाषा' कहने की बजाय 'वाणी' 'भारती' आदि जैसे समादरणीय सम्बोधन दिये गये।

किन्तु; उपलब्ध लौकिक साहित्य में ही कुछ ऐसे अन्तःसूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे, यह स्पष्टतः फलित होता है कि 'संस्कृत' शिष्ट, विप्र,

पुरोहित वर्ग के सामान्य व्यवहार की भाषा तो थी ही, साथ ही यह एक बड़े जन-समुदाय के बीच भी बोल-चाल के लिए व्यवहार में लायी जाती थी।

यह बात अलग है कि इसी मुद्दे को लेकर, विद्वानों में दो अलग-अलग प्रकार की मान्यताएं उभर कर सामने आ चुकी हैं। एक दृष्टि से 'संस्कृत' मात्र साहित्यिक भाषा थी। बोल-चाल की सामान्य भाषा 'प्राकृत' थी। दूसरे मत में—संस्कृत; भारतीय जन-साधारण के बोल-चाल की भी भाषा रही। किन्तु प्राकृत भाषा के उदय के फलस्वरूप, इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होता चला गया। तथापि, शिष्ट-वर्ग में, इसका दैनंदिन उपयोग व्यवहार में बना रहा।

आर्यावर्त के विद्वान ब्राह्मण 'शिष्ट' माने जाते थे। भले ही, संस्कृत का परिपक्व बोध उन्हें हो, या न हो। पर, आनुवंशिक परम्परा से, उनके बोल-चाल में, शुद्ध संस्कृत का प्रयोग अवश्य होता रहा। यही वजह थी, उनके प्रयोगों को आदर्श मानकर, दूसरे लोग भी, उनकी देखा-देखी शब्दों का शुद्ध प्रयोग किया करते थे।[1] इन शब्दों के उच्चारण में अशुद्धि होती रहे, वह एक दूसरी बात थी। क्योंकि वे, संज्ञा पदों के रूप में, प्रायः प्राकृत शब्दों को ही संस्कृत जैसा रूप देकर प्रयोग करते थे। कई स्थानों पर, क्रियापदों में भी अशुद्धियां देखी जा सकती हैं। बहुत कुछ ऐसा ही अन्तर, रामायण में देखने को मिल जाता है।

ब्राह्मणों की शुद्ध वाणी और जनसाधारण की संस्कृत भाषा में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है।[2] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने भाष्य में 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर, एक वैयाकरण और एक सारथी के बीच हुए विवाद का आख्यान दिया है।[3] महर्षि पाणिनि ने भी, ग्वालों की बोली में प्रचलित शब्दों का, और द्यूत-क्रीड़ा सम्बन्धी प्रचलित शब्दों का भी उल्लेख किया है। बोल-चाल में प्रयोग आने वाले अनेकों मुहावरों को भी पाणिनि

---

१ एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः अगृह्यमान-कारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चित् विद्यायाः पारंगताः, तत्र भवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्।

—६-३-१०९ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य

२ एच. याकोबी — डस रामायण—पृष्ठ-११५

३ २-४-५६ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य,

ने भरपूर स्थान दिया है। जैसे—दण्डा-दण्डि, केशा-केशि, हस्ता-हस्ति आदि। महाभाष्य में भी, ऐसे न जाने कितने प्रयोग मिलेंगे, जिनका प्रयोग आज भी ग्राम्य-बोलियों तक में मिल जायेगा।[1]

महर्षि कात्यायन के समय, संस्कृत में नये-नये शब्दों का समावेश होने लगा था। नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा था। जैसे—पाणिनि ने 'हिमानी' और 'अरण्यानी' शब्दों को स्त्रीलिंग-वाची शब्दों के रूप में मान्यता दी थी।[2] किन्तु, कात्यायन के समय तक, ऐसे शब्दों का प्रचलन, कुछ मायनों में रूढ़ हो चुका था। या फिर उनका अर्थ-विस्तार हो चुका था। उदाहरण के रूप में, पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द का प्रयोग 'यवन की स्त्री' के लिये किया था। यही शब्द, कात्यायन काल में 'यवनी लिपि' के लिए प्रयुक्त होने लगा था।[3]

पाणिनि का समय, विक्रम पूर्व छठवीं शताब्दी, कात्यायन का समय विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी, और पातञ्जलि का समय विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है। पाणिनि से पूर्व, महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी। निरुक्त में, वेदों के कठिन शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्य की गई है। निरुक्तकार की दृष्टि में, सामान्यजनों की बोली, वैदिक संस्कृता से भिन्न थी। इसे इन्होंने 'भाषा' नाम दिया। और, वैदिक कृदन्त शब्दों की जो व्युत्पत्ति बतलाई, उसमें, लोक-व्यवहार में प्रयोग आने वाले धातु-शब्दों को आधार माना।[4]

संस्कृत के उन तमाम शब्दों का उल्लेख भी निरुक्त में किया गया है, जो संस्कृत से प्रान्तीय भाषाओं में, या तो रूपान्तरित हो चुके थे, या फिर उन्हें विशिष्ट प्रयोगों में काम लिया जाता था।[5] पाणिनि ने 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' सूत्र के उदाहरण के रूप में 'आयुष्मान् एधि देवदत्त' जैसे उदाहरणों के साथ-साथ, अलग-अलग क्षेत्रों में प्रयुक्त और रूपान्तरित

---

१ करोतिरभूत् प्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। —महाभाष्य १-३-१

२ हिमारण्ययोर्महत्वे। —१-१-११४ पर वार्तिक

३ यवनाल्लिप्याम् —४/१/१२४ पर वार्तिक,

४ भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। —निरुक्त २/२

५ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्थेषु भाष्यन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। —निरुक्त-२/२

शब्दों एवं मुहावरों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। जिससे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि निरुक्तकार की ही भाँति पाणिनि ने भी 'संस्कृत' को 'भाषा' माना है।

भारत के अनेकों संस्कृत प्रेमी राजाओं ने, यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का प्रयोग किया जाये। राजशेखर ने इस प्रसंग की प्रामाणिकता के लिए साहसाङ्कपदवीधारी उज्जयिनी नरेश विक्रम का उल्लेख किया है।[1] और, इसी सन्दर्भ में ग्यारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा धारा नरेश भोज का नाम भी लिया जा सकता है।[2] ये सारे प्रमाण स्वतः बोलते हैं कि संस्कृत, मात्र ग्रन्थों में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा नहीं थी, अपितु वह 'लोक-भाषा' थी। बाद में 'लोक' शब्द से जन-साधारण का बोध न करके, मात्र 'शिष्ट' व्यक्तियों का ही बोध किया जाने लगा, ऐसा प्रतीत होता है।

वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में, सीताजी के साथ, किस भाषा में बातचीत की जाये ? यह विचार करते हुए, हनुमान के मुख से, बाल्मीकि ने कहलवाया है[3]—'यदि द्विज के समान, मैं संस्कृत वाणी बोलूँगा, तो सीताजी मुझे रावण समझकर डर जायेंगी।' वस्तुतः, भाषा शब्द, उस बोली के लिए प्रयुक्त होता है, जो लोक-जीवन के बोलचाल में प्रयुक्त होती है। महर्षि यास्क[4] ने और महर्षि पाणिनि[5] ने भी, इसी अर्थ में 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। सिर्फ एक बात अवश्य गौर करने लायक है। वह यह कि 'भाषा' के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग, इन पुरातन-ग्रन्थों में नहीं मिलता।

वाक्य-विश्लेषण, तथा उसके तत्वों की समीक्षा करना, किसी भाषा का संस्कार कहा जाता है। प्रकृति, प्रत्यय आदि के पुनः संस्कार द्वारा

---

१ काव्यमीमांसा—पृष्ठ-५०

२ संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—पं० बलदेवजी उपाध्याय, पृष्ठ ४२८-४३, काशी—१९६९

३ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृतम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥
—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड ५-१४

४ भाषायामन्वध्यायश्च-निरुक्त १-४

५ भाषायां सदवसश्रुवः—अष्टाध्यायी-३/२/१०८

'संस्कृत' होने के कारण इसका नाम 'संस्कृत' रखा गया, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि, बाल्मीकि रामायण के उक्त उदाहरण से ऐसा अनुमानित होता है कि बाल्मीकि के समय में, प्राकृत आदि का उदय, लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में हो चुका था। धीरे-धीरे ये जन-साधारण में प्रधानता प्राप्त करने लगी हों तब इन भाषाओं से पृथकता प्रदर्शित करने के लिए इसे 'संस्कृत' नाम दे दिया गया। दण्डी (सप्तम शतक) ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृत से इसका भेद प्रदर्शित करने के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग 'देववाणी' के लिए किया है।[1]

भाषा-शास्त्रियों का मत है कि—देववाणी में, प्राचीन काल में, प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं था। सम्भव है, तब उसका प्रतिपाद पाठ आज की वैज्ञानिक विधि जैसा न दिया जाता हो। इससे देववाणी के जिज्ञासुओं को न केवल कठिन श्रम करना पड़ता रहा होगा, बल्कि, अधिक समय भी उन्हें देना पड़ता होगा। इसी कारण से, देवताओं ने, इसके अध्ययन-ज्ञान की सुगम और वैज्ञानिक परिपाटी निर्धारित करने के लिए, देवराज इन्द्र से प्रार्थना की होगी। और, तब इन्द्र ने, शब्दों को बीच से तोड़कर, उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग की सरल अध्ययन प्रक्रिया सुनिश्चित की होगी। बाल्मीकि, पाणिनि आदि के द्वारा प्रयुक्त 'संस्कृत' शब्द, इसी संस्कार पर आधारित प्रतीत होता है। वैयाकरणों की यह भी मान्यता है कि देवराज इन्द्र द्वारा, इसकी सुगम, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक पद्धति निर्धारित करने, और देवों की भाषा होने के कारण, इसे 'देववाणी' या 'दैवी वाक्' कहा जाता था। लोक-व्यवहार में आने पर, इसका जो संस्कार, पाणिनि (५०० ई० पूर्व) से लेकर पतञ्जलि (२०० ई० पूर्व) तक लगातार चलता रहा, उसी से इसे 'संस्कृत' नाम मिला।

इन संस्कर्ताओं/वैयाकरणों ने, देववाणी का जो संस्कार किया, उसका, यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि पाणिनि से पूर्व काल में इसका स्वरूप असंस्कृत अवस्था में था। क्योंकि व्याकरण का लक्ष्य भाषा का निर्माण या उसकी संरचना करना नहीं होता अपितु, उसके शब्दों का शुद्ध स्वरूप निर्माण करना होता। संस्कृत के शब्दों का अस्तित्व पाणिनि से पहले था ही, इन्होंने तो मात्र यह निर्देश किया कि 'षष' के स्थान पर

---

१ संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः।
—काव्यादर्श-१/३३

'शश', 'पलाष' के स्थान पर 'पलाश' और 'मंजक' के स्थान पर 'मञ्चक' का प्रयोग शुद्ध शब्द-प्रयोग है।

पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्र देश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। किन्तु उसकी प्राचीनता विक्रम से मात्र ४००० वर्ष पूर्व तक जा सकी है। जबकि विज्ञों ने संस्कृत की प्रथम रचना ऋग्वेद को हजारों वर्ष प्राचीन माना है। ऋग्वेद के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु, गणित के कुछ अकाट्य तर्कों के बल पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इसका जो रचना-काल बतलाया है, वह विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व का ठहरता है। विश्व में किसी भी भाषा का ऐसा साहित्य नहीं है, जो आज से आठ हजार वर्ष पूर्व का हो। इस प्राचीनता के बावजूद संस्कृत साहित्य की रसवती धारा आज तक अविच्छिन्न रूप से सतत प्रवाहशील बनी हुई है। विश्व के अन्य साहित्यों के साथ अविच्छिन्नता की कसौटी पर संस्कृत साहित्य को जांचा-परखा जायेगा तो यह साहित्य सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

वेदों की मंत्र-संहिताओं की रचना के बाद इनकी व्याख्या का समय आता है। इस समय के ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है। ब्राह्मणों के बाद 'आरण्यक' और फिर 'उपनिषद्' ग्रन्थ रचे गये। इनके बाद का काल स्पष्ट रूप से वैदिक और लौकिक साहित्य के साहित्य का 'सन्धिकाल' माना जा सकता है। जिसमें स्मृतियों, पुराणों और रामायण व महाभारत जैसे आर्षकाव्यों की रचनाओं को लिया जा सकता है। आशय यह है कि महर्षि बाल्मीकि की रामायण से पूर्व के साहित्य को हम 'वैदिक-साहित्य' और रामायण से लेकर आज तक के संस्कृत साहित्य को लौकिक-साहित्य' के नाम से अभिहित कर सकते हैं। विषय, भाषा, भाव आदि अनेकों दृष्टियों से लौकिक साहित्य का विशिष्ट महत्व है।

वैदिक साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें विभिन्न देवताओं को लक्ष्य करके यज्ञ-याग आदि के विधान और उनकी कमनीय स्तुतियाँ संजोयी गई हैं। इसलिये इस साहित्य को मुख्यतः धर्म-प्रधान साहित्य कहा जाता है। जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य मुख्यतः लोकवृत्त प्रधान है। इसकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर विशेष प्रवृत्ति हुई है। जिसमे धर्म की व्याख्या/वर्णना में वैदिक साहित्य का विशेष प्रभाव स्पष्ट होने पर भी कई मायनों में नूतनता उजागर हुई है। ऋग्वेद काल में जिन देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा थी, प्रमुखता थी, वे लौकिक साहित्य की परिधि में

आकर गौण ही नहीं बन जाते वरन् उनमें से कुछ के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे देवों की उपासना को अधिक महत्व मिल जाता है।

तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताओं से गद्य की जिस गरिमा का प्रवर्तन होता है वह गरिमा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिष्ठित होती हुई उपनिषद् काल तक अपना उदात्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। लौकिक साहित्य का उदय होते ही गद्य का इस हद तक ह्रास होने लगता है कि ज्योतिष और चिकित्सा जैसे वैज्ञानिक विषयों तक में छन्दोबद्ध पद्य-परम्परा अपना स्थान बना लेती है। व्याकरण और दर्शन के क्षेत्र में गद्य का अस्तित्व रहता जरूर है किन्तु यहां पर वैदिक गद्य जैसा प्रसाद सौन्दर्य विलीन हो जाता है। और उसका स्थान दुर्बोधता एवं दुरूहता ग्रहण कर लेती है।

साहित्यिक गद्य की गरिमा भी कथानकों और गद्य काव्यों में दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, वैदिक गद्य की तुलना में इसमें कई एक न्यूनताएँ साफ दिखलाई दे जाती हैं।

पद्य की भी जिस रचना तकनीक को लौकिक साहित्य में अंगीकार किया गया है वह वैदिक छन्द-तकनीक से ही प्रसूत प्रतीत होती है। पुराणों में और रामायण-महाभारत में सिर्फ 'श्लोक' की ही बहुलता है। परवर्ती लौकिक साहित्य में वर्णनीय विषय-वस्तु को लक्ष्य करके छोटे-बड़े कई प्रकार के नवीन छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिनमें लघु-गुरु के विन्यास पर विशेष बल दिया गया है। कुल मिलाकर देखा जाये तो वैदिक पद्य साहित्य में जो स्थान गायत्री, त्रिष्टुप, तथा जगती छन्दों के प्रचलन को मिला हुआ था वही स्थान उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका जैसे छन्द, लौकिक साहित्य में बना लेते हैं।

संस्कृत साहित्य में सिर्फ धर्मग्रन्थों की ही अधिकता है, ऐसी बात नहीं है। भौतिक जगत के साधनभूत 'अर्थ' और 'काम' के वर्णन की ओर भी लौकिक साहित्यकारों का ध्यान रहा है। अर्थशास्त्र का व्यापक अध्ययन करने के लिए और राजनीति का पण्डित बनने के लिये कौटिल्य का अकेला अर्थशास्त्र ही पर्याप्त है। इसके अलावा भी अर्थशास्त्र को लक्ष्य करके लिखा गया विशद साहित्य संस्कृत में मौजूद है। कामशास्त्र के रूप में लिखा गया वात्स्यायन का ग्रन्थ गृहस्थ जीवन के सुख-साधनों पर व्यापक प्रकाश डालता है। इसी के आधार पर कालान्तर में अनेकों ग्रन्थों की सर्जनाएँ हुई। 'मोक्ष' को लक्ष्य करके जितना विशाल साहित्य संस्कृत

भाषा में लिखा गया उसकी बराबरी करने वाला विश्व की भाषा में दूसरा साहित्य मौजूद नहीं है।

इन चारों परम-पुरुषार्थों के अलावा विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य और पशु-पक्षियों के लक्षणों से सम्बन्धित अगणित ग्रन्थ/रचनायें, संस्कृत-साहित्य की विशालता और व्यापकता का जीवन्त उदाहरण बनी हुई हैं। वस्तुतः संस्कृत के श्रेयः और प्रेयः शास्त्रों की विशाल संख्या को देख कर, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा व्यक्त की गई घटनाएँ और उनके उद्गार कहते हैं—संस्कृत-साहित्य का जो अंश मुद्रित होकर अब तक सामने आया है, वह ग्रीक और लेटिन भाषाओं के सम्पूर्ण साहित्यिक ग्रन्थों के कलेवर से दुगुना है। इस प्रकाशित साहित्य से अलग, जो साहित्य अभी पाण्डु-लिपियों के रूप में अप्रकाशित पड़ा है, और जो साहित्य विलुप्त हो चुका है, उस सबकी गणना कल्पनातीत है।

भारतीय सामाजिक परिवेष मूलतः धार्मिक है। फलतः भारतीय संस्कृति भी धार्मिक आचार-विचारों से ओत-प्रोत है। आस्तिकता इसका धरातल है। इसका उन्नततम स्वरूप, स्वयं को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान बना लेने में अथवा ऐसे ही परमस्वरूप में अटूट आस्था प्रतिष्ठापित करने में दिखलाई पड़ता है। भारतीय मान्यता है—सांसारिक क्लेश और राग आदि, मानव जीवन को न सिर्फ कलुषित बना देते हैं, बल्कि उसे सन्ताप भी देते हैं। सांसारिक गृह उसे कारागार सा लगता है और जागतिक मोह उसे पाद-बन्धन जैसा अनुभूत होता है। इन सारी विषमताओं, कुण्ठाओं और संत्रासों से उसे तभी छुटकारा मिल पाता है जब वह सर्वशक्तिमान के साथ सादृश्य स्थापित कर ले या फिर उससे तादात्म्य बना ले।

वैदिक स्तुतियों से लेकर आधुनिक दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप विश्लेषण तक धर्म का सारा रहस्य संस्कृत साहित्य में परिपूर्ण रूप से स्पष्टतः व्याख्यायित होता रहा है। वेदों में आर्यधर्म के विशुद्ध रूप की विवेचना है। कालान्तर में इस धर्म और दर्शन की जितनी शाखा-प्रशाखाएँ उत्पन्न हुईं, विकसित हुईं, नये-नये मत उभरे उन सबका यथार्थ स्वरूप संस्कृत साहित्य में देखा-परखा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य के धार्मिक वैशिष्ट्य का यह महत्व, मात्र भारतीयों के लिये ही नहीं है, अपितु पश्चिमी देशों के लिए भी, यह समान महत्व रखता है। पश्चिमी विद्वानों ने, संस्कृत साहित्य का धार्मिक दृष्टि से जिस तरह अनुशीलन किया उसी का यह सुफल है कि वे 'तुलनात्मक पुराण

साहित्य' (कम्परेटिव माइथालॉजी) जैसे एक अधुनातन शास्त्र को आविष्कृत कर सके। सारांश रूप में यही कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य एक ऐसा विशाल स्रोत है, जिससे प्रवाहित हुई विभिन्न धर्म सरिताओं ने मानवता के मन-मस्तिष्क के कोने-कोने को अपनी सरस्वती से रसवान् बनाकर आप्यायित कर डाला।

संस्कृत साहित्य ने संस्कृति की जो अनुपम विरासत भारत को दी है, उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। संस्कृत के काव्यों में भारतीयता का अनुपम गाथा-गान सुनाई पड़ता है तो संस्कृत नाटकों में उसका नाट्य और लास्य भी अपनी कोमल कमनीयता में प्रस्तुत हुआ है। त्याग की धरती पर अंकुरित और तपस्या के ओज से पोषित आध्यात्मिकता तपोवनों गिरिकन्दराओं में संवर्धित होती हुई जिस संस्कृति का स्वरूप निर्धारण करती रही उसी का सौम्य दर्शन तो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ, बाण और दण्डी आदि के काव्यों में देखकर हृदयकलिका प्रमुदित/प्रफुल्लित हो उठती है।

संस्कृत का साहित्यिक मस्तिष्क कभी भी संकीर्ण नहीं रहा है। उसके विचार किसी भी सीमा रेखा में संकुचित न रह सके। समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करते हुए उसके हृदय को सामाजिक दुःख-दर्दों ने स्पर्श कर लिया तो वह दीन-दुःखियों की दीनता पर चार आंसू बहाये बगैर न रह सका। सहज सुखी जीवों के भोग-विलासों पर वह रीझ-रीझ गया। उसका हृदय सहानुभूति से स्निग्ध और द्रवित बना ही रहा। फलतः संस्कृत साहित्य में भारतीय संस्कृति का एक ऐसा निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर होता है जिसमें आध्यात्मिक विचारों के द्योतक मूल्यवान शब्द भण्डार हैं जन-मन की बातों का उनकी प्रवृत्तियों का और सरल-सादगी पूर्ण जिन्दगी जीने की कला के बहुरंगी शब्द-चित्र भी हैं।

भारत और चीन के प्रायःद्वीप आज 'हिन्द-चीन' के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु १३वीं और १४वीं शताब्दी से पहले इन पर चीन का कोई भी प्रभुत्व नहीं था। सुदूर पूर्व में यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं। किन्तु यहाँ पर स्वर्ण की खान थी इसी आकर्षणवश जिन भारतीयों ने इसकी खोज की थी, उन्होंने इसे 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' का नाम दिया था। सम्राट अशोक के शासनकाल में यहाँ बुद्ध का संदेश पहुँचा। विक्रम की शुरुआत से चौदहवीं शताब्दी तक यहाँ पर अनेकों भारतीय राज्य स्थापित

रहे। और राजभाषा के रूप में संस्कृत का व्यावहारिक उपयोग होता रहा। मनुस्मृति में वर्णित शासन व्यवस्था के अनुरूप 'काम्बोज' का शासन प्रबन्ध चला। आर्यावर्त की वर्णमाला और साहित्य के सम्पर्क के कारण यहाँ की क्षेत्रीय बोलियों ने भाषा का स्वरूप ग्रहण किया और धीरे-धीरे वे साहित्य की सर्जिकाएँ बन गई। इस सारे के सारे साहित्य की मौलिकता पूर्णतः भारतीय थी। फलतः भारतीय (आर्यावर्तीय) वर्णमाला पर आधारित काम्बोज की 'मेर', चम्पा की 'चम्म' और जावा की 'कवि' भाषाओं के साहित्य में संस्कृत साहित्य से ग्रहण किया गया उपादान कल्याणकारी अवदान माना गया। रामायण और महाभारत के आख्यान जावा की कवि भाषा में आज भी विद्यमान है। बाली द्वीप में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण और संध्या वन्दन आदि का अवशिष्ट किन्तु विकृत अंश आज भी देखा जा सकता है। मंगोलिया के मरुस्थल में भी भारतीय साहित्य पहुँचा। जिसका आंशिक अवशिष्ट वहाँ की भाषा में महाभारत से जुड़े अनेकों नाटकों के रूप में आज भी पाया जाता है।

ये सारे साक्ष्य स्पष्ट करते हैं कि इन देशों के जनसाधारण की मूल भावनाओं को मुखर बनाने में संस्कृत साहित्य ने उचित माध्यम उन्हें प्रदान किये और उनके सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को नियमित/संयमित बनाकर उनकी बर्बरता से उन्हें मुक्त किया सभ्य और शिष्ट बनाया।

नैराश्य में से आशा का, विपत्ति में से सम्पत्ति का तथा दुःख में से सुख का उद्गम होना अवश्यम्भावी है। भारतीय तत्वज्ञान की आधारभूमि यही मान्यता है। व्यक्तित्व के विकास में जीवन का अपना निजी मूल्य है, महत्व है। फिर भी किसी मानव की वैयक्तिक पूर्णता में और उसकी अभिव्यक्ति में व्यक्ति का जीवन साधन मात्र ही ठहरता है। सुख और दुःख, समृद्धि और वृद्धि, राग और द्वेष, मैत्री और दुश्मनी के परस्पर संघर्ष से जो अलग-अलग प्रकार की परिस्थितियाँ बनती हैं, उन्हीं का मार्मिक अभिधान 'जीवन' है। इसकी समग्र अभिव्यंजना न तो दुःख का सर्वाङ्ग परित्याग कर देने पर सम्भव हो पाती है और न ही सुख का सर्वतोभावेन स्वीकार कर लेने पर उसकी पूर्ण व्याख्या की जा सकती है। इसीलिए, संस्कृत का कवि, साहित्यकार और दार्शनिक किसी एक पक्ष का चित्रण नहीं करता। क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि यह जगत दुःखों का, संघर्षों का समरांगण है। किन्तु दुःख में से ही सुख का उद्गम होगा, संघर्ष में से ही सफलता आविष्कृत होगी, संग्राम ही विजय का शंखनाद

करेगा, इस अनुभूत यथार्थ से भी वह परिचित है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का लक्ष्य सदा-सर्वदा से मंगलमय, कल्याणमय पर्यवसान रहता आया है। यही दार्शनिकता, संस्कृत साहित्य में अनुकरणीय, अनुसारणीय बनकर चरितार्थ होती आ रही है। दरअसल, संस्कृत नाटकों के दुःखान्त न होने का यही मूलभूत कारण है, रहस्य है।

समाज के स्वरूप का यथार्थ चित्रण साहित्य में होता है। इसलिए यह कहा जाता है—'साहित्य समाज का दर्पण है।' समाज और संस्कृति, दोनों ही साथ-साथ जुड़े होते हैं; जैसे—सूर्य का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ जुड़े रहते हैं। अतः साहित्य, जिस तरह समाज को स्वयं में प्रतिबिम्बित करता है, उसी तरह, वह समाज से जुड़ी संस्कृति का भी मुख्य वाहक होता है। समाज, मानव समुदाय का बाह्य परिवेष है, तो संस्कृति उसका अन्तःस्वरूप है। जिस समाज का अन्तः और बाह्य परिवेश, भौतिकता पर अवलम्बित होगा, उसका साहित्य भी आध्यात्मिकता का वरण नहीं कर पाता। किन्तु जिस समाज का अन्तःस्वरूप आध्यात्मिक होगा, उसका बाह्य-स्वरूप, भले ही भौतिकता में लिप्त बना रहे, ऐसे समाज का साहित्य, आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। भारतीय समाज का अन्तःस्वरूप मूलतः आध्यात्मिक है। इसलिए, संस्कृत साहित्य का भी हमेशा यही लक्ष्य रहा कि वह, आध्यात्मिकता का सन्देश सामाजिकों तक पहुँचाकर उनमें नव-जागरण का चिरन्तन भाव भर सके।

भारतीय समाज में सांसारिक/भौतिक सुखों के सभी साधन, सदा-सर्वदा से सुलभ रहते आये हैं। यहाँ का सामाजिक, जीवन-संघर्षों से जूझता हुआ भी आनन्द की उपलब्धि को, आनन्द की अनुभूति को अपना लक्ष्य मानकर चलता रहा। विषम से विषमतम परिस्थितियों में भी आनन्द को खोज निकालना, भारतीय मानस की जीवन्तता का प्रतीक रहा है। वह आनन्द को सत्, चित् स्वरूप मानता है। इसलिए भारतीय साहित्य का विशेषकर संस्कृत साहित्य का लक्ष्य भी सत्+चित् स्वरूप आनन्द की उपलब्धि की ओर उन्मुख रहा। उसका अन्तिम लक्ष्य भी यही बना।

संस्कृत काव्यों की आत्मा 'रस' है। रस का उद्रेक श्रोता/पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष कर देता है। यह जानकर भी, संस्कृत साहित्य में रीति, औचित्य, गुण तथा अलंकार आदि का विस्तृत विवेचन किया अवश्य गया है, किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य रस-निष्पत्ति ही है। काव्य-

जगत के इस काव्यानन्द को सच्चिदानन्द का परिपूर्ण स्वरूप माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि वेदों के अति रहस्यमय ज्ञान से लेकर जनसाधारण के मनोविनोद सम्बन्धी कथाओं तक जितना भी साहित्यिक वैभव विद्यमान है, वह सारा का सारा संस्कृत भाषा में सुरक्षित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है—'साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवन की समग्र व्याख्या संस्कृत साहित्य/वाङ्मय में सर्वात्मना समाहित है।'

जैन साहित्य में संस्कृत का प्रयोग

जैन धर्म और साहित्य का कलेवर भी व्यापक परिमाण वाला है। इसके प्रणयन में संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं का मौलिक उपयोग किया गया। यद्यपि, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपना सारा उपदेश प्राकृत भाषा में ही दिया। उसे संकलित/गुम्फित करने में उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि गणधरों ने भी प्राकृत भाषा को उपयोग में लिया, तथापि कालान्तर में आगे चलकर जैन मनीषियों ने संस्कृत भाषा को भी अपने ग्रन्थ-प्रणयन का माध्यम बनाया। और संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अविस्मरणीय योगदान दिया। वैसे, जैन मान्यतानुसार पुरातन जैन धर्म और दर्शन की परम्परागत अनुश्रुतियाँ यह बतलाती हैं कि जैन धर्म का मौलिक पूर्व साहित्य संस्कृत भाषा बद्ध था।

भगवान महावीर के काल तक प्राकृत भाषा जन-साधारण के बोल-चाल और सामान्य व्यवहार में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। और संस्कृत उन पण्डितों की व्यवहार-सीमा में सिमट चुकी थी, जो यह मानने लगे थे कि संस्कृतज्ञ होने के नाते सिर्फ वे ही तत्वद्रष्टा और तत्वज्ञाता हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे, वे भी यह स्वीकार करने लगे थे कि तत्व की व्याख्या कर पाना उन्हीं के बलबूते की बात है, जो 'संस्कृतविद्' हैं। इस स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि महावीर युग तक संस्कृत न जानने वालों की बुद्धि पर संस्कृतज्ञ छा गये।

महावीर ने इस स्थिति को भली-भाँति देखा-परखा और निष्कर्ष निकाला कि सत्य को शोध-सामर्थ्य तो हर व्यक्ति में मौजूद है। संस्कृत के *जानने न जानने से, तत्वबोध पर कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं पड़ता।* वस्तुतः तत्वज्ञान के लिए जो वस्तु परम अपेक्षित है, वह है—चित्त का

राग-द्वेष रहित होना। जिस का चित्त राग-द्वेष से कलुषित है, वह संस्कृतज्ञ भले ही हो, किन्तु तत्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि, सत्य का साक्षात्कार करने में 'भाषा' कहीं भी माध्यम नहीं बन पाती।

महावीर की इसी सोच-समझ ने उन्हें प्रेरणा दी, तो उन्होंने अपने द्वारा अनुभूत सत्य का, तत्व का स्वरूप-प्रतिपादन प्राकृत भाषा में किया। महावीर की भावना थी, यदि वे जन-साधारण की समझ में आने वाली भाषा में तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे, तो वह उपदेश एक ओर तो बहुजन उपयोगी बन जायेगा, दूसरी ओर संस्कृत न जानने वाला बहुजन समुदाय, यह भी जान जायेगा कि तत्व ज्ञान के लिए, किसी भाषा विशेष का जानकार होने का प्रतिबन्ध यथार्थ नहीं है।

महावीर के इस प्रयास का सुफल यह हुआ कि जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में लगभग पाँच सौ वर्षों तक निरन्तर प्राकृत भाषा का व्यवहार होता चला गया। इसलिए जैन धर्म का मूलभूत साहित्य प्राकृत भाषा-प्रधान बन गया। महावीर के इस भाषा-प्रस्थान में जैन मनीषियों का संस्कृत के प्रति कोई विद्वेष भाव नहीं था, बल्कि उनका आशय अपने धर्मोपदेश की प्रभावशालिता के लक्ष्य पर निर्धारित रहा। आर्यरक्षित[1] का वचन स्वयं साक्षी देता है कि उनके समय में संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को समान आदर सुलभ था।[2] दोनों ही ऋषि भाषा कहलाती थीं।

तत्वार्थ सूत्र जैन साहित्य का सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके रचयिता उमास्वाति (स्वामी) का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। यही वह युग है, जिसमें जैन परम्परा में संस्कृत के उपयोग का एक नया युग शुरू हुआ। तो भी जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत का उपयोग अनवरत चलता रहा। किन्तु दार्शनिक युग के आते-आते जैन मनीषियों को स्वतः यह स्पष्ट अनुभूत हुआ कि जैन धर्म और दर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत का ज्ञाता होना उन्हें अनिवार्य है। दार्शनिक युग की विशेषता यह रही है कि इस युग में भारतीय दर्शन की अनेकों शाखाओं में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी हुई थी। फलतः अपने मत की स्थापना में ग्रन्थकारों को प्रबल तर्कों का सामना करना पड़ा। इन प्रतिद्वन्द्वी तर्कों का विखण्डन

---

१ जन्म—ई० पू० ४ (वि० सं० ५२), स्वर्गवास—ई० सन् ७१ (वि० सं० १२७)

२ सक्कयं पागयं चेव पसत्थं इसिभासियं ॥

युक्ति पूर्वक करना, और स्वमत का स्थापन भी तर्क पूर्ण कसौटी पर जाँच-परख कर करना, इस युग के ग्रन्थकारों का महनीय दायित्व बन गया था।

इतना ही नहीं, इस युग में, भावना भी बलवती हो चुकी थी कि जो विद्वान्, संस्कृत भाषा में ग्रन्थ-प्रणयन की सामर्थ्य नहीं रखता, वह वस्तुतः विद्वत्कोटि का पाण्डित्य भी नहीं रखता। इस उपेक्षित भावना से परिपूर्ण वातावरण ने, जैन दार्शनिकों के मानस में भी मन्थन पैदा कर दिया। इसी मन्थन के नवनीत-स्वरूप, जैन धर्म-दर्शन के महत्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थों की सर्जनाएँ हुईं। जिनमें, जैन-धर्म और दर्शन का स्वरूप एवं सिद्धान्त, विस्तार-विवेचना को आत्मसात् कर सका।

इस प्रयास से, जैन विद्वानों ने, सामयिक समाज पर यह छाप डालने में भी सफलता प्राप्त की कि जैन-विद्वान्, मात्र प्राकृत-भाषा के ही पण्डित नहीं हैं, वरन् संस्कृत भाषा के भी वे उद्भट विद्वान् हैं। और उनमें, स्व-सिद्धान्त प्रतिपादन की स्फूर्त-सामर्थ्य के साथ-साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन का भी विलक्षण-सामर्थ्य है। पण्डित वर्ग की इस प्रतिद्वन्द्विता को देखते हुए, सम्भवतः जन-साधारण में भी, संस्कृत के अध्ययन और ज्ञान का विशेष शौक उभरा होगा। जिसे लक्ष्य करके भी तत्कालीन पण्डित वर्ग ने अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों को प्रकट करने में, लोकमानस के अनुरूप सरल-संस्कृत को अपने ग्रन्थों के प्रणयन की भाषा के रूप में स्वीकार किया।

सिद्धर्षि, इस युगीन स्थिति से पूर्णतः परिचित प्रतीत होते हैं। इसका ज्ञान, उनके स्वयं के कथन से होता है। उन्होंने स्वीकार किया है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को, उनके ग्रन्थ-रचनाकाल में, प्रधानता प्राप्त थी। किन्तु पण्डित वर्ग में, संस्कृत भाषा को विशेष समादर प्राप्त था। प्राकृत-भाषा को इस समय के बच्चे तक भलीभाँति समझते थे। जन-साधारण को बोध कराने की भी इसमें प्रबल सामर्थ्य है। फिर भी, यह प्राकृत भाषा, विद्वानों को अच्छी नहीं लगती। शायद, इसीलिए वे (पण्डित-जन) प्राकृत भाषा में बोल-चाल नहीं करते।[1]

---

१ संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावत् दुर्विदग्धहृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥
—उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, प्रथम प्रस्ताव

सिद्धर्षि द्वारा व्यक्त इन विचारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के रचना काल में, जनसाधारण के रोजमर्रा की जिन्दगी का अनिवार्य बोल-चाल प्राकृतमय था। इसलिए, सिद्धर्षि चाहते थे कि अपनी इस कथा को प्राकृत भाषा में लिखा जाये। ऐसा करने में, उन्हें यह आशंका भयभीत किये रही—'प्राकृत-भाषा में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा लिखने पर, उन्हें पण्डित वर्ग में समादर सुलभ नहीं हो पायेगा। तभी तो उन्हें यह मानकर चलना पड़ा—सरल संस्कृत भाषा का प्रयोग, एक ऐसा उपाय है, जिससे, तत्कालीन जन साधारण को भी इस कथा को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, और ग्रन्थकार को भी पण्डित वर्ग के उपेक्षाभाव का शिकार न बनना पड़ेगा। इस मध्यम मार्ग का निश्चय दृढ़ करके, उन्होंने यह निर्णय लिया कि सभी लोगों का—जनसाधारण और पण्डित वर्ग का भी—मनोरंजन हो, ऐसा उपाय (सरल संस्कृत भाषा के प्रयोग को सामर्थ्य) होने के कारण, इन सबकी अपेक्षाओं/अनुरोधों को दृष्टिगत करते हुए, मैंने इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत भाषा में की है।[1]

सिद्धर्षि के इस निश्चय से यह पुष्टि होती है कि उनके ग्रन्थ रचना काल में, संस्कृत और प्राकृत का संघर्ष, उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। इसी संघर्ष के प्रतिफल स्वरूप, उस युग का सामाजिक, साहित्य और दर्शन की रचनाओं में पाण्डित्य-प्रदर्शन से यह निष्कर्ष निकालने लगा था कि किस धर्म/दर्शन के प्रचारकों/समर्थकों में, कौन/कितना बड़ा पण्डित है, विद्वान् है। सम्भव है, इस प्रदर्शन से भी जनसाधारण का झुकाव, धर्म विशेष में आस्था जमाने का निमित्त बनने लगा हो। अन्यथा, कोई और, ऐसा प्रबल कारण समझ में नहीं आता, जिससे, बहुजनोपयोगी प्राकृत-भाषा को ताक पर रखकर, मात्र पण्डित वर्ग की भाषा को, ग्रन्थ-प्रणयन के माध्यम के रूप में अंगीकार किया जाये।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य को, विश्व-भर के सुविशाल वाङ्मय में, एक सम्मानास्पद प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस सम्मान/प्रतिष्ठा के पीछे,

---

१ उपाये सति कर्त्तव्यं सर्वेषां चित्तरञ्जनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥ —वही

भारतीय कथा साहित्य की वे उदात्त-भावनाएँ हैं, जिनसे प्रेरणा पाकर, मानवीय जीवन के विभिन्न-व्यापारों की विशद विवेचनाओं का विविधता-भरा सम्पूर्ण चित्रांकन किया गया है। इन शब्दचित्रों में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, आसक्ति-अनासक्ति, आदि मानव-मन की अन्त-र्द्वन्द्वात्मक मनःस्थितियों की विचित्रता, और मानव-जीवन के अभ्युदय और अधःपतन से लेकर मानव-समूह की उत्क्रान्ति और संक्रान्ति जन्य गाथाओं के समस्यामूलक समाधानों का अनुभूतिपरक राग-रञ्जन समा-योजित किया गया है।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य में, मानव-मन को आन्दोलित करती सांसारिक समस्याओं की विभीषिकाएँ और पारलौकिक उपलब्धियों की एषणाएँ कहीं मिलेंगी, तो कहीं-कहीं हार्दिक उदारता, बौद्धिक विशुद्धि, मानसिक मनोरंजन और आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध सोपानों पर उत-रती, चढ़ती, इठलाती भाव-प्रवणता के मनोहारी लास्य और नाट्य की अनदेखी भंगिमाएँ भी सहज सुलभ होंगी। उन्मत्त गजराज, क्रुद्ध, वन-राज, द्रुतगामी अश्व और हरिण-समुदायों के क्रियाकलापों का बहुमुखी वर्णन कहीं मिलेगा, तो कहीं पर, कल-कल छल-छल करती सरिताओं के मधुर-स्वर में मुखरित पक्षी समुदाय का कर्ण-प्रिय कलरव भी दृष्टि पथ से बच नहीं पाता। सघन-वन, गिरि कान्तर और उपत्यकाओं की क्रोड में अनुगुञ्जित प्रकृति के मानवीयकरण का वर्णन स्वर, विश्वजनीन वाङ्मय के बीचोंबीच भारतीय आख्यान साहित्य की सर्वोत्कृष्टता का गुण-गान करने से चूक नहीं पाता।

इस सबसे, यह स्पष्ट फलित होता है कि जीवन स्वरूप की सम्पूर्ण अभिव्यंजना, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य में जितने व्यापक स्तर पर हुई है, उससे कम, अचेतन-स्वरूप की अभिव्यंजना की समग्रता, कहीं दिखलाई नहीं पड़ती। जड़ और चेतन की उभय-विध व्याख्याओं का समान-समादर, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य में जैसा हुआ है, वैसा, विश्व की दूसरी किसी भी भाषा के साहित्य में देखने को नहीं मिलता।

इन समग्र परिप्रेक्ष्यों को लक्ष्य करके, भारतीय आख्यान साहित्य का जब वर्गीकरण किया जाता है, तब इसे चार प्रमुख वर्गों में विभक्त हुआ हम पाते हैं। ये वर्ग हैं :—

(१) धर्म कथा साहित्य (Religious Tale)

(२) नीतिकथा साहित्य (Didactic Tale)

(३) लोककथा साहित्य (Popular Tale)

(४) रूपकात्मक साहित्य (Alligcrical literature)

डॉ० सूर्यकान्त ने, अपने 'संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास' में संस्कृत कथा साहित्य को सिर्फ दो वर्गों—नीतिकथा (Didactic Tales) और लोककथा (Popular Tales) में ही विभाजित किया है।[1]

भारत, एक ऐसा देश है, जिसके जन-जन का जीवन, जन्म से लेकर मरणपर्यन्त तक, धर्म से परिप्लावित रहता चला आया है। भारत के ऐतिहासिक सन्दर्भों में, कोई भी ऐसा क्षण ढूँढ़ा नहीं जा सकता, जिसमें यह प्रकट होता हो कि भारतीय जन-मानस धर्म-शून्य रहा है। धर्म की इस सार्वकालिक सार्वजनीन व्यापकता को लक्ष्य करते हुये, यही कहना/मानना पड़ता है कि भारत 'धर्ममय' है। धर्म-विहीन भारत का विचार, कल्पना में भी कर पाना सम्भव नहीं हो पाता। बल्कि, यथार्थ यह है कि भारत को हमें 'धर्म-भूमि' कहना चाहिये। दुनियाँ भर में, यही तो एक ऐसा देश है, जिसकी धरती पर अनगिनत धर्मों की अवतारणाएँ हुईं। ये धर्म, यहाँ विकसे, फूले और फले। और, जब-जब भी भारत भूमि पर धर्म-ग्लानि (ह्रास) का वातावरण बना, तब-तब किसी न किसी कृष्ण ने अवतीर्ण होकर, धर्म को समृद्ध बनाने की दिशा में, उसका पुनःपुनः संस्थापन किया, या फिर किसी न किसी महावीर ने तीर्थंकरत्व की साधना-समृद्धि के बल पर धर्म-तीर्थ का वर्धापन किया। धर्म वट-वृक्षों के इन्हीं बीजांकुरों के रस-सेक से, भारतीय आत्मा को शाश्वत-शान्ति मिलती रही, किंवा, उसे परमात्मत्व का साक्षात्कार होता रहा।

उक्त गुण-सम्पन्न तीन महान् धर्म-संस्कृतियाँ भारत में प्रमुख रही हैं। इन्होंने अपने धार्मिक/दार्शनिक सिद्धान्तों के व्यापक-प्रचार-प्रसार के लिए, आख्यानों कथाओं का जी भर कर उपयोग किया है। परिणाम-स्वरूप, वैदिक, जैन और बौद्ध, इन तीनों ही धर्मों का विशाल साहित्य, आख्यानों और कहानियों का विपुल अक्षय भण्डार बन गया है। इन *तमाम कथाओं/आख्यानों को, हम ऐसा आख्यान कह/मान सकते हैं,* जिस का समग्र कलेवर, धार्मिक स्फुरणा से ओत-प्रोत है, किंवा जीवन्त है।

---

१. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास—पृष्ठ-३००

आख्यान-साहित्य के प्रथम वर्ग 'धर्मकथा-साहित्य' के अन्तर्गत, ये ही सारी कथाएँ अन्तर्निहित मानी जायेंगी।

इस तरह, 'धर्मकथा' को परिभाषित करते हुये, यह कहा जा सकता है—'जो कथा, धर्म से सम्बन्ध रखती हो, वह 'धर्मकथा' है। और 'धर्म' वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति होती है।'[1]

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से होती है। जिसका अर्थ है—'ज्ञान'। 'वेद' शब्द का व्यावहारिक उपयोग 'मंत्र' और 'ब्राह्मण' दोनों के लिये किया जाता है।[2] 'मंत्र' में देवताओं की स्तुतियाँ हैं। इन स्तुतियों/मंत्रों का उपयोग यज्ञ आदि के अनुष्ठान में किया जाता है। यज्ञ के क्रिया-कलापों तथा उनके उद्देश्यों आशयों/प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले मंत्र और ग्रन्थ, 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। 'ब्राह्मण' के तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। 'आरण्यक' ग्रन्थों में वानप्रस्थ-जीवन पद्धति की विवेचना की गई है। जबकि उपनिषदों में, मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में, यज्ञ आदि का विधान जटिल हो जाने के फलस्वरूप, उसे सरल और संक्षिप्त बनाने की जब आवश्यकता प्रतीत हुई, तब सरल सूत्र-शैली अपना कर जिन नवीन-ग्रंथों में उसे प्रतिपादित किया गया, वे ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' कहलाये।[3] कल्पसूत्रों में यज्ञ-यागादि, विवाह, उपनयनादि कर्मों का क्रमबद्ध संक्षिप्त वर्णन है। कल्पसूत्र के भी चार भेद किये गये हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र। श्रौत सूत्रों में—यज्ञ-याग आदि के अनुष्ठान नियमों का, गृह्य सूत्रों में—उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि षोडश संस्कारों से सम्बद्ध निर्देशों का, धर्म-सूत्रों में—वर्णाश्रम धर्म का, विशेष कर राजधर्म का और शुल्व सूत्रों में—यज्ञ के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारण, यज्ञ-वेदि का आकार-प्रकार निर्धारण और उसके निर्माण की योजना आदि का वर्णन है। 'शुल्व' का अर्थ होता है—'नापने का

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥ —महापुराण-१/१२०

२. मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्बः यज्ञ-परिभाषा-३१

३. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति—विष्णुमित्र

डोरा'। वस्तुतः शुल्व सूत्रों को भारतीय ज्यामिति का आद्य ग्रन्थ कहा जा सकता है।

स्वरूप-भेद के कारण, 'वेद' एक होता हुआ भी, तीन प्रकार का माना गया है। ये प्रकार हैं—ऋक्, यजुस् और सामन्। अर्थवशात् पादों/चरणों की व्यवस्था से युक्त छन्दोबद्ध मंत्रों की संज्ञा—'ऋचा' या 'ऋक्' की गई है।[1] इन ऋचाओं में से जो ऋचायें गीति के आधार पर गायी जाती हैं, उनकी संज्ञा 'सामन्' की गई है।[2] इन दोनों से भिन्न, यज्ञ में उपयोगी गद्य-खण्डों को 'यजुस्' संज्ञा दी गई है।[3] इस तरह, जो प्रार्थना/स्तुति-परक छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उनके संकलित स्वरूप को 'ऋग्वेद संहिता', गेयात्मक ऋचाओं के संकलित स्वरूप को 'सामवेद संहिता' और गद्यात्मक युजुस् मंत्रों के संकलन को 'यजुर्वेद संहिता' कहा गया। इन तीनों को 'वेदत्रयी' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। किन्तु आज वेदों की संख्या चार है। जिसमें अथर्ववेद नामक एक चौथे वेद को भी गिना जाता है। अथर्वन का अर्थ होता है—'अग्नि का पुजारी'। इस अर्थ से यह आशय लिया गया है—अग्नि के प्रचण्ड और भेषज्य रूप से सम्बन्ध रखने वाले मंत्रों का जिस संहिता में संकलन है, वह 'अथर्ववेद' है।

वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार महीधर की मान्यता है—ब्रह्मा से चली आ रही वेद-परम्परा को, महर्षि वेदव्यास ने ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम से चार भागों में बांटा, और उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को दिया।[4] बाद में मंत्रों के ग्रहण-अग्रहण, संकलन और उच्चारण विषयक भिन्नता के कारण वेद-संहिताओं की अनेकानेक शाखाएँ बन गईं, शाखाओं के साथ 'चरण' भी जुड़ गये। 'चरण' का अर्थ उस वटु-समदाय से जुड़ा है, जो एक साथ मिल-बैठकर, अपनी परम्परागत शाखा से सम्बन्धित संहिता मंत्रों का ज्ञान/अध्ययन प्राप्त करता है।

---

१ तेषां ऋक् यथार्थवशेन पाद-व्यवस्था। —जैमिनी सूत्र—२/१/३५

२ गीतिषु सामाख्या—जैमिनी सूत्र-२/१/३६

३ शेषे यजुः शब्दः—वही—२/१/३७

४ तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनी-सुमन्तुभ्यः क्रमाद् उपदिदेश। —यजुर्वेद : भाष्य

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ, सामवेद की एक हजार, और अथर्ववेद की नौ, कुल मिलाकर एक हजार एक सौ शाखाओं का उल्लेख किया है।[1] भारत का यह दुर्भाग्य है कि इनमें से अनेकों शाखाओं से सम्बन्धित साहित्य, आज तक विलुप्त हो चुका है।

वैदिक साहित्य मूलतः धर्मप्रधान है। देवताओं को लक्ष्य करके यज्ञ आदि का विधान करके, उसमें जो कमनीय स्तुतियाँ सङ्कलित की गई हैं, वे, वैदिक साहित्य की एक विलक्षण विशेषता बन चुकी हैं। इन स्तुतियों के माध्यम से, तमाम ऐसे कथानक वैदिक साहित्य में भरे पड़े मिलते हैं, जिनका साहित्यिक-स्वरूप, उनके धार्मिक महत्त्व से कम मूल्यवान् नहीं ठहरता।

ऋग्वेद, देवों को लक्ष्य करके गाये गये स्तोत्रों का बृहत्काय संकलन है। इसमें, तमाम ऋषियों द्वारा, अपनी मनचाही मुराद पाने के लिए, भिन्न-भिन्न देवताओं से की गई प्रार्थनाएँ हैं। तत्त्वतस्तु, जीवन में परम-सत्य की प्रतिष्ठा कर लेना, जीवन का सबसे महान् लक्ष्य होता है। ऋग्वेद में, परमसत्य का देवता वरुण को माना गया है। किन्तु, वैदिक आर्य, इस देश में, विजय पाने की लालसा से आये थे। इस विजय का देवता, उन्होंने भ्राजमान इन्द्र को बनाया। शायद यही कारण है, जिसकी वजह से, जीवन की यथार्थता का प्रतिनिधि देवता 'वरुण', विजय के प्रतिनिधि देव इन्द्र की स्तुतियों की बहुलता में, पीछे पड़ा रह गया। इसीलिए, वरुण का स्थान, कुछ काल पश्चात् इन्द्र को मिल गया।

इस विविधतामयी वर्णना में, कुछ ऐसे कमनीय भाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिनसे यह सहज अनुमान हो जाता है कि ऋग्वेद जैसा आदिम ग्रन्थ भी काव्य कला के उपकरणों से परिपूर्ण है। अलंकारों, ध्वनियों और व्यञ्जनाओं से अनुप्राणित गीतियों में भरी रूपकता, हमें यह अहसास तक नहीं होने देती कि हम किसी देव-स्तोत्र का श्रद्धा-वाचन कर रहे हैं, अथवा, किसी शृङ्गार काव्य की सरस-पदावली का रसास्वादन कर रहे हैं। यम-यमी के पारस्परिक संवाद की दर्शनीय रसीली छटा, एक ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है।

---

१ चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्यु शाखाः। सहस्र-*वर्त्मा सामवेदः। एक विंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाऽथर्वणो वेदः।*

—पातंजलमहाभाष्य-पस्पशाह्निक

यम और यमी का परस्पर संवाद चलते-चलते ही, बीच में, यमी कामाग्नि संतप्त हो उठती है। तब, वह यम से कहती है—'हम दोनों को सृष्टा ने, गर्भ में ही पति-पत्नी बना दिया था। उसने, जो त्वष्टा है, सविता है, और सभी रूपों में विराजमान है। इसके व्रतों को कौन तोड़ेगा ? ओ यम ! हम दोनों के इस सम्बन्ध को पृथ्वी जानती है, और आकाश जानता है।'[1]

यमी के इस कथन का स्पष्ट आशय है—"यौन-सम्बन्ध से पूर्व, सभी आपस में भाई-बहिन हैं। किन्तु, परम ऐकान्तिक उस रसमय-सम्बन्ध के स्फूर्त होते ही, अन्य सारे सम्बन्ध तिरोहित हो जाते हैं, दब जाते हैं, सिर्फ एक यही सम्बन्ध शेष रह जाता है, जिससे, जीवन की समग्रता रसाप्लावित हो उठती है। क्योंकि, नर-नारी की परिनिष्ठा इसी में है, जीवन का स्रोत यही है।"

किन्तु, ऋग्वेद का यह यम, यथार्थतः नर है, वह वस्तुतः शिव है। इसने अपने जीवन में संयम के फूल खिलाये हैं और निग्रह में ही विग्रह को अवसान दिलाया है। वह, यमी के उत्तर में कहता है—'ओ यमी ! उस प्रथम-दिवस को कौन जानता है ? किसने देखा है उसे ? उसे कौन बता सकेगा ? वरुण का व्रत महान् है। मित्र का धाम प्रभूत है। ओ कुत्सित मार्ग पर चलने वाली यमी ! विपरीत कथन क्यों करती है ? प्रत्यक्षतः तो हम भाई-बहिन ही हैं। फिर, इस सम्बन्ध के बदलने की आवश्यकता भी तो नहीं है। क्योंकि, वरुण का यह आदेश है, मित्र का ऐसा व्रत है।[2]

साहित्यिक रसात्मकता से परिपूर्ण, पुरुरवा और उर्वशी का संवाद भी, इसी मण्डल में मिलता है। सूक्त की शब्दावली दुरूह और कठिन अवश्य है, पर, उनसे व्यक्त होने वाले भाव, बेहद चुटीले हैं। पुरुरवा कहता

---

१ गर्भे नु नो जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः।
—ऋग्वेद—१०/५/१०

२. को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥
—वही १०/१०/७

है—'ओ मेरी बेदर्द पत्नी ! ठहर, आ, कुछ बातें कर लें। हमने आज तक, खुलकर बातें तक नहीं कीं; हमारे मन को आज तक ठण्डक नहीं मिली।'[1]

उर्वशी उत्तर देती है—'ओ पुरुरवस् ! क्या करूँगी तेरी इन बातों का ? (तेरे घर से तो) मैं ऐसे आ गई हूँ, जैसे कि सबसे पहली उषा। ओ पुरुरवस् ! अब मैं, हवा की तरह (तेरी) पकड़ से बाहर हूँ।'[2]

प्रेम-पगे दो-चार क्षणों की भिक्षा माँगने वाले पुरुरवा की प्रार्थना का कैसा निर्मम तिरस्कार किया उर्वशी ने। फिर भी, दोनों की परस्पर बातें चलती रहीं। पुरुरवा, अनुनय पर अनुनय करता रहा, अपनी उर्वशी को याद दिलाता रहा तमाम पुरानी यादें, जिनके व्यामोह में उलझ कर, वह उसके घर वापिस चली चले। किन्तु, सब निरर्थक, सब निस्सार। ......आखिर, तार-तार होकर टूटने लगा पुरुरवा का दिल। वह, सहन नहीं कर पाता है अपनी अन्तःपीड़ा को, और चिल्ला उठता है उन्मत्त जैसा—'ओ उर्वशी ! तेरा यह प्रणयी, आज कहीं दूर चला जायेगा; इतनी दूर, जहाँ से वह कभी नहीं लौटेगा। तब, वह सो जायेगा मृत्यु की गोद में। और, वहाँ खूंख्वार भेड़िये, उसे (आनन्द से) खायेंगे।'[3]

पुरुरवा के हताश/निराश स्नेह को प्रकट करने वाले ये शब्द, उर्वशी की स्नेहिलता की कसौटी बन जाते हैं। पुरुरवा के एक-एक शब्द ने, उर्वशी के अंतस् को कचोट डाला। परिणाम, वही होता है,जो आज भी एक सच्चे प्रेमी और रूठी प्रणयिनी की परस्पर नोंक-झोंक का होता है।

उर्वशी कहती है[4]—'ओ पुरुरवस् ! मत भाग दूर, अपने प्राण भी

---

१ हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन् ॥
—वही १०/९५/१

२ किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरुरवा पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥
—वही १०/९५/२

३ सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥ —वही १०/९५/१४

४ पुरुरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
नवै स्त्रैणानि संख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः —वही १०/९५/१५

व्यर्थ मत गँवा, अमांगलिक भेड़ियों का शिकार मत बन। क्योंकि स्त्रियों की मैत्री, मैत्री नहीं होती। इनका दिल तो भेड़िये का दिल होता है।'

दरअसल, उर्वशी का यह उत्तर, समग्र स्त्री जाति के लिए शाश्वत शृंगार बन गया।

पुरुरवा और उर्वशी के इस परिसंवाद ने, लौकिक जगत् के सच्चे प्रेमी, और फुसला ली जाने वाली मानिनी प्रेयसी के स्पष्ट उद्गारों को, रसात्मकता का जैसे शिलालेख बना दिया। इसी संवाद की प्रतिध्वनि शतपथ-ब्राह्मण, विष्णु पुराण, और महाभारत में भी मुखरित हुई है। जिसका अनुगुंजन, महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में, स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

भारत के मूर्धन्य कवियों ने जी भर कर पर्जन्य की महिमा के गीत गाये हैं। किन्तु, वैदिक कवि ने 'जीमूत' पर्जन्य का गुणगान किया है। यह जीमूत, क्षणभर में ही, जल-थल एक कर देता है। धरती से अम्बर तक जलधारा का एक वर्तुल सा बना देता है।

वेद कहता है—'आओ, आज इन गीतों से उस पर्जन्य को गाओ; यदि उसे नमस्कार करके मानना चाहो, तो पर्जन्य के गीत गाओ। देखो, यह महान् सांड गर्ज रहा है। इसके दान में (कितनी) शक्ति है। (अपने इसी दान से) वनस्पतियों में अपने बीज का गर्भाधान कर रहा है वह। ....वह देखो, पेड़ों को किस तरह उखाड़कर फेंके चला जा रहा है? राक्षसों को किस तरह धराशायी किये चला जा रहा है? इसका दारुण वज्र देखकर, धरती और आकाश डोल रहे हैं। जब, विद्युतपात करके यह दुराचारियों को धराशायी करता है, तब, निष्पाप लोग भी थरथरा उठते हैं।....और, जिस तरह, रथी अपने कोड़े से घोड़ों को आगे कुदा देता है, वैसे ही, यह भी, वर्षा के द्वारा दूतों को आगे खिसका/सरका रहा है। सुनो....कहीं दूर, वह सिंह दहाड़ रहा है। यह शेर, पृथ्वी में (वर्षा का) बीज डाल रहा है।'[1]

---

१. अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥
वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति राक्षसान् विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥

ये, वे वर्षा गीत हैं, जिनमें, एक विलक्षण प्रतिभा प्रस्फुरित हो रही है। इस वर्षा में सांड है, सिंह है, और वह सब कुछ भी है, जिससे हमारा ऐन्द्रियतत्र सहल उठता है, फिर स्वयं में, उसे आत्मसात् कर लेता है।

एक दूसरे स्थल पर, 'जीमूत' मेघ का उपमान रूप में प्रयोग; वैदिक वाङ्मय की साहित्यिकता और रूपकता को, एक ऐसी ऊँचाई तक पहुँचा देता है, जिस तक, शायद मेघ स्वयं न पहुँच सके। देखिये—'जब एक वीर योद्धा, कवच से सज-धज करके, रणाङ्गण में उपस्थित होता है, और अपने धनुष से बाणों की वर्षा कर शत्रुदल पर छा जाता है, तब, उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा हो जाता है।[1]'

सामान्य रूप से देखने/पढ़ने पर तो यह उपमान, बड़ा ही बेतुका, किंवा फीका सा लगता है, किन्तु, जब 'जीमूत' शब्द की व्युत्पत्ति समझ में आ जाती है, तब, इस उपमान का चमत्कार, स्वतः ही सामने आ जाता है। 'जीमूत' शब्द बनता है—ज्या + √मोव् (गति) से। अर्थात् ऐसा बादल 'जीमूत' कहा जायेगा, जिसमें बिजली की प्रत्यञ्चा कौंध रही हो। एक सच्चा शूरवीर, जब शत्रुदल पर टूटता है, तब उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा ही होता है। क्योंकि, बलपूर्वक पूर्ण श्रम से और धूलि-धूसरित होने के कारण, चेहरा कृष्णवर्ण हो जाता है। साथ ही, शत्रुदल पर धनुष से बाणों की जब वर्षा करता है, तब उसकी लहराती/लपलपाती प्रत्यञ्चा (ज्या), वर्षणशील मेघ में कौंध रही विद्युल्लता जैसी, उस बहादुर वीर के चेहरे के सामने/आस-पास, क्षण-क्षण में कौंधती रहती है। अब, उक्त उपमान से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह उपमान, न तो फीका है, न ही बेतुका, बल्कि एक नये रूपक की सर्जना का द्योतक बन गया है।

ऋग्वेद का यह प्राञ्जल वर्णन, कितना सजीव है? इसकी शब्द गरिमा और उससे ध्वनित अर्थ-गाम्भीर्य कितना विशद है, पेशल है? इस विषय पर, बहुत कुछ लिखने से अच्छा होगा, इसके प्रयोग को समझा

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥
—वही ५/८/३/१-२

१. वही ५-७५-१

जाये, बल्कि, ठीक से समझा जाये। क्योंकि इसका एक-एक अक्षर जीवन्त है, शब्द-शब्द की पोर-पोर में इक्षु रस जैसी मिठास भरी है। आवश्यकता है समझ की, अनुभूति की, और आनन्द लेने की चाह की।

वीरता और कर्मप्रवणता भरे इन आख्यानों का प्रस्थान, जब स्नेहिल धरातल का स्पर्श करता है, तब, एक वपुष्मान् (नर) और वपुषी (नारी) का गठबन्धन, मनु के नौ बन्धन पर होते देर नहीं लगती। इसी गठबन्धन से उभरती हैं वे श्रेष्ठ शालीनताएँ, जिनमें उषा, हस्रा (हसनशील वनिता) बन कर, अपने सम्पूर्ण संवृत प्रणय को अनावृत कर देती है। उषा के इसी अनावृत प्रणय-द्वार की देहलीज पर बैठकर, वैदिक जरन्त ऋषि/मुनि-गण ने, प्रत्यङ् मनस् से की गई तपस्याओं के बल पर, शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया है। वेदों ने इसे 'ऋत्' नाम से पुकारा है।

इसी 'ऋत्' के आनन्द की मस्ती में झूमकर वह गा उठता है—सृष्टि के पहिले क्या था? न सत् था, न असत्, न धरती थी, न आकाश था!.....मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ?.....इत्यादि।'[1] ऋग्वेद का यह ऐसा गान है, जिससे आगे, मानव का मस्तिष्क अब तक नहीं जा पाया। और, इन ऋग्वेदीय प्रश्नों के जो समाधान अब तक दिये गये हैं, उन्हें सोम पानोचा की रंगमयी भाव-भङ्गिमा में, उसने स्वयं ही तलाश लिया था। और, तब, वह कह उठा था—'मैं ही मनु था। सूर्य भी मैं ही था। कक्षीवान् ऋषि मैं ही था। आर्जुनेय कुत्स को मैंने ही दबाया था। उशना कवि मैं ही हूँ। आर्य को पृथ्वी मैंने ही दी थी। मर्त्य के लिए वर्षा मैंने ही बनाई। कलकलायमान जलधाराओं को मैं ही बहाता हूँ। देवता तक, मेरे इशारे पर चलते आये हैं।'[2]

यह सूक्त, पुरुष/आत्मा के परमात्मत्व को जिन संकेतों/प्रतीकों के

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
इत्यादि, —वही १०-१२९-१—७

२. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥
—वही ४-२६-१—२

माध्यम से सर्वशक्तिमान घोषित कर रहा है, ठीक, वैसे ही, शक्ति-स्वरूपा नारी के महिमामय गौरव का गुणगान करने में भी वैदिक ऋषि से चूक नहीं हुई। ऋग्वेद की ऋचा स्वयं बोल उठती है—'सूर्य उदय हो गया है, साथ ही, मेरा भाग्य भी उदय हुआ है। इस तथ्य से मैं अवगत हूँ। तभी तो, अपने पति पर प्रभावी बन गई हूँ। मैं स्वयं केतु हूँ, मूर्धा हूँ, और प्रभावुक हूँ। मेरा पति, मेरी बुद्धि के अनुरूप आचरण करेगा, मेरे पुत्र शत्रुघ्न हैं, मेरी पुत्री भ्राजमान् है, मैं स्वयं विजयिनी हूँ, पतिदेव पर, मेरे श्लोक प्रभावुक हैं। जिस हवि को देकर, इन्द्र सर्वोत्तम तेजस्वी बने थे, वह (सब) भी मैं कर चुकी हूँ। अब, मेरी कोई सौत नहीं रही, कोई शत्रु नहीं रहा।'[1]

यह है वैदिक नारी का सबल-स्वरूप। वह जीवन के हर केन्द्र पर, वह केन्द्र चाहे भोग का हो या योग का, युद्ध का हो या याग का; हर जगह वह अपने पति जैसी ही बलवती है, आत्मा की प्रज्ञा जैसी।

ये हैं ऋग्वेद के कुछ अंश, जिनमें भारतीय साहित्य और संस्कृति की शाश्वत निधियाँ समाई हुई हैं। आज की भारतीयता का यही है आदि स्रोत, जिससे, अनगिनत कथाओं के द्वारा मानव-चेतना को ऊर्ध्वरेतस् बनाने के न जाने कितने रहस्य, आज भी अनुन्मीलित हुए पड़े हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान, शत-पथ ब्राह्मण में दुष्यन्त पुत्र भरत और शकुन्तला से सम्बन्धित आख्यान, महाप्रलय की कथा में मनु का विवरण भी प्रसिद्ध आख्यानों में से है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य के दार्शनिक वाद-विवाद, महाप्रलय में मनु का वर्णन भी प्रसिद्ध आख्यानों में से है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक के

---

१ उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥
अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरत्॥
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥
इत्यादि। —वही १०-१०९-१—४

संवाद तथा याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के बीच हुई दार्शनिक चर्चाएँ, भारतीय संस्कृति के ऊर्जस्विल आख्यानों में माने/गिने जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में, जब उत्तर वैदिक आख्यान साहित्य पर दृष्टिपात किया जाता है, तो रामायण और महाभारत, ये दोनों ही आर्ष काव्य, अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य, कौरवों और पाण्डवों के पारिवारिक कलह की राष्ट्रीय व्यापकता को विश्लेषित करना रहा है। यह युद्ध यद्यपि अठारह दिनों तक ही चला, किन्तु इसकी वर्णना में अठारह हजार श्लोकों का एक विशाल-ग्रन्थ तैयार हो गया। सर्पदंश से, जब महाराज परीक्षित स्वर्गवासी हो जाते हैं, तब उनका पुत्र जनमेजय, सम्पूर्ण सर्पों के विनाश के लिए नागयज्ञ का अनुष्ठान करता है। इसी अवसर पर, उसे यह सारी कथा, वैशम्पायन ने सुनाई थी। वैशम्पायन ने स्वयं, यह कथा महर्षि व्यास से सुनी थी।

इस कथा में, मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेकों आख्यान, प्रसङ्गवशात् आये हैं। जिसमें, शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गंगावतरण, ऋष्यश्रृङ्गकथा, महाराज शिवि और उनके पुत्र उशीनर की, तथा, सावित्र्युपाख्यान और जलोपाख्यान आदि, कुछ ऐसे आख्यान हैं, जिन्हें विश्व-साहित्य में एक विशेष गौरव की आँख से देखा/परखा/पढ़ा जाता है। इसी महाभारत में, श्रीकृष्ण का समग्र-वृत्त, एक हजारों श्लोकों में गुम्फित है। इस अंश को 'हरिवंश कथा' के नाम से स्वतन्त्र रूप भी दिया गया है। भगवद्गीता का कृष्णार्जुन संवाद भी, महाभारत का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

रामायण में, महाभारत जैसा, आख्यानों का विपुल भण्डार तो नहीं है, फिर भी, भारतीय काव्य-परम्परा का आद्य ग्रन्थ होने का, इसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने इसमें जिस रामकथा का वर्णन किया है, उससे, भारत का प्रत्येक आबाल-वृद्ध भलीभाँति परिचित है।

रामायण में भी मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेकों अवान्तर-कथायें जुड़ी हुईं प्रसङ्गवशात् आई हुई हैं। जिनमें, रावण का ब्रह्मा से वरदान पाना, राम के रूप में विष्णु का अवतरित होना, गंगावतरण, विश्वामित्र और

वशिष्ठ का युद्ध आदि आख्यान, संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट एवं गरिमापूर्ण आख्यानों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

इन दोनों महाग्रन्थों की भाव-भूमि को आधार मान कर, उत्तरवर्ती, आख्यान-साहित्य की विस्तृत सर्जनाएँ हुई हैं। 'मालती-माधव' और 'मुद्रा राक्षस' जैसे कुछ एक कथानकों को छोड़कर, शेष समूचा संस्कृत साहित्य, इन दोनों आर्ष काव्यों के प्रभाव से अनछुआ नहीं रह पाया। रघुवंश, भट्टिकाव्य, रावणवहो और जानकीहरण जैसे महाकाव्यों ने रामायण की रसधारा में स्वयं को निमग्न कराया, तो किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, और नैषधीयचरित जैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों की पृष्ठभूमि में, महाभारत की ऊर्जस्विल भाव-लहरियाँ तरङ्गित होती स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

मानवीय-जीवन, बालू के घर की तरह, शीघ्र ढह कर गिर जाने वाली वस्तु नहीं है। बल्कि, इसमें स्थायित्व है। ऐसा स्थायित्व, जो अपनी भौतिक सत्ता को विनष्ट कर चुकने के बाद भी, अपने बाद की मानव-सन्तति को राह दिखा सकता है। किन्तु, यह तब सम्भव हो पाता है, जब व्यक्ति अपना जीवन उदात्तता, पर-दुःख कातरता, त्रस्त-पीड़ित-प्रताड़ित मानवता को शरण और सहकार-सम्बल करना, आदि महनीय शोभन गुणों से आपूरित बना लेता है। इन्हीं जैसे गुणों से, व्यक्ति के क्षणभंगुर जीवन में स्थायित्व और महनीयता समापित हो पाती है।

वाल्मीकि-रामायण में, उन समस्त शोभन गुणों का सुन्दर-समन्वय, राम के आदर्श व्यक्तित्व में फलितार्थ किया गया है, जिससे, उनका जीवन, सिर्फ मृत्यु-पर्यन्त तक चलने वाला, साधारण आदमी के जीवन जैसा न रह पाया, वरन्, एक ऐसा चरित बन गया, जिसे आज भी, हर-पल, हर-क्षण जीवन्त बना हुआ अनुभव किया जाता है।

महाभारत की सर्जना के मूल में भी, सिर्फ युद्धों की वर्णना करना ही महर्षि व्यास का लक्ष्य नहीं रहा, बल्कि उनका अभिप्राय, भौतिक-जीवन की निस्सारता को प्रकट करके, मोक्ष के लिए प्राणियों में औत्सुक्य जगाना रहा है। इसीलिए, महाभारत का मुख्य-रस 'शान्त' है। वीररस तो उसका अंगीभूत बनकर आया है।

महाभारत, वस्तुतः एक ऐसा धार्मिक ग्रंथ है, जिससे, आधुनिक जगत् की हर-श्रेणी का व्यक्ति, अपना जीवन सुधारने की शिक्षा-सामग्री प्राप्त कर सकता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति की सरस्वती प्रवाहित करने

वाली भगवद्गीता तो आज के आध्यात्मिक जगत् का उत्कृष्ट कीर्तिस्तम्भ है। महाभारत की इन्हीं सब विलक्षण विशेषताओं को ध्यान में रखकर, महर्षि व्यास ने, अपना आशय व्यक्त करते समय स्पष्ट किया था—'इस आख्यान को जाने बिना, जो पुरुष वेदाङ्ग तथा उपनिषदों को जान लेता है, वह व्यक्ति कभी भी अपने को विचक्षण नहीं कहलवा सकता।'[1]

भारतीय आख्यान साहित्य में, बौद्धधर्म के कथा साहित्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध कथाओं को समाविष्ट करने वाला 'अवदान' साहित्य, अपना मौलिक अस्तित्व रखता है। 'अवदान' का अर्थ होता है—'महनीय कार्य की कहानी।' जिस तरह, पालि साहित्य में, महात्माबुद्ध के पूर्व-जन्मों के शोभन गुणों का वर्णन 'जातक' में हुआ है, उसी परिपाटी में, संस्कृत में विरचित यह 'अवदान' साहित्य है। इसमें 'अवदान शतक' सबसे प्राचीन संग्रह है।[2] इसमें संकलित कथाएँ, तथागत बुद्ध के उन शोभन गुणों की वर्णना करती है, जिनके बल पर उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। इसकी कुछ कहानियों में, पापाचरण करने वाले व्यक्तियों को दी जाने वाली यातनाओं की भी विवेचना की गई है। इस संकलन के अंतः-साक्ष्यों के आधार पर, इसका रचना-काल द्वितीय शतक माना जा सकता है। तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हुआ था।

'दिव्यावदान' भी बौद्धकथाओं का एक संकलन है। यह ग्रन्थ, पूर्णतः गद्य में है। किन्तु, बीच-बीच में जो गाथायें इसमें दी गई हैं, वे, छन्दबद्ध तो हैं ही, उनमें आलंकारिकता भी अच्छे स्तर की है। ग्रन्थ में अशोक से सम्बन्धित कथाएँ हैं। इन कथाओं की ऐतिहासिकता और मनोरंजकता तो असंदिग्ध है, परन्तु, इसकी भाषा को, पाली के सम्पर्क से मिश्रित होने के कारण, तथा कुछ स्थलों पर, भ्रष्ट-भाषा का भी प्रयोग होने के कारण, भाषा-शास्त्रियों ने, एक अलग प्रकार की धारा में प्रवाहित भाषा माना है। इसी तरह, इसमें संकलित कथाओं के कहने का ढंग भी अस्त-व्यस्त और बेतुका सा है।

---

१ यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥

२ डॉ० कावेल व नील द्वारा सम्पादित-कैम्ब्रिज-१८८६, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थमाला (दरभंगा) से प्रकाशित १९६२

समग्र बौद्ध साहित्य में 'त्रिपिटक' प्रमुख हैं। ये त्रिपिटक हैं— विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं के आचरण को संयमित रखने के लिए जो नियम बनाये, उन्हीं की चर्चा 'विनयपिटक' में है। 'सुत्तपिटक' में, बुद्ध के उपदेशों और संवाद का संग्रह है। महाभारत के सुप्रसिद्ध यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की तरह का यक्ष-बुद्ध संवाद भी इसी संग्रह में है। इसी संग्रह में संकलित 'जातक' में बुद्ध के पूर्व-जन्म के सदाचारों की अभिव्यक्ति करने वाली कथाएँ हैं। बौद्धधर्मकथाओं में इसका विशेष महत्व है। 'बुद्ध वंश' में, गौतम-बुद्ध से पूर्व के चौबीस बुद्धों का जीवन-चरित वर्णित है। इनमें समाहित कथा साहित्य बौद्ध-धर्म कथा का उत्कृष्ट साहित्य माना जा सकता है। 'अभिधम्मपिटक' में गौतम बुद्ध के उपदेशों के आधार पर, उनके दार्शनिक विचारों की व्यवस्था की गई है।

'विनयपिटक' के खन्दकों में, नियमों और कर्त्तव्यों के निर्देश के साथ-साथ अनेक आख्यान भी मिलते हैं। 'चुल्लवग्ग' में संवादात्मक और चरित सम्बन्धी अनेकों कथाएँ हैं। 'दीघनिकाय' 'मज्झिमनिकाय' और 'सुत्तपिटक' में भी, बहुत सारे आख्यान हैं। इसी तरह, 'विमानवत्थु', 'पेत्थवत्थु,' 'थेरी गाथा' और 'थेर गाथा' में भी कई तरह की कथाएँ हैं। इन सबको देखने से यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि जातक-साहित्य, उपदेशपूर्ण मनोरंजक कथाओं/आख्यानों का विशाल भण्डार है। जिसके प्रभाव से, उत्तरवर्ती साहित्य भी अछूता नहीं रह सका।

पालि त्रिपिटक की गाथाएँ बहुत प्राचीन हैं। उसमें प्रयुक्त छन्द, वाल्मीकि रामायण से भी प्राचीन हैं।[1] कुछ गाथाएँ तो वैदिक युग की हैं।[2] इन्हीं गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए, जातक कथाएँ कही गई हैं। बौद्ध धर्म का यथार्थ-परिचय कराने के कारण सुत्तपिटक का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व विशेष है। प्राचीन नीति कथाओं का संग्रह 'जातक' इसी में संकलित है। जातक, सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दसवाँ ग्रन्थ है। इसमें, अनेकों कहानियाँ हैं। कुछ छोटी हैं और कुछ बड़ी। कुछ

---

१ ओल्डेन बर्ग—गुरुपूजाकौमुदी, पृष्ठ—९०, दीघनिकाय—सम्पा. ह्रीस डेविड्स एण्ड कारपेन्टर—वाल्यूम-I, इन्ट्रोडक्शन—पृष्ठ-८।

२ डॉ० विन्टरनित्ज—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर-II, p. १२३।

कथाएँ तो इतनी बड़ी हैं कि उनके स्वरूप को देखते हुए, उन्हें संक्षिप्त महाकाव्य कहा जा सकता है।

'जातक' का अर्थ होता है—'जन्म-सम्बन्धी कथाएँ'। तथागत ने अपने पूर्व जन्मों का, और घटनाओं का स्मरण करके, उन्हें अपने शिष्यों को सुनाया। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व, कई योनियों में, उन्हें जन्म लेना पड़ा था। जिनमें मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि की योनियाँ रहीं। इन सब योनियों में रहकर भी, उनका 'बोधिसत्व' यथावस्थित रहा। 'बोधिसत्त्व' का अर्थ होता है—'बोधि के लिये उद्यमशील प्राणी (सत्त्व)'। इन्हीं कहानियों को कहकर, बुद्ध ने, लोगों को अपना उपदेश दिया। ये कहानियां, ईसा पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से लेकर, ईसा के बाद की प्रथम द्वितीय शताब्दी तक रची गई। इनमें से अनेकों कहानियों का विकसित रूप रामायण और महाभारत में भी पाया जाता है।[1]

बुद्ध ने परम्परागत लौकिक गाथाओं को सुभाषितों के रूप में ग्रहण किया। 'बिलारवत' जातक की एक गाथा में 'बिडालव्रत' का लक्षण दिया गया है। बुद्धकाल में, कोई ऐसी बिडाल कथा प्रचलित रही होगी, जिसमें चूहों को धोखा देकर कोई बिडाल उन्हें खा जाता था। धर्म की आड़ में धोखा देने वाले कृत्य का यह प्रतीकात्मक आख्यान है। इस प्रकार के कार्य को, उस समय में 'बिडालव्रत' के रूप में पर्याप्त मान्यता दी जा चुकी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए बुद्ध ने, उसे जातक कथा में सम्मिलित करके अपना लिया।[2] महाभारत,[3] मनुस्मृति[4] एवं विष्णु स्मृति[5] में भी, इस बिडालव्रत का उल्लेख आया है।

'जातक' में जातकों की कुल संख्या ५४७ है। जिनमें, कुछ जातक

---

१ जातक-प्रथम खंड-भूमिका-भदन्त आ० कौस० पृ. २४

२ यो वे धम्मं धजं कत्वा निगूलहो पापमाचरे।
विस्सासयित्वा भूतानि बिलार नाम तं वतं॥

—बिलारवत जातक—१२८

३ महाभारत—५-१६०-१३

४ धर्मध्वजो सदा लुब्धादमिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधिकः॥ —मनुस्मृति-अ. ४-१९४

५ विष्णुस्मृति—९३-८

नये आ गये हैं।[1] और, कुछ प्राचीन जातक इसमें नहीं आ पाये हैं।[2] तथापि यह जातक साहित्य, उपदेशपूर्ण और मनोरंजक है।

जैन आख्यान/कथा साहित्य

प्राचीन जैन आगमों में कथा-साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। 'आचारांग' में, महावीर की जीवन-गाथा है, तो 'कल्पसूत्र' में तीर्थंकरों की जीवनियों की संक्षिप्त झाँकी है। 'नायाधम्मकहाओ' के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों में, और दूसरे श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में अनेकों मनोहारी और उपदेशात्मक कथाओं का चित्रण है। शिष्यों के प्रश्नों के उत्तररूप में, वीर जीवन की झाँकी 'भगवती' के संवादों में प्रस्तुत की गई है। 'सूत्रकृतांग' के छठे व सातवें अध्ययनों में, आर्द्रककुमार के गोशालक और वेदान्तियों के साथ सम्वादों का, तथा पेढालपुत्र उदक के साथ गण-धर गौतम के सम्वादों का उल्लेख है। इसी के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्ययन में, पुण्डरीक का दृष्टान्त महत्वपूर्ण है। 'उत्तराध्ययन' में भी जो अनेकों भावपूर्ण व शिक्षाप्रद आख्यान आये हैं, उनमें, नेमिनाथ की जीवन-गाथा का प्रथम उल्लेख, विशेष महत्व का है। श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि, और राजीमती की कथाएं तथा कपिल का आख्यान भी आकर्षक एवं मनोहारी है। इसी के चोर,[3] गाड़ीवान,[4] तीन व्यापारियों के दृष्टान्त[5] तथा हरिकेश—ब्राह्मण,[6] पुरोहित और उसके पुत्र,[7] पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के सम्वाद,[8] विशेष उल्लेखनीय हैं।

आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, और शालिहीपिता इन दस श्रावकों का जीवन चित्र, 'उपासकदशांग' के दस आख्यानों में चित्रित है। इन्होंने, संसार का परित्याग सर्वांशतः नहीं किया था, फिर भी, वे मोक्षप्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहे। इनके जीवन-चरितों का यही वैशिष्ट्य रहा है।

---

१ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर—डा. विन्टरनित्ज, वॉ. II, पृष्ठ—१२४, फुटनोट १

२ वही—पृष्ठ—११५, फुटनोट ४

३ उत्तराध्ययन सूत्र—अध्य० २१,

४ वही—अध्ययन—२७

५ वही—अध्ययन—२१,

६ वही—अध्ययन—१२

७ वही—अध्ययन—१२

८ वही—अध्ययन—२३

'अन्तकृद्दशांग' में उन अनेकों महापुरुषों और स्त्रियों का जीवन-चारित्र वर्णित है, जिन्होंने उग्र तपश्चरण द्वारा, अपनी सांसारिकता को विखण्डित करके मोक्ष प्राप्त किया। 'अनुत्तरोपपातिक दशांग' में, ऐसे दस साधकों की जीवनचर्या वर्णित की गई है, जो अपने साधना बल से, पहले तो अनुत्तर विमानों में जन्म लेते हैं, फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर, मोक्षगामी बनते हैं। स्थानांग[1], तत्त्वार्थराजवार्तिक[2] और अंगपण्णत्ति[3] में, साधकों के नामों में, और उनके वर्णन में भी भिन्नता स्पष्ट देखी गई है।

'विपाक सूत्र' में शुभ-कर्मों का और अशुभ-कर्मों का परिणाम कैसा होता है? यह बतलाने के लिए दस-दस व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों को उद्धृत किया गया है। इसके प्रथम श्रुत-स्कन्ध में, दुष्कृत-परिणामों का दिग्दर्शन कराने के लिये, जिन दस कथानकों को चुना गया है, उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्नसेन, (अभग्गसेन), शकटकुमार, बृहस्पतिदत्त, नन्दीवर्धन, उदुम्बरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्ता और अंजुश्री। स्थानांग में, इनसे भिन्न नाम मिलते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अंडशकट, माहन, नंदीषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहसोद्दाह आमटक और कुमारलिच्छवी।[4] इन नामों का वर्तमान में उपलब्ध नामों के साथ सुन्दर समन्वय किया है—पं० बेचरदासजी दोशी ने, जो द्रष्टव्य है।[5]

दूसरे श्रुतस्कन्ध में, सुकृत परिणामों का दिग्दर्शन कराने वाले, जिन दस जीवनवृत्तों को चुना गया है, उनके नाम हैं—सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार (वैश्रमणकुमार), धनपति, महाबलकुमार, भद्रनन्दीकुमार, और वरदत्तकुमार। इसी तरह के शिक्षाप्रद भावप्रधान आख्यान, उत्तराध्ययनसूत्रनिर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और नन्दीसूत्र में भी हैं।

---

१ ठाणं १०/११४ २ तत्त्वार्थराजवार्तिक—१/२०

३ ....उजुदासो सालिभद्दक्खो। सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेण णंदगया। णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तस अण्णे ॥—अंगपण्णत्ती—५५

४ ठाणांग—१०/१११।

५ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १, पृष्ठ २६३, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

श्वेताम्बर परम्परा के आगमोत्तरवर्ती आख्यान साहित्य से जुड़े पउमचरिय (विमलसूरि), सुपार्श्वचरित (लक्ष्मणगणि), महावीर चरिय (गुणभद्र), तरंगवती, वसुदेव-हिण्डी, समराइच्चकहा (हरिभद्र), हरिवंश, प्रभावकचरित, परिशिष्टपर्व, प्रबन्ध चिन्तामणि और तीर्थकल्प आदि अनेकों ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें धर्म, शील, पुण्य, पाप और संयम एवं तप के सूक्ष्म-रहस्यों की विवेचना की गई है। जिनमें, मानवीय जीवन और प्राकृतिक विभूति के समग्र चित्र उज्ज्वलता और निपुणता के परिवेश में प्रस्तुत किये गये हैं।

दिगम्बर परम्परा, श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध अङ्ग-साहित्य को स्वीकार नहीं करती। इसकी मान्यता है कि द्वादशाङ्ग साहित्य लुप्त हो चुका है। उसका जो कुछ भाग शेष बचा है, वह 'षट्खण्डागम', 'कषाय-पाहुड' और 'महाबन्ध' जैसे उपलब्ध ग्रन्थों में सुरक्षित है। फिर भी, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा के अङ्ग-साहित्य में भी अनेक आख्यान पाये जाते थे। वस्तुतः, दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों ही परम्पराओं में मान्य आगमों के नाम लगभग एक जैसे ही हैं। जो कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर परम्परा भेद से परिलक्षित होता है, उसका कोई ऐसा महत्व नहीं है, जिसका दुष्प्रभाव, मौलिक मान्यताओं पर अपनी छाप डाल पाता हो।

उपलब्ध दिगम्बर साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। इनमें ढेर सारे कथानक, आख्यान और चरित मिलते हैं। भावना की उपयोगिता, साधना के क्षेत्र में कितनी महत्वपूर्ण है। इस का बहुमुखी परिचय, 'भावपाहुड' का अध्ययन करने से स्वतः मिल जाता है। निस्संग हो जाने पर भी, 'मान' कषाय की उपस्थिति के कारण बाहुबलि के चित्त पर कालुष्य बना ही रहा[1], अपरिग्रही मुनि मधुपिंग को 'निदान' के कारण द्रव्यलिङ्गी बने रहना पड़ा,[2] वशिष्ठ मुनि की भी दुर्दशा, इसी निदान के कारण, कुछ कम नहीं हुई।[3] बाहुमुनि को, क्रोधाविष्ट होकर दण्डक राजा का नगर भस्म कर देने के परिणामस्वरूप रौरव नरक तक भोगना पड़ा,[4] दीपायन को भी द्वारका नगरी भस्म करने के फलस्वरूप

१. भावपाहुड गाथा ४४
२. वही गाथा ४५
३. वही ,, ४६
४. वही ,, ४९

अनन्त-संसारी बनना पड़ा[1], और भव्यसेन मुनिराज, द्वादशाङ्ग एवं चौदह पूर्वों के पाठी होते हुये भी, सम्यक्त्व के अभाव में, भाव-श्रामण्य प्राप्त नहीं कर पाये।[2]

इन कथाओं के साथ, भावश्रमण शिवकुमार का ऐसा कथानक भी जुड़ा हुआ है, जिसमें इन्हें, युवतियों से घिरा रहने पर भी विशुद्ध चित्त और आसन्नभव्य बने रहने की भूमिका में चित्रित किया गया है।[3] कुन्द-कुन्दाचार्य के ही 'शीलपाहुड' में सात्यकि पुत्र का एक और भावपूर्ण कथानक वर्णित[4] है।

'तिलोय-पण्णत्ति' में त्रेसठ शलाका-पुरुषों की जीवन-घटनाओं का प्रभावपूर्ण वर्णन है। वट्टकेर के 'मूलाचार' में एक ऐसी घटना का वर्णन किया गया है, जिसमें, एक ही दिन, मिथिला नगरी की कनकलता आदि स्त्रियों, और सागरक आदि पुरुषों की हत्या का वर्णन है।[5] 'मूलाराधना' में अनेकों सुन्दर आख्यान हैं। जिनमें, सुरत की महादेवी[6], गोर संदीवमुनि[7] और सुभग ग्वाला[8] आदि के आख्यान मुख्य हैं। इनका विस्तृत वर्णन हरिषेण और प्रभाचन्द्र ने भी अपने-अपने कथाकोषों में किया है।[9]

समन्तभद्र स्वामी का 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' आख्यानों का भण्डार है। इसमें अंजन चोर, अनन्तमती, उद्दायन, रेवती, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णुकुमार, और वज्रकुमार आदि के आख्यानों से ज्ञात होता है कि ये सब, सम्यक्त्व के प्रत्येक अंग का परिपूर्ण पालन करने के लिये विख्यात थे। इनके अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियों के आख्यान भी इसमें मिलते हैं, जो व्रतों का पालन करते हुए भी, पापाचरण के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इसी में, उस मेंढक की भी प्रसिद्ध कथा वर्णित है, जो भ० महावीर के दर्शन के लिए निकलता है, किन्तु रास्ते में ही श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दब कर मर जाता है। और, तुरन्त महर्द्धिक देव का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

---

१. भावपाहुड गाथा ५०
२. वही गाथा ५१
३. वही गाथा ५२
४. शील प्राभृत गाथा ५१
५. मूलाचार १/८६-८७
६. मूलाराधना आ० ६, गाथा १०६१
७. वही, गाथा ९१५
८. वही, गाथा ७५९
९. बृहद् कथाकोष प्रस्तावना सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये।

पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत, आदिपुराण (जिनसेनाचार्य), उत्तर-पुराण (गुणभद्र), महापुराण (अपभ्रंश, पुष्पदन्त) आदि विभिन्न पुराणों में, तथा 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' (दोनों हरिचन्द), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि), यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव), हरिवंश (जिनसेन), पद्मचरित रविषेण); पुरुदेवचम्पू (अर्हद्दास) एवं गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) आदि विभिन्न महाकाव्यों/चरितकाव्यों में पाये जाने वाले आख्यान तथा कथायें, जैनधर्म-कथाओं की महनीयता को सिद्ध करते हैं। तमिल और कन्नड़ भाषा के जैन साहित्य में भी, भारतीय आख्यान-साहित्य की अनुपम निधि भरी पड़ी है।

नीतिकथा

भारतीय आख्यान साहित्य में 'नीतिकथा' साहित्य का विशेष स्थान है। संस्कृत साहित्य की नीतिकथाओं ने, विश्व के कथा साहित्य में अपना स्थान विशेष ऊँचा बना लिया। क्योंकि, वे जिन-जिन देशों में पहुँची, वहीं-वहीं पर लोकप्रिय बनती गईं।

अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक डॉ. सेमुअल जान्सन ने, नीति-कथा की परिभाषा इस प्रकार की है—'विशुद्ध नीतिकथा, एक ऐसा निवेदन है, जिसमें कुछ बुद्धिहीन प्राणी एवं कभी-कभी अचेतन पदार्थ, पात्रों के रूप में नीति-तत्त्व की शिक्षा देने हेतु आये हों, और वे, मानवीय हितों एवं भावों को ध्यान में रखकर, चेष्टा तथा सम्भाषण करने में कल्पित किये गये हों।'[1]

डॉ. जान्सन की उक्त परिभाषा के अनुसार नीतिकथा के तीन मूल-तत्त्व स्पष्ट होते हैं—१. पात्र, २. हेतु, एवं ३, कल्पना तत्व। [इन तीनों का स्वरूप-निर्धारण, उक्त परिभाषा के अनुसार, हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

१. पात्र—मानवेतर (बुद्धिहीन) चेतन प्राणी तथा अचेतन पदार्थ।
२. हेतु—किसी नीतितत्व की शिक्षा देना, या उसका स्वरूप-प्रति-पादन।
३. कल्पना तत्व—मानवीय हितों एवं भावों को ध्यान में रखते हुए, ऐसे पात्रों की कल्पना, जिनमें मानवोचित सम्भाषण और चेष्टाओं की कल्पना करना सहज सम्भव हो।

---

१. Lives of the English Poets : Vol. I, Edited By. G. Birckback Hill, Oxford, Goy. P. 283

संस्कृत साहित्य की नीति-कथाओं के प्रमुख पात्र, मानवेतर प्राणी-पशु-पक्षी रहे हैं। ये अपनी-अपनी कहानियों में, मनुष्य की ही भाँति सम्पूर्ण व्यवहार करते हुये पाये जाते हैं। हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, हास्य-रुदन, युद्ध-सन्धि, उपकार-अपकार एवं चिन्ता-उत्कण्ठा जैसे भावात्मक व्यवहारों में उनका आचरण, मानव जैसा ही होता है। यही पशु-पक्षी, अपनी-अपनी कहानियों में, व्यावहारिक राजनीति एवं सदाचार के सूक्ष्मतम रहस्यों और उनकी उपलब्धियों का, तथा इन सबकी साधनभूत गूढ़ मंत्रणाओं तक को, बड़े स्वाभाविक ढंग से प्रतिपादित करते देखे जाते हैं। किन्तु, उपलब्ध नीतिकथा साहित्य में, एक भी ऐसी कथा नहीं मिलती, जिसमें, अचेतन/निर्जीव पात्रों को स्वीकार किया गया हो। हाँ, ऋग्वेद में, उषा से सम्बन्धित एक कविता है।[1] किन्तु, उसमें दृश्य का प्राकृतिक सौन्दर्य ही अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ पर, प्रकृति, जीवन्त स्वरूप में उपस्थित अवश्य हुई है, पर वह, किसी कथा/आख्यान के पात्र जैसा काय/व्यवहार नहीं करती। इसलिए इस उषा-वर्णन में, प्रकृति के मानवीयकरण का विश्लेषण, हम स्वीकार करेंगे। क्योंकि पात्र बनकर, किसी कहानी में कार्य/व्यवहार करना, एक अलग बात है। इस पात्र-कार्य/व्यवहार की समानता, प्रकृति के मानवीयकरण से एकदम विपरीत बैठती है। इसलिए, डॉ० जान्सन की परिभाषा में 'कभी-कभी अचेतन पदार्थ' की पात्रता का सिद्धान्त-कथन चिन्तनीय प्रसंग उपस्थित कर देता है।

सन् १८४२ में, लन्दन में फेबल्स (Fables) नाम से एक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था।[2] इसमें अलग-अलग लेखकों की जो लघुकथाएँ, सम्पादक द्वारा संकलित की गई थीं, वे सबकी सब, 'फेबल्स' के अन्तर्गत ही रखी गई थीं। इनमें प्रख्यात ग्रीक नीतिकथाकार ईसप (Aesop) से लेकर डोडस्ले (Dodsl y) तक की नीति कथाएँ थीं। इन कथाओं के पात्रों में कहीं 'ईसप एवं गर्दभ' है, तो कहीं पर 'दो बर्तन' है। शृगाल, सिंह, आदि पंचतन्त्र की कहानियों जैसे पात्र भी कुछ कथाओं में थे। इन सब कहानियों को 'फेबल्स' कहना, उस समय ठीक माना जा सकता था, क्योंकि, इस संग्रह के प्रकाशन काल तक तक, नीतिकथा की कोई भेद-दर्शिका व्याख्या/परिभाषा, या ऐसा ही कोई लक्षण-विशेष, स्पष्ट नहीं हो

---

१. ऋग्वेद १/४८/१—१६

२. Fables : Editor G. Moir Bussey, London, 1842

पाया था। किन्तु आज, 'फेबल्स' का स्पष्ट स्वरूप सामने आ चुका है।[1] तदनुसार, 'नीतिकथा' के अन्तर्गत वे ही कथाएँ ग्रहण की जा सकेंगी, जिनमें अधिकतर पात्र मानवेतर क्षुद्र प्राणी हों, और, कहीं-कहीं, मानवीय पात्र भी आये हों। किन्तु, प्रमुख रूप में नहीं, बल्कि, गौण रूप में हों।

पशु-पक्षियों के माध्यम से व्यावहारिक उपदेश देने की परम्परा, भारत में बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में 'मनु और मत्स्य' की कथा आई है। छान्दोग्योपनिषद् में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ श्वान का आख्यान है। रामायण में कुछ नीति-कथाएँ वर्णित हैं और कुछ उपमाओं द्वारा संकेतित। महाभारत में भी विदुर के श्रीमुख से अनेकों उपदेशप्रद नीति-कथाएँ कहीं गई हैं। ई० पू० तीसरी शताब्दी के भारहूत-स्तूप पर भी अनेकों नीति कथाएँ उट्टंकित की गई हैं।[2] पातंजलि के महाभाष्य में 'अजाकृपाणीय' काकतालीय' आदि लोकोक्तियों का, और 'सर्पनकुल' 'काकउलूक' की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख आया है।

नीति कथा का स्पष्ट रूप 'पंचतन्त्र' में मिलता है। विष्णु शर्मा द्वारा रचित यह ग्रन्थ, नीति-साहित्य का सर्व प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु, मौलिक 'पंचतन्त्र' आज उपलब्ध नहीं है। वैसे, पंचतन्त्र के आजकल आठ संस्करण उपलब्ध हैं, जिनमें, थोड़ा-बहुत हेर-फेर अवश्य है। इन सारे संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर डॉ० एजर्टन ने एक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया है।

'पंचतन्त्र' की रचना कब हुई? निश्चय के साथ, आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बादशाह खुसरू अनुशेरवां (५३१—५७९) के शासनकाल में, इसका पहली बार अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ था। परन्तु, आज यह अनुवाद भी अप्राप्य हो गया है। इस अनुवाद के आसुरी (Syriac) और अरबी रूपान्तर अवश्य मिलते हैं। जिनके नाम क्रमशः 'कलिलग तथा दमनग' (५७० ई०) और 'कलीलह तथा दिमनह' (७५० ई०) रखे गये थे। इन नामों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि पहलवी भाषा में अनुदित ग्रन्थ का नाम भी पंचतन्त्र के प्रथम तन्त्र में वर्णित दोनों शृगालों के

१ Oxford Junior Encyclopaedia : 'Vol. I. 'Mankind' Oxford, 1955 p. 167

२ मैंकडानल : इन्डियाज पास्ट—पृष्ठ ११७।

नाम पर रहा होगा। और सम्भव है, इस रूपान्तर के समय तक, पंचतन्त्र नामकरण भी यही हो गया हो।

पंचतन्त्र में चाणक्य का उल्लेख होने, और उस पर 'अर्थशास्त्र' का स्पष्ट प्रभाव होने से, यह भी अनुमानित होता है कि इसका रचना काल ३०० ई० के निकट होना चाहिए। क्योंकि अर्थशास्त्र को, दूसरी शताब्दी की रचना माना जाता है।

विश्व में, जिन पुस्तकों के सर्वाधिक अनुवाद हुए हैं, उनमें से एक 'पंचतन्त्र' भी है। भारत में, यह सभी भाषाओं में, लगभग अनूदित हो चुका है। पचास से अधिक विदेशी भाषाओं में, दो सौ पचास संस्करण इसके निकल चुके हैं।[1] ग्यारहवीं शताब्दी में इसका हिब्रू में, १३वीं शताब्दी में स्पेनिश में, और १६वीं शताब्दी में लैटिन एवं अंग्रेजी भाषाओं में अनुवाद हुआ था। इसके प्राचीनतम अनुवाद से यह पता चलता है कि इसमें कुल बारह तन्त्र रहे होंगे। आज, सिर्फ पांच ही तन्त्र इसमें हैं।[2]

पंचतन्त्र के बाद सर्वाधिक प्रचलित संकलन, नारायण पण्डित का 'हितोपदेश' है। इसकी एक पाण्डुलिपि १३७३ ई० की मिली है। जिसके आधार पर, इसका रचना काल १४वीं शती से पूर्व का माना जा सकता है। डॉ० कीथ का कथन है कि इसका रचनाकाल ११वीं शती से बाद का नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें रुद्रभट्ट का एक पद्य उद्धृत है। ११९९ ई० में, एक जैन लेखक ने भी इसका उपयोग किया था। इससे भी उक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

'हितोपदेश' पंचतन्त्र की ही पद्धति पर लिखा गया है बल्कि, इसकी कुल ४३ कथाओं में से २५ कथाएँ, 'पंचतन्त्र' से ली गई हैं। इस सत्य को स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तावना भाग में स्वीकार किया है। दोनों में सिर्फ इतना फर्क है कि हितोपदेश में, पंचतन्त्र की अपेक्षा, श्लोक अधिक हैं। इनमें से कुछ श्लोक 'कामन्दकीय नीतिसार' में मिलते हैं।

बौद्धों की नीतिकथाएँ जातकों में संकलित हैं। इनका संकलन ई० पू० ३८० में विद्यमान था। एक चीनी विश्वकोश (६६८ ई०) में बौद्ध ग्रन्थों से ली गई २०० नीतिकथाओं का अनुवाद है।[3] 'अवदानशतक' में, और

---

१ संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पृष्ठ-३०० ।

२ मैकडानल : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ-३७० ।

३ वही—पृष्ठ-३६८ ।

आर्यशूर रचित 'जातकमाला' में भी बौद्धों की नीतिकथाओं का संकलन है।

जैन सिद्धान्तों की विवेचना/व्याख्या के लिए अनेकों नीतिकथाओं की रचना हुई है। प्राकृत साहित्य में इन कथाओं की भरमार है। इनका संस्कृत रूपान्तर, बहुत बाद की वस्तु है। 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' को भी संस्कृत साहित्य के नीतिकथा ग्रन्थों में महत्वपूर्ण सम्मान मिला है। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई जिनकीति की 'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' तथा 'पाल-गोपाल कथानक' रचनाएँ, नीति-कथाग्रंथों में रोचक मानी गई हैं। प्रथम रचना में, भाग्य को जीतने के लिए रावण के निष्फल प्रयास का वर्णन है। जबकि दूसरी रचना में, एक ऐसे युवक का कथानक है, जो किसी मनचली स्त्री के चंगुल में फँसने से इनकार कर देता है। फलस्वरूप वह स्त्री, उस युवक पर दोषारोपण करने लगती है। त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित के 'परिशिष्ट पर्व' को हेमचन्द्र (१०८८-११७२) ने, नीति-कथाग्रन्थ के रूप में रचा। इसमें, जैनसन्तों के मनोहारी जीवन-वृत्तों की कथाएं समाविष्ट हैं। 'सम्यक्त्व कौमुदी' में अर्हद्दास और उसकी आठ पत्नियों के मुख से सम्यक् धर्म को प्राप्ति का प्रतिपादन कराया गया है। जिसे, एक राजा और चोर भी सुनते हैं। इस ग्रन्थ की पद्धति, एक ही कथा के अन्तर्गत अनेकों कथाओं का समावेश करने की परम्परा पर आधारित है।

इन तमाम सन्दर्भों को लक्ष्य करके कहा जा सकता है कि 'नीति-कथा' का प्रमुख लक्ष्य है—'सरल और मनोरंजक पद्धति से धर्म, अर्थ और काम की चर्चाओं के साथ-साथ सदाचार, सद्व्यवहार और राजनीति के परिपक्व ज्ञान को मानव-मन पर इस तरह अंकित कर देना कि वह मायावी और वञ्चकों के जाल में उलझने न पाए।'

लोक-कथा साहित्य का भी लक्ष्य स्पष्ट है—'लोक-मनरञ्जन'। इनके पात्र, पशु-पक्षी न होकर, मात्र मानव ही होते हैं।

गुणाढ्य की *'बृहत्कथा' लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह-ग्रन्थ है।* 'अपने समय की प्रचलित लोककथाओं को संकलित करके गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की' ऐसी कुछ विद्वानो की धारणा है। मूल 'बृह-त्कथा' आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए, इसके आकार आदि के सम्बन्ध

में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अवशिष्ट नहीं रहा। परन्तु, दण्डी,[1] सुबन्धु[2], बाण[3] धनंजय[4], त्रिविक्रम भट्ट[5], और गोवर्धनाचार्य[6] आदि ने इसका उल्लेख अपनी-अपनी रचनाओं में, आदर के साथ किया है।

इसके तीन रूपान्तर आज मिलते हैं—(१) नेपाल के बुद्धस्वामी रचित 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' (८वीं, ९वीं ई. शती)। यह रचना भी आज अंशतः उपलब्ध है। इसके वर्तमान स्वरूप में २८ सर्ग और ४५२४ पद्य है। इसकी भाषा में, कहीं-कहीं पर प्राकृत स्वरूप दिखलाई देता है, जिससे यह सम्भावना अनुमानित होती है कि ये अंश मूल ग्रन्थ से लिए गए होंगे।

(२) काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रय मे रहने वाले कवि क्षेमेन्द्र द्वारा रचित—'बृहत्कथामञ्जरी' (१०३७ ई०)। इसमें ७,५०० श्लोक हैं।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' (१०६३—१०९१ ई०) में १२४ तरंगें और २०२०० पद्य हैं। इसके सरस आख्यान मनोरंजक हैं और हृदयंगम शैली में लिखे गये हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी रचना का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा है।[7] कथा-सरित्सागर, विश्व का विशालतम कथा-संग्रह ग्रथ है।

कीथ, बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' को गुणाढ्य की रचना का विशुद्ध रूपान्तर मानते हैं। काश्मीर की जनश्रुति के अनुसार यह श्लोकबद्ध थी। किन्तु दण्डी ने, इसको गद्यमय बतलाया है।[8] बृहत्कथा, भारतीय साहित्य में उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में समादृत है। इस दृष्टि से, इसे रामायण और महाभारत के समकक्ष माना जा सकता है।

'वैताल पञ्चविंशतिका' भी बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर की पद्धति पर लिखी गई रचना है। इसमें, एक वैताल ने उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य को, पहेलियों के रूप में २५ कथाऐं सुनाई हैं। ये, मनोरंजक

---

१ काव्यादर्श-१/३८
२ वासवदत्ता (सुबन्धु)
३ हर्षचरित-प्रस्तावना
४ दश रूपक १/६८
५ नलचम्पू १/१४
६ आर्यासप्तशती पृष्ठ—१३
७ प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योतदीपिकाम्।
बृहत्कथायां सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्॥
—बृहत्कथासार—पृष्ठ—१. पद्य ३
८ काव्यादर्श—१/२३, ६८

होने के साथ-साथ विशेष कौतूहलपूर्ण भी हैं। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—१. शिवदास कृत संस्करण (१२०० ई.) गद्य—पद्यात्मक है। और जम्भलदत्त का केवल गद्यमय है।

'सिंहासन द्वात्रिंशिका' भी इसी शैली और परम्परा की रचना है। इसके कथानक में, विक्रम के सिंहासन की बत्तीस पुत्तलिकाएँ, राजा भोज को एक-एक कहानी सुनाती जाती हैं और कहानी सुनाने के बाद उड़ जाती हैं। इस रचना के दो उपनाम—'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' और 'विक्रमचरित' मिलते हैं। भिन्न--भिन्न प्रकारों वाले इसके तीन अलग-अलग संस्करण प्राप्त होते हैं। इनमें से एक गद्य में, दूसरा पद्य में, और तीसरा गद्य-पद्य मयी भाषा-शैली में है। इसका रचना-काल भोज के समय (१०१८-१०६३) के बाद का ठहराया गया है। दक्षिण भारत में इसका अधिक प्रसिद्ध नाम 'विक्रमार्कचरित है।

विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथाओं के कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। ये हैं—अनन्त का 'वीरचरित', शिवदास की 'शालिवाहन कथा' और भट्ट विद्याधर के शिष्य आनन्द की 'माधवानल कथा'। एक अज्ञात लेखक का 'विक्रमोदया' तथा एक जैन संकलन—'पञ्चदण्डच्छत्र प्रबन्ध'।

'शुक सप्तति' में, कार्यवशात् घर छोड़कर गये मदनसेन की प्रियतमा का मन बहलाने के लिये, उसका पालतू तोता, हर रात्रि में एक मनोरंजक कहानी उसे सुनाता है। ७० दिनों के बाद मदनसेन घर लौटता है। इस तरह, तोते द्वारा कही गई कहानियों के आधार पर, इसका नामकरण किया गया है। इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमानित किया गया है। इसके भी तीन संस्करण प्राप्त होते हैं। मैथिली कवि विद्यापति की पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना 'पुरुष परीक्षा' में नीति और राजनीति से सम्बन्धित कथाएँ हैं। शिवदास के 'कथार्णव' की पैंतीस कथाएँ चोरों और मूर्खों की कथाएँ हैं। अनेक कवियों की मनोरंजक दंतकथाएँ 'भोज-प्रबन्ध' में संग्रहीत हैं। इसी परम्परा के संग्रह ग्रन्थों में 'आरण्ययामिनी' और ईसब्नीति कथा' को गिना जाता है।

चारित्रसुन्दर का 'महिपाल चरित'[1] चौदह सर्गों का कथा ग्रन्थ है। इसका रोचक कथानक पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा गया, ऐसा अनुमान किया

१ श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा १९०९ में सम्पादित। द्रष्टव्य-विन्टरनित्ज : ए हिस्ट्री आफ इन्डियन कल्चर-भाग-२, पृष्ठ-५३६-५३७.

जाता है। इसी तरह का मनोरंजक कथानक है—'उत्तम चरित कथानक'[1]। आश्चर्यपूर्ण और साहसिक घटनाएँ इसमें वर्णित हैं। प्रत्येक कथानक, जैन धर्म के किसी न किसी पवित्र आदर्श की ओर इंगित करता है। इसकी रचना गद्य-पद्यमय है। भाषा संस्कृतमय है। कुछ प्रान्तीय भाषाओं के शब्द प्रयोग, इसका रचना-स्थल गुजरात में होने का संकेत करते हैं। 'पाप बुद्धि और धर्मबुद्धि'[2] कथानक एक विनोदपूर्ण धार्मिक कृति है।

'चम्पकश्रेष्ठि' जिनकीर्ति द्वारा काल्पनिक कथानक पर रचित एक मनोरंजक कथानक है।[3] इसमें जो तीन कथाएँ संकलित है, उनमें से पहला कथानक, भाग्य-रेखाओं को निरर्थक बनाने में असफल महाराज 'रावण' का है। दूसरा कथानक, एक ऐसे भाग्यशाली बालक का है, जो प्राणनाशक पत्रक में फेरबदल करके अपने प्राणों की रक्षा कर लेता है। तीसरा कथानक एक ऐसे व्यापारी का है, जो जीवन भर तो दूसरों को ठगता है, किन्तु जीवन की अन्तिम बेला में, स्वयं, एक वेश्या द्वारा ठग लिया जाता है। इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

इसी स्तर की एक और रचना 'पाल-गोपाल कथानक' जिनकीर्ति द्वारा रचित है। इसमें, प्रस्तुत कथानक भी मनोरंजक है। प्राणघातक पत्रक को बदल कर प्राण रक्षा करने वाले एक और कथानक के आधार पर 'अघटकुमार'[4] कथा का प्रणयन किया गया है। इस कथा के भी दो अन्य संस्करण मिलते हैं। जिनमें, एक छोटा, दूसरा बड़ा है। एक गद्यमय है और दूसरा पद्यमय। 'अम्बड चरितं'[5] जादुई मनोविनोद से भर-

१ इसका गद्यभाग श्री ए. बेबर द्वारा जर्मनभाषा में अनूदित और सम्पादित है। 'उत्तमकुमारचरित' नाम से चारुचन्द्र द्वारा किया गया इसका पद्यबद्ध रूपान्तर भी श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित हो चुका है। द्रष्टव्य-विन्टरनित्ज : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर. भाग-२, पृष्ठ-५३८

२ श्री ई. लवाटिनी द्वारा इटालियन भाषा में सम्पादन और अनुवाद किया ज चुका। द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ ५३८

३ श्री हर्टेल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित-सम्पादित-वही-५१६

४ श्री चारलट क्रूसे द्वारा पद्यभाग का जर्मन में अनुवाद किया गया है। संक्षिप्त पद्यभाग १९१७ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई 'अघटकुमार चरित' नाम से प्रकाशित हो चुका है। द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४०

५ श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित एवं श्री चारलट क्रूसे द्वारा जर्मन में अनूदित। द्रष्टव्य—वही-पृष्ठ-५४०

पूर, अमरसुन्दर की रचना है। इसमें अम्बड की कथा आधुनिक रूप में वर्णित है।

ज्ञानसागरसूरि की रचना 'रत्नचूडकथा'[1] में पर्याप्त रोचक और मनोरंजक कथाएँ हैं। इसमें एक ऐसी कथा आई है, जिसमें, 'अनीतिपुर' नाम की नगरी में 'अन्याय' नाम के राजा और 'अज्ञान' नाम के मन्त्री की कल्पनाएँ करके, इन सब का मनोहारी चरित्र-चित्रण किया गया है। इसका रचनाकाल, पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग अनुमानित किया जाता है। इसमें, अन्य और भी कथानक हैं। जिनमें से अनीतिपुर नगर, अन्याय राजा और अज्ञान मन्त्री के कथानक की कल्पना में, सिद्धर्षि प्रणीत 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

पञ्चतंत्र की शैली पर लिखी गई 'सम्यक्त्व कौमुदी' धार्मिक और मनोरंजक कथाओं से भरी-पूरी रचना है। कथा का प्रारम्भ और सम्पूर्ण कथावस्तु गद्य में है। किन्तु, बीच-बीच में कुछ गम्भीर बातों के लिए पद्यों का प्रयोग 'उक्तञ्च' 'अन्यच्च' 'तथाहि' 'पुनश्च' आदि शब्दों का सहारा लेकर किया गया है। काल्पनिक आख्यानों के आधार पर सरल, विनोद-पूर्ण शैली में रचित, धार्मिक कथावस्तुपूर्ण इस रचना के कर्त्ता का और रचना काल का भी, कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। किन्तु, १४३३ ई० की, इसकी जो पाण्डुलिपि श्री ए. वेबर को प्राप्त हुई, उससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसका रचनाकाल भी १४३३ ई. से बाद का नहीं हो सकता। इस रचना में स्फुटित व्यंग्य, उन्नत आदर्श, सौम्य व्यवहार और लोक कल्याणकारी सिद्धान्तों का अक्षय वैभव पद-पद पर भरा पड़ा है।

'क्षत्रचूड़ामणि' में जिन साहसिक, धार्मिक और मनोरंजनकारी कथाओं का समावेश वादीभसिंह ने किया है और प्रत्येक पद्य के अन्त में हितकर, मार्मिक और अनुभवपूर्ण गम्भीर नीति-वाक्यों का जिस तरह से समावेश किया है, उसे देखकर, इसे नीति-वाक्यों का आकर-ग्रन्थ कहना, अतिशयोक्ति न होगा। जीवन्धर कुमार का सम्पूर्ण चरित इसमें वर्णित

---

१ यशोविजय जैन ग्रंथमाला-भावनगर द्वारा सन् १९१७ में प्रकाशित। श्री हर्टेल द्वारा जर्मनी में अनूदित। द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४१

है। इसकी मुख्य कथा के साथ-साथ अनेकों अवान्तर कथाएँ भी आती गई हैं।

इस रचना के जो तीन रूपान्तर प्राप्त होते हैं, उनमें से 'गद्य-चिन्तामणि' के कर्ता मूल-ग्रन्थ के रचयिता ही हैं। दूसरा रूपान्तर 'जीवन्धर-चम्पू' महाकवि हरिचन्द की रचना है। तीसरा रूप गुणभद्राचार्य के 'उत्तर पुराण' में मिलता है। जैन जगत के 'बृहत्कथाकोश' 'परिशिष्ट पर्व' व 'आराधना कथाकोश' तथा बौद्ध साहित्य के 'अवदान शतक' एवं 'जातक-माला' को ऐसे कथाग्रंथों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिनमें लोककथाओं की विनोदपूर्ण शैली के माध्यम से, उच्चतम जीवन-साधना और आदर्शों की ओर स्पष्ट सङ्केत किये गये हैं।

इन तमाम, भारतीय-लोक कथाओं के विपुल साहित्य ने यात्रियों, व्यापारियों और धर्मप्रचारक साधु-संन्यासियों के माध्यम से, सुदूर देशों में पहुँच कर, वहाँ-वहाँ के कथा-साहित्य को न सिर्फ प्रभावित किया, वरन्, उसमें, भारतीय आख्यान साहित्य की एक ऐसी अमिट निशानी भर दी, जो लोकमङ्गलकारी, जीवन्त आदर्शों का मनोरंजक उपदेश, मानवता को अनन्तकाल तक प्रदान करती रहेगी।

रूपक साहित्य : परम्परा एवं विकास

मानवीय हृदय के भावोद्‌गार, जब तक अपने अमूर्त स्वरूप में रहते हैं, तब तक उनका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा हो पाना सम्भव नहीं होता। ये ही भावोद्‌गार, जब किसी रूपक/उपमा में ढल कर, मूर्त रूप प्राप्त करते हैं, तब, वे सिर्फ इन्द्रिय ग्राह्य ही नहीं बन जाते, वरन् उनमें एक ऐसा अद्भुत शक्ति-संसार हो जाता है, जिससे वे, अपने साक्षात्कर्ता के मन/मस्तिष्क-पटल पर गम्भीर और अमिट छाप बना डालते हैं।

काव्य-जगत् में अरूप/अमूर्त भावों के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के प्रचलन का, ऐसा ही मुख्य कारण होना चाहिए। रूपक-साहित्य की सर्जना-शैली के मूल में भी, अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने का उपक्रम, आधारभूत-तत्त्व बनता है।

उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति और लक्षणा के दोनों प्रकार—सारोपा और साध्यवसाना, ऐसे प्रमुख उपकरण हैं, जो, रूपक-साहित्य की सर्जना शक्ति में प्रमुख-पाथेयता का निर्वाह करने में सक्षम हैं। इनमें से, सादृश्य-

मूला सारोपा की भित्ति पर रूपक का प्रासाद विनिर्मित होता है, और सादृश्यमूला साध्यवसाना की दीवालों पर, अतिशयोक्ति का भवन बनता है।[1] क्योंकि, सारोपा लक्षणा, विषय और विषयी को, यानी उपमान और उपमेय को, एक ही धरातल पर खड़ा कर देती है।[2] जबकि साध्यवसाना लक्षणा, विषय में विषयी का, अर्थात् उपमान में उपमेय का अन्तर्भाव करा देती है।[3] अरूप में रूप को पाने की शैली का, यही आधारभूत सिद्धान्त है।

अमूर्त को मूर्त बनाने के काव्य-शिल्प का बीजरूप सङ्केत, बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथ ब्राह्मण[4] में, और छान्दोग्योपनिषद्[5] में भी एक रूपकात्मक आख्यायिका के रूप में मिलता है। श्रीमद् भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में पुण्य और पापरूपी वृत्तियों का उल्लेख, दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के रूप में किया गया है। बौद्ध साहित्य में जातक, निदान कथा के 'अविदूरे निदान' की मार-विजय सम्बन्धी आख्यायिका और 'सन्तिके निदान' की अजपालवादि के नीचे वाली आख्यायिका में, अरूप को रूपमय बनाने के शैली-शिल्प का दर्शन होता है।

जैन साहित्य में, अनेकों छोटे-मोटे आख्यान रूपक शैली में मिलते हैं। जिनमें 'सूत्रकृताङ्ग' 'उत्तराध्ययन' और 'समराइच्चकहा' के कुछ रूपक विशेष उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिये :—

एक सरोवर है। उसमें, जितना अधिक पानी भरा है, उससे कम कीचड़ नहीं है। सरोवर में अनेकों श्वेतकमल विकसित हैं। इन सब के मध्य में, एक विशाल पुण्डरीक विकसमान है। इसके मनोहारी स्वरूप को देखकर, पूर्व दिशा से एक व्यक्ति आता है और उस पुण्डरीक को तोड़कर अपने साथ ले जाने के लिये, सरोवर में घुस जाता है। यह व्यक्ति, उस पुण्डरीक तक पहुँचे, इसके काफी पहिले, वह तालाब में भरे कीचड़

---

१. एवं च गौण-सारोपालक्षणासंभवस्थले रूपकम्, गौणसाध्यवसानलक्षणा संभवस्थले त्वतिशयोक्तिरिति फलितम्। —काव्यप्रकाश-वामनीटीका-पृष्ठ-५६३

२. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
—काव्यप्रकाश-भण्डा० ओरि० रि० इं० पूना, पृष्ठ-४७

३. विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।
—वही-पृष्ठ-४८

४. उद्गीथ ब्राह्मण-१/३

५. छान्दोग्योपनिषद्-१/२

में फँस कर रह जाता है। इसी व्यक्ति की तरह, तीन और व्यक्ति, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं की ओर से क्रमशः आते हैं और पुण्डरीक की मनोहर शोभा देख कर, उसे तोड़ने और अपने साथ ले जाने की इच्छा करते हैं। इसी प्रयास में, ये तीनों भी पूर्व-दिशा से आये पहिले व्यक्ति की ही भाँति, उस तालाब में भरे कीचड़ में फँस कर रह जाते हैं।

कुछ ही देर बाद, वहाँ एक भिक्षु भी आ पहुँचता है। भिक्षु सरोवर के तीर पर पहुँच कर, उसकी शोभा से आकृष्ट होकर, चारों ओर देखता है। उसे, तालाब के चारों ओर, कीचड़ में, उन चारों व्यक्तियों को फँसा देखकर, यह समझते देर नहीं लगती कि वे क्यों और कैसे, इस दुर्गति में पहुँचे हैं। अतः वह अपने स्थान से कुछ और आगे आता है, और सरोवर के किनारे पर पहुँचकर, वहीं खड़े रहते हुए ही कहता है—'ओ पुण्डरीक! मेरे पास आ जाओ।'

पुण्डरीक, भिक्षु की आवाज सुनते ही, अपने मृणाल से अलग होकर, उड़ता हुआ भिक्षु के हाथ में आता है। यह देखकर, कीचड़ में फँसे चारों व्यक्ति, आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

इस कथानक में जो प्रतीक अपनाये गये हैं, उन सब का प्रतीकार्थ स्पष्ट करके, कथा में अन्तर्निहित रहस्य/अभिप्राय को श्रमण भगवान् महावीर स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'कथानक में वर्णित सरोवर, यह संसार है। उसमें भरा हुआ जल, कर्म है और कीचड़, सांसारिक विषय-वासनाएँ हैं। सरोवर में खिले श्वेतकमल, सांसारिकजन हैं। उनके मध्य में विकसित विशाल पुण्डरीक राजा है। चारों दिशाओं से आने वाले व्यक्ति, अलग-अलग मतों के अनुयायी व्यक्ति हैं और भिक्षु 'सद्धर्म' है। सरोवर का किनारा 'संघ' है। भिक्षु द्वारा पुण्डरीक को बुलाना सद्धर्म का 'उपदेश' है। और पुण्डरीक का उसके पास आ जाना 'निर्वाण-लाभ' है।[1]

उत्तराध्ययन में 'नमि पवज्जा' का प्रतीकात्मक दृष्टान्त आया है। राजर्षि नमि जब विरक्त होकर अभिनिष्क्रमण में संलग्न होते हैं, तभी ब्राह्मण का वेष बनाकर, देवराज इन्द्र, उनके पास पहुँचता है और प्रश्न करता है—'भगवन्! मिथिलानगरी में, आज यह कैसा कोलाहल सुनाई

---

१ सूत्रकृताङ्ग-द्वितीय खण्ड-१ अध्ययन,

पड़ रहा है ?' उत्तर मिलता है—'पत्र-पुष्पों से मनोहारी चैत्य-वृक्ष, प्रचण्ड आँधी के वेग से गिरने जा रहा है। इसको आश्रय बनाकर रहने वाले पक्षी, शोकाकुल होकर कलरव कर रहे हैं।'

इस दृष्टान्त में, नमि को 'चैत्यवृक्ष', और मिथला के नागरिकों को 'पक्षिसमुदाय' रूप प्रतीकों में चित्रित किया गया है। इसी अध्ययन में, श्रद्धा' नगर, 'संवर' किला, 'क्षमा'-गढ़, 'गुप्ति' रूपी शतघ्नी (तोपें या बन्दूकें), 'पुरुषार्थ' रूपी धनुष, 'ईर्या' रूपी प्रत्यञ्चा, 'धैर्य' रूपी तूणीर, 'तपस्या' रूपी बाण और 'कर्म' रूपी कवच जैसे विभिन्न रूपक/प्रतीक उल्लिखित हैं।[1] इसी में, दुष्ट बैलों का रूपक भी द्रष्टव्य है।[2] 'समराइच्च कहा' (हरिभद्रसूरि) का 'मधुबिन्दु' दृष्टान्त तो विशुद्ध रूपक शैली में वर्णित है।

ये सारे उदाहरण, रूपक साहित्य के बीज-बिन्दु माने जाते हैं। किन्तु, इस शैली की काव्य-परम्परा का सर्वप्रथम सूत्रपात करने का श्रेय मिलता है—सिद्धर्षि को। इनकी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा[3]' को रूपक-साहित्य-परम्परा का सर्वप्रथम और अनुपम ग्रन्थ माना जा सकता है। उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा की प्रस्तावना में, डॉ० जैकोबी ने इसे भारतीय रूपक साहित्य की प्रथम रचना स्वीकार किया है।[4] इससे पहिले की अपभ्रंश रचना 'मदनजुज्झ' रूपकात्मक शैली की उपलब्ध है। किन्तु, उसमें अंकित उसके रचनाकाल वि० सं० ९३२ के अनुरूप प्राचीनता के पोषण में, उसकी भाषा का अंतरंग परीक्षण हुए बिना, उसे प्रथम रूपक काव्य मानना, उचित न होगा।

जयशेखरसूरि की रचना 'प्रबोधचिन्तामणि' में सारोपा और

---

१ उत्तराध्ययन-अध्ययन ९ व १० २ वही-अध्ययन-२७

३ सिद्धव्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः।
समस्त्युपमितिनाम्नि यस्यानुपमिति कथा॥
—प्रद्युम्नसूरि का—समरादित्य संक्षेप

४ I did not find some thing still more important; the great literary value of the U. Katha, and the fact that is the first allegorical work in Indian Literature.

साध्यवसाना लक्षणा को प्रमुखता से समर्थन मिला है[1] साथ ही, कवि की कल्पनासामर्थ्य और पूर्ववर्ती आगमों की रूपकात्मक विधा को ग्रन्थकार ने, अपनी रचना की सर्जना में बीज-बिन्दु स्वीकार किया है।[2]

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में श्रीकृष्ण मिश्र लिखित 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान करने वाली लाक्षणिक शैली का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस नाटक, में ज्ञान विवेक, विद्या, बुद्धि, मोह, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति और उपनिषद् जैसे अमूर्त्त भावों की भी पुरुष-स्त्री पात्रों के रूप में अवतारणा की है। नाटक का मूल प्रतिपाद्य आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन है।

चेदि के राजा कर्ण (१०४२ ई. में जीवित) ने, कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु, उसके एक सेनानी गोपाल ने अपने बाहुबल से उसे हराने में सफलता प्राप्त कर ली थी। तब, इसने कीर्तिवर्मा को पुनः सिंहासनस्थ कर दिया था। इसी गोपाल की प्रेरणा से, कीर्तिवर्मा के समक्ष, यह नाटक अभिनीत हुआ था। कीर्तिवर्मा, जेजाक भुक्ति चन्देलवंशीय राजा था। चन्देलों की कला-प्रियता के प्रतीक हैं—खजुराहो के शैव मन्दिर। सम्भव है, यहाँ चन्देलों की राजधानी रही हो। कीर्तिवर्मा के पूर्वज राजा धङ्ग का शिलालेख १००२ ई., खजुराहो के विश्वनाथ मन्दिर में मिलता है।

कीर्तिवर्मा, चन्देल वंश का एक प्रतापी और पराक्रमी राजा था। इसके अनेकों शिलालेख, बुन्देलखण्ड के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होते हैं।

---

१ सारोपा लक्षणा क्वापि क्वापि साध्यवसानिका।
धौरेयतां प्रपद्येते ग्रन्थस्यास्य समर्थने ॥

—प्रथम-अधिकार-५०

२ अत्रात्मचेतनादीनां यत् दाम्पत्यादिशब्दनम्।
तत्सर्वं कल्पनामूलं सापि श्रेयस्करी क्वचित् ॥४७॥
मीनमैनिकयोः पाण्डुपत्रपल्लवयोरपि।
या मिथः संकथा सूत्रे बद्धा सा किं न बोधये ॥४८॥
नायकत्वं कषायाणां कर्मणां रिपुसैन्यताम्।
आदिशन्नागमोऽप्यस्य प्रबन्धस्येति बीजताम् ॥४९॥

—प्रथम—अधिकार—४७-४९

महोबा के निकट 'कीर्तिसागर' नाम का तालाब इसी के द्वारा बनवाया हुआ है। देवगढ़ में भी इसका एक शिलालेख (ई. १०९३) मिलता है। खजुराहो के लक्ष्मीनाथ मन्दिर का एक शिलालेख (११६१ ई.) कीर्तिवर्मा के ही समय का है। जिसे इसके मन्त्री वत्सराज ने खुदवाया था। कीर्तिवर्मा राजा विजयपाल का पुत्र था और अपने अग्रज देववर्मा के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ था। इसका राज्य पर्याप्त विस्तृत भू-भाग पर बहुत वर्षों तक रहा। इन तमाम साक्ष्यों के बल पर कीर्तिवर्मा का काल ग्यारहवीं शताब्दी (ई.) का ठहरता है। यही समय, प्रबोध-चन्द्रोदय का रचना काल है।

मोह के शिकंजे में जकड़ा व्यक्ति, अपने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से विमुख हो जाता है। और जब, उसका विवेक जागता है, तब मोह पराजित हो जाता है। इसी के बाद व्यक्ति को शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है। 'विवेक के साथ उपनिषद् के अध्ययन और विष्णु-भक्ति के आश्रय से ज्ञान चन्द्र का उदय होता है'—इस मान्यता की विवेचना, प्रस्तुत नाटक में, युक्तिपूर्ण सौन्दर्य के साथ की गई है। द्वितीय अङ्क में, हास्य और दम्भ के वार्तालाप से, हास्य रस का सार्थक चित्रण किया गया है। जैन बौद्ध और सोम-सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप में स्फुटित हास्य-मिश्रित कौतूहल द्रष्टव्य है। श्रीकृष्ण मिश्र उपनिषदों के रहस्यवेत्ता रहे, तभी, उन्होंने अद्वैत वेदान्त और वैष्णव धर्म का जो समन्वय, इस नाटक में प्रस्तुत किया है, वह इसकी एक महनीय विशेषता है। कवित्व का चमत्कार भी इस नाटक में जमकर निखरा है। पात्रों की सजीवता प्रशंसनीय बनी है।

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियों की रचनाओं पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रामचरितमानस में, पञ्चवटी के वर्णन-प्रसंग में जो आध्यात्मिक रूपक योजना है, उसमें इस नाटक के पात्रों को भी अपनाया गया है। हिन्दी जगत के ही प्रसिद्ध कवि केशव (१६वीं शती) ने 'विज्ञान गीता' नाम से इसका छन्दोबद्ध अनुवाद कर डाला। अध्यात्म विद्या और अद्वैतवाद जैसे शुष्क दार्शनिक विषय को भी नाटकीय और मनोरञ्जक शैली में प्रस्तुत करना, श्रीकृष्ण मिश्र के प्रयास की सर्वोत्तमता को असंदिग्ध बना देता है।

अपभ्रंश-प्राकृत की रचना 'मयणपराजयचरिउ'[1], भी रूपकात्मक

---

१ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित।

शैली पर लिखी गई महत्वपूर्ण कृति है। इसके प्रणेता, चंगदेव के पुत्र हरदेव हैं। इसका रचनाकाल यद्यपि सुनिश्चित नहीं हो पाया, तथापि, इसकी रचना यशपाल की कृति 'मोहराज-पराजय' से पहले की जा चुकी थी। नागदेव रचित 'मदनपराजय' (संस्कृत) इसी प्राकृत रचना के आधार पर लिखी गई है।

'मोहराज-पराजय' नाटक[1], यशपाल की महत्वपूर्ण रचना है। यशपाल, चक्रवर्ती अभयदेव का राज्य-कर्मचारी था। अभयदेव ने १२२९ से १२३२ ई. तक राज्य किया था। धारापद के कुमारविहार में, यह नाटक अभिनीत भी हुआ था। इसके प्रथम अंक में, मोहराज, राजा विवेकचन्द के मानस नगर को घेर कर आक्रमण कर देता है। फलतः विवेकचन्द, अपनी पत्नी शान्ति और पुत्री कृपासुन्दरी के साथ निकल भागता है। पंचम अंक में, मोहराज को पराजित कर, पुनः विवेकचन्द सिंहासनासीन होते हैं। नाटक में, ऐतिहासिक नामों के साथ लाक्षणिक चरित्रों के सम्मिश्रण में, और मोहराज-पराजय की वर्णना में, नाटककार की कुशलता और निपुणता, दोनों ही दर्शनीय बन पड़ी हैं। गुणों की दृष्टि से भी नाटक का विशेष महत्व है। ग्रन्थकर्ता यशपाल, राजा अभयदेव के मन्त्री धनदेव और रुक्मिणीदेवी के पुत्र थे। ये, जाति से मोड़ वैश्य थे।

इसी से मिलता-जुलता एक और नाटक, मेरुतुंगसूरि की 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के परिशिष्ट भाग में पाया जाता है। इसकी रचना, वैशाख शुक्ला पूर्णिमा, वि० सं० १३६१ को पूर्ण हुई थी। महाराजा कुमारपाल द्वारा, आचार्य हेमचन्द्र के निकट जैन श्रावक व्रत ग्रहण कर अहिंसा व्रत अंगीकार करने के दृश्य को लक्ष्य कर, इसकी रचना की गई। मोहराज-पराजय के दूसरे, तीसरे व चौथे अंकों में वर्णित कथावस्तु से, प्रबन्ध-चिन्तामणि की कथावस्तु में, कुछ बदले हुए नामों के अलावा, अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता।

चौदहवीं शताब्दी की रचना 'संकल्पसूर्योदय[2]' वेदान्तदेशिक की कृति है। इसमें दस अंक हैं। रूपककार ने, इसमें वेदान्त की विशिष्टाद्वैत

---

१ गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित।

२ आर० कृष्णामाचारी मदुरा द्वारा सम्पादित एवं एच० एम० बागुली द्वारा मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।

शाखा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उस नाटक के दूसरे अंक में आर्हत, बौद्ध, सांख्य, अक्षपाद, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक आदि के मतों का खण्डन करके उनका उपहास भी उड़ाया गया है। तीर्थों के दोषों का उद्घाटन करके, उन्हें अयुक्त सिद्ध किया गया है। और, 'हृदयगुहा' को ही समाधि के लिए नाटककार ने उपयुक्त बतलाया है।

श्री जयशेखरसूरि का 'प्रबोध-चिन्तामणि' भी रूपक शैली का महत्वपूर्ण प्रबन्ध है। इसकी कथा वस्तु का आधार-भगवान पद्मनाभ के शिष्य धर्मरुचि द्वारा प्ररूपित आत्मस्वरूप का चित्रण है।[1] इसकी रचना, स्तम्भनक नरेश की राजधानी में विक्रम सम्वत् १४६२ में की गई।[2] इसके पहिले अधिकार में, परमात्मस्वरूप का चित्रण, और दूसरे में भगवान् पद्मनाभ का चरित्र, तथा मुनि धर्मरुचि का चरित्र वर्णित है। तीसरे अधिकार में मोह और विवेक की उत्पत्ति दिखला कर, मोह को राज्य प्राप्त कराया गया है। चौथे अधिकार में संयमश्री के साथ विवेक का पाणिग्रहण होने के बाद, उसकी राज्य-प्राप्ति का निरूपण किया गया है। पांचवें में, काम की दिग्विजय का वर्णन है। छठवें अधिकार में कलिकृत प्रभाव का निरूपण है। इसी प्रसंग में, सामाजिक दुर्दशा का चित्रण, मार्मिक और यथार्थ रूप में किया गया है। इसी सन्दर्भ में, ग्रन्थकार को उक्ति[3]—'भगवान महावीर की सन्तान होने पर भी, आज के साधु विभिन्न गच्छों में विभक्त हैं और पारस्परिक सौहार्द के बजाय वे एक-दूसरे के शत्रु बने हुये हैं, बहुत ही मर्मस्पर्शी है। जयशेखरसूरि की की यह वेदना भरी टीस, आज तक, ज्यों की त्यों बरकरार है।

प्रो० राजकुमार जैन ने, 'मदन-पराजय' (सं०) की प्रस्तावना में

---

१ बोध-चिन्तामणि—२/१०।

२ यमरसभुवनमिताब्दे स्तम्भनकाधीशभूषिते नगरे।
श्री जयशेखरसूरि प्रबोधचिन्तामणिमकार्षीत् ॥
—प्रबोध-चिन्तामणि-प्रस्तावना।

३ एकश्रीवीरमूलत्वात् सौहृदस्योचितैरपि।
सापत्न्यं धारितं तेन पृथग्गच्छीयसाधुभिः ॥
—प्रबोध-चिन्तामणि-६/८६

'मयणजुज्झ' नामक अपभ्रंश रचना को बुच्चराय की कृति बतलाकर, उस की रचना समाप्ति की तिथि-आश्विन शुक्ला प्रतिपदा शनिवार, हस्तनक्षत्र वि. सं. १५८६, बतलाई है। श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त, इस रचना की पाण्डुलिपि के लिखने की समाप्ति की तिथि—'सं० १७६७ वर्षे पौषमासे शुक्लपक्षे १२ तिथौ पं० दानधर्म लिखितं श्रीमरोट्टकोट्टमध्ये' के आधार पर प्रदर्शित की है। इस रचना में, भगवान् पुरुदेव द्वारा की गई मदन-पराजय का वर्णन है।

यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि प्रो० राजकुमार जैन ने, इसी प्रस्तावना में, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' का उल्लेख करने के साथ-साथ, एक और 'मदनजुज्झ' अपभ्रंश रचना का उल्लेख किया है। जिसका रचनाकाल, उन्होंने वि० सं० ९३२ लिखा है। किन्तु; उसके रचनाकार का नाम उन्होंने निर्दिष्ट नहीं किया। यह विचारणीय है।

पं० भूदेव शुक्ल का 'धर्मविजय' नाटक, रूपक साहित्य की एक भाव पूर्ण लघु रचना है। इसमें पाँच अङ्क हैं। जिनमें धर्म और अधर्म को नायक प्रतिनायक बतला कर, उनके पारस्परिक युद्ध का वर्णन किया गया है। अन्त में, धर्म अपने परिवार के साथ मिलकर अधर्म का सपरिवार नाश कर के, विजय प्राप्त करता है। पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते का अनुमान है कि इस नाटक की रचना १६वीं शताब्दी में हुई, और भूदेव शुक्ल, सम्राट अकबर के समकालीन रहे।[1]

नाटककार ने, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को बड़ी कुशलता से प्रतिबिम्बित किया है। उस समय, विभिन्न प्रदेशों में व्यभिचार, दुराचार, झूठ, हिंसा, चोरी जैसी अमानवीय वृत्तियों का भयंकर प्रचार था। जगह-जगह द्यूत-क्रीड़ायें होती थीं, खुले आम मद्यपान होता था। वैभवमयी अट्टालिकाओं के प्रांगण में नृत्यांगनाओं के घुंघरुओं की मुखरता, परकीयाओं को स्वाधीन और स्वकीया बनाना, धर्माधिकारियों द्वारा धर्म के नाम पर विधवाओं का सतीत्व भंग आदि-आदि हुआ करता था।

अधर्म द्वारा, अपने प्रतिनिधि पौराणिक से देश की स्थिति पूछे जाने पर, वह बतलाता है—'देश की नदियों में पानी बहुत कम रह गया है।

---

१ श्री नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित, 'प्रिंस आफ वेल्स'—सरस्वती भवन सीरीज, बनारस से प्रकाशित-१९३० ई०

सज्जनों का भाग्य मन्द पड़ गया है। कुलीन स्त्रियाँ मर्यादायें तोड़ रही हैं। युवतियाँ, अपने पति से विद्रोह करने लगी हैं और गृहस्थ युवक, पर-स्त्री-लम्पट हो गये हैं। पिता, अपने नालायक पुत्रों का जीवित अवस्था में ही श्राद्ध करना चाहता है। चोर और हिंसक, जंगलों की प्रत्येक दिशा में अपना डेरा डाले पड़े हैं।[1] यही सारी दुर्दशाएँ तो आज के समाज में ज्यों की त्यों मौजूद हैं।

कवि कर्णपूर द्वारा रचित—'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक भी रूपक शैली का है। इसकी रचना, जगन्नाथ (उड़ीसा) क्षेत्र के अधिपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७० ई० में की गई थी। उस समय, कवि की उम्र २५ वर्ष थी।[2] इसमें, महाप्रभु चैतन्य के दार्शनिक दृष्टिकोणों और उनकी लीलाओं का अच्छा समावेश किया गया है। अमूर्त और मूर्त, दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण, इस नाटक में किया गया है। नाटककार को चैतन्यदेव ने 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की थी। इसका जन्म परमानन्ददास था। और, इनके पिता शिवानन्द सेन, चैतन्यदेव के पार्षद थे। कवि कर्णपूर का जन्म १५०४ ई० में हुआ था। नाटक के मूर्त पात्रों में चैतन्य और उनके शिष्य हैं। नाटक के उल्लेख के अनुसार, इसकी रचना १४०७ शक सं० में हुई थी।[3]

गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' की रचना १६वीं शताब्दी में की थी। इसमें सांसारिक-बन्धनों एवं क्लेशों का चित्रण करके, उनसे मुक्ति पाने का उपाय बतलाया गया है। आन्वीक्षिकी, मीमांसा, श्रुति आदि को, इसमें पात्रों के रूप में प्रस्तुत करके, न्यायसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। रत्नखेट के श्रीनिवास दीक्षित (१५०७ ई०) का 'भावना पुरुषोत्तम' नाटक भी उल्लेखनीय है। वादिचन्द्रसूरि का 'ज्ञान-सूर्योदय' नाटक भी, प्रसिद्ध

---

१ धर्मविजय (नाटक), द्वितीय अङ्क।

२ संस्कृत साहित्य का इतिहास : पं० श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-५६४

३ शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते,
गौरो हरिर्धरणिमण्डलराविरासीत्।
तस्मिंश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला,
ग्रन्थोऽयमाविर्भवत्कतमस्य वक्त्रात्॥
—चैतन्य-चन्द्रोदय पृष्ठ सं० २०, १०

रूपक कृति है। ये, मूलसंघी ज्ञानभूषण भट्टारक के प्रशिष्य और प्रभाचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे। इस नाटक की रचना, माघ सुदी वि० सं० १६४८ के दिन, मधूकनगर में हुई थी।[1] ज्ञानसूर्योदय में, बौद्धों का और श्वेताम्बरों का उपहास किया गया है। नाटक की प्रस्तावना में कमलसागर और कीर्तिसागर नाम के दो ब्रह्मचारियों का निर्देश है, जिनकी आज्ञा से सूत्रधार, प्रस्तुत नाटक का अभिनय करना चाहता है।

वेद कवि की दो रूपक रचनायें हैं। इनमें एक 'विद्या-परिणय' में, विद्या तथा जीवात्मा के विवाह का सात अंकों में वर्णन है। इसमें, अद्वैत-वेदान्त के साथ श्रृंगार रस का मंजुल समन्वय प्रदर्शित किया गया है। शिवभक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, यह बतलाना ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। इसमें जैनमत, सोम-सिद्धान्त, चार्वाक और सौगत आदि पात्रों की अवतारणा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली पर की गई है।

दूसरी कृति 'जीवानन्दन'[2] में भी सात अंक हैं। और इनमें, गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का पात्र रूप में चित्रण है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा सबसे बढ़कर है। इससे छुटकारा, सिर्फ पारद रस के प्रयोग से मिलता है। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ चित्त और स्वस्थ चित्त से आत्मकल्याण में संलग्न रह पाना सम्भव होता है। इसमें अध्यात्म और आयुर्वेद दोनों के मान्य तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

वेद कवि तंजीर के राजा शाहजी (१६८४-१७१० ई०) तथा शरभोजी (१७११-१७२० ई०) के प्रधानमन्त्री थे। इनका असली नाम आनन्दराय मखी था। ये शैव थे और सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद

---

१ तत्पट्टामलभूषणं समभवद् दैगम्बरीये मते,
चञ्चद्बर्हकरः सभातिचतुरः श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः।
तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलकः श्रीवादिचन्द्रो यति--
स्तेनायं व्यरचि प्रबोधतरणिः भव्याब्जसंबोधनः॥
वसु-वेद-रसाब्जाङ्के वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोयं बोधसंरम्भः॥

—ज्ञानसूर्योदय-प्रस्तावना

२ अडयार से १६५० ई में 'काव्यमाला' में प्रकाशित। तथा हिन्दी अनुवाद के साथ १६५५ में काशी से प्रकाशित।

कवि' के रूप में थो। इनका समय १८वीं सदी का प्रथमार्ध है। इनके प्रथम नाटक का रचनाकाल १७वीं शताब्दी का अन्त, और दूसरे नाटक का रचना काल अठारहवीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है।

इसी तरह, नल्लाध्वरी ने भी, 'चित्तवृत्तिकल्याण' और जीवन्मुक्ति-कल्याण' नामक, दो प्रतीक नाटकों का प्रणयन किया था। नाटककार, गणपति के उपासक थे।

'जीवन्मुक्तिकल्याण[1]' का नायक राजा जीव, अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशाओं में भ्रमण करता हुआ, संसार के दुःखों से जब विषण्ण हो जाता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है, तो काम-क्रोध आदि छः रिपु, उसके इस कार्य में बाधा डालते हैं। तब, वह दया, शान्ति आदि आठ आत्मगुणों के द्वारा काम आदि को ध्वस्त करता है। अन्ततः, चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करके, साधन चतुष्टय प्राप्त करता है। और, ब्रह्म-ज्ञान पाकर, जीवन्मुक्ति का लाभ उठाता है। शिव का प्रसाद और गुरु की कृपा, जीवन्मुक्ति में कितनी सहयोगी है, यह, कवि ने सुन्दरता के साथ बतलाया है। नल्लाध्वरी, आनन्दराय मखी के ही सम-कालिक प्रतीत होते हैं।

नल्लाध्वरी ने, रामचन्द्र दीक्षित के समकालीन रामनाथ दीक्षित से विद्याध्ययन किया था, और २० वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'शृङ्गारसर्वस्व' (भाण) व 'सुभद्रापरिणय' (नाटक) की रचना की थी। बाद में, परम-शिवेन्द्र तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती से वेदान्त का अध्ययन करने के बाद, उक्त दोनों नाटकों की रचना की। 'अद्वैतरसमञ्जरी' वेदान्तग्रन्थ की रचना भी, इसी काल से सम्बन्ध रखती है। इनमें, परस्पर श्लोक-साम्य भी है।

पद्मसुन्दर का 'ज्ञान-चन्द्रोदय' और अनन्तनारायण कृत 'माया-विजय' भी रूपक प्रधान रचनाएँ हैं। इन्द्रहंसगणि रचित 'भुवन-भानुकेवली चरित' और यशोविजय कृत 'वैराग्यकल्पलता' भी रूपकात्मक रचनाएँ हैं। भुवनभानुकेवली चरित का नायक बलि राजा है। विजयपुर के चन्द्र राजा के पास जाकर, अपना चरित वह स्वयं कहता है। विद्वानों का अनुमान है

---

१. श्री शंकर गुरुकुल, श्रीरंगम् से प्रकाशित-१९४४ ई०

कि यह रचना १४वीं शती की होनी चाहिए। 'वैराग्यकल्पलता' सिद्धर्षि की उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के आधार पर तैयार की गई प्रतीत होती है। इसके ९ स्तबकों में, अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा के बहाने से, जीव के संसरण की व्यथा-कथा और उससे छुटकारा पाने का उपाय, रूपकात्मक शैली में वर्णित है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के दुरूह तत्वों को रोचक शैली में प्रस्तुत कर, जनसाधारण में उनका प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से, कविगणों ने प्रतीक/रूपक स्वरूप वाले नाटकों/काव्यों को माध्यम बनाया। परन्तु, कृष्णानन्द वाचस्पति का नाटक 'अन्तर्व्याकरण नाट्य परिशिष्ट[1]' एक विशेष प्रकार का कौतूहल पैदा करने वाला नाटक है। इसके पद्यों के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो व्याकरण के नियमों की व्याख्या करता है, जबकि, दूसरा अर्थ, दर्शन और नीति की शिक्षा देने में आगे आ जाता है। सम्भवतः, संस्कृत-साहित्य का यह एकमात्र नाटक है, जिसमें अभिनय के द्वारा व्याकरण के तत्व, प्रदर्शित किये गये हैं। अपने द्विविध-तात्पर्य के कारण, यह नाटक विशेष महत्व का हकदार बन जाता है।

मलयालम में लिखा गया 'कामदहनम्' सुप्रसिद्ध रूपक रचना है। इसी श्रेणी का साहित्य हिन्दी भाषा में भी है, परन्तु, बहुत थोड़ा सा। दामोदरदास की रचना 'मोह-विवेक की कथा' एक संक्षिप्त रूपकात्मक रचना है। जिसकी पाण्डुलिपि पिरानसुख जी ने १८६१ सम्वत् में की थी।[2] इसमें, मोह और विवेक, काम और लोभ, क्रोध और क्षमा आदि में परस्पर युद्ध का वर्णन किया गया है। जिसके अन्त में, विवेक की विजय दिखलाई गई है। श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' तथा श्री जयशंकर प्रसाद की 'कामना' और 'कामायनी' रचनाओं को, हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट रूपकात्मक रचनाएँ माना जा सकता है।

यूरोप के मध्यभाग में, इसी प्रकार के नाटक विद्यमान थे, जिन्हें 'मार्रेलिटी' नाम से जाना जाता था। इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य होता था—'कल्पित पात्रों को मंच पर लाकर, उनके माध्यम से दार्शनिक और धार्मिक तत्वों को स्पष्ट करना।' विज्ञान युग का प्रारम्भ होने पर, ये

---

१. कलकत्ता से १८८४ में प्रकाशित।

२. लिखितं पिरानसुखजी फीरोजाबाद में, सं० १८६१, नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय में सुरक्षित पाण्डुलिपि।

धार्मिक नाटक युरोप में तो बन्द हो गये, किन्तु, भारत में; इनकी धारा/परम्परा, शताब्दियों से जन-मन रञ्जन करती चली आ रही है।

भारतीय वाङ्मय में, विशेषकर संस्कृत साहित्य में रूपक/प्रतीक पद्धति पर लिखे गये ग्रन्थों का, यह संक्षिप्त इतिहास है। जिसके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उपमान-उपमेय पद्धति का सहारा लेकर, संशय, मोह, भ्रम, अज्ञान आदि से ग्रस्त जीवात्माओं को प्रबोध देने की परम्परा काफी कुछ प्राचीन है। किन्तु, विस्तृत या बृहदाकार ग्रन्थ की सर्जना, इस पद्धति के बल पर करने का साहस, सिद्धर्षि से पहिले, कोई भी नहीं कर सका। हाँ, इससे पूर्व श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में, पुरंजन का आख्यान अवश्य मिलता है। पुरंजन की विषयासक्ति ने उसे जो भव-भ्रमण कराया है, उसी का विवेचन इस आख्यान में है। दरअसल, यह पुरंजन, स्व-स्वरूप को भूलकर, स्त्री-स्वरूप पर इतनी गाढ़-आसक्ति बना लेता है कि उसी के दिन-रात चिन्तन की बदौलत, अगले जन्म में, उसे खुद स्त्री रूप की प्राप्ति होती है। पुरंजन का भव-विस्तार चार अध्यायों में, कुल १८१ श्लोकों में वर्णित है।

इस वर्णन में बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, वृत्ति, स्वप्न, सुषुप्ति, शरीर और उसके नव-द्वार आदि के रोचक रूपक दर्शाये गये हैं। यहाँ, पुरंजन को ब्रह्मस्वरूप हंसात्मा बतलाया गया है और स्व-बोध के अभाव को पति-वियोग के रूप में चित्रित किया गया है। अन्त में, इस सारी रूपक कथा का रहस्य स्पष्ट किया गया है।

यह कथानक, बहुत लम्बा तो नहीं है, किन्तु, इसमें जो-जो भी रूपक, जिस-जिस रूप में दिये गये हैं, वे सटीक, सार्थक और मनोहारी हैं। बावजूद इसके, इस वर्णन को, कथाचरित की उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिस श्रेणी में सिद्धर्षि ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा को पहुँचाया है। इसलिये, पूर्वोक्त रूपक-परम्परा के सन्दर्भ में, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा को, भारतीय रूपक साहित्य का 'आद्य-ग्रन्थ' मानना पड़ेगा।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा : विशेषताएं

सोलह हजार श्लोक परिमाण वाली, इस गद्य-पद्य मिश्रित रूपक कथा का महत्व, इसका सम्पादन करते हुए, लब्ध-ख्याति पाश्चात्य-मनीषी

डॉ० हर्मन याकोबी ने स्वीकारते हुए कहा था—'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, भारतीय साहित्य का पहिला और विशद रूपक-ग्रन्थ है।' लाखों की संख्या में बिकने वाली, मिस्टर बनियन की अंग्रेजो रचना 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' पढ़े-लिखे अंग्रेजों में काफी प्रसिद्ध रही है। किन्तु, इस अंग्रेजी रचना में, सुप्रसिद्ध फाँसीसी लेखक देग्य इलेविले की कृति—'दी पिलग्रिमेज आॅफ मैन' का बहुत कुछ अनुसरण/अनुकरण किया गया, यह तथ्य, 'दी इंग्लिश लिट्रेचर' के लेखक-द्वय ने स्पष्ट करते हुए बतलाया कि 'पिलगिम्स प्रोग्रेस' नामक अँग्रेजी रचना (सन् १६७६) फ्रान्सीसी-कृति 'दी पिलग्रिमेज आॅफ मैन' से काफी अर्वाचीन है।

ये प्रमाण बोलते हैं—महर्षि सिद्धर्षि की 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' मात्र भारतीय साहित्य की ही नहीं, वरन्, विश्व-साहित्य की भी, सर्वप्रथम रूपक रचना है।

इन कथनों की सापेक्षता में, हम निस्संकोच यह कह सकते हैं—'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' एक ऐसी संस्कृत रचना है, जो, रूपक शैली में लिखी होने पर भी, संस्कृत-वाङ्मय की गौरवमयी काव्य-परम्परा, और सुविशाल आख्यान/कथा साहित्य श्रेणी की, एक गरिमा-मण्डित कृति मानी जा सकती है।

सिद्धर्षि के इस महाकथा-ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि पूरा ग्रन्थ रूपकमय है। आदि से लेकर अन्त तक, एक ही नायक के जन्म-जन्मान्तरों का कथा-विवेचन, इस तरह से किया गया है कि धर्म और दर्शन के विशाल-वाङ्मय में जो-जो भी प्रमुख जीव-योनियां/गतियाँ बतलाई गई हैं, उन सबकी स्वरूप-स्थिति व्यापक-रूप में बतलाने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट होता गया है कि किन-किन कर्मों/भावों से, जीवात्मा को किस-किस योनि/गति में भटकना पड़ता है। और, किस तरह की मनोवृत्तियाँ/भावनाएँ उन-उन स्थितियों से उसे उबारने में सक्षम/सम्बल बन पाती हैं।

आशय यह है कि सिद्धर्षि की सम्पूर्ण कथा, दो समानान्तर धरातलों पर, साथ-साथ विकास/विस्तार को प्राप्त होती गई है। ये दोनों धरातल हैं—सांसारिकता/भौतिकता और अध्यात्म। सांसारिक/भौतिक धरातल पर तो पाठक को सिर्फ यही समझ में आ पाता है कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जीवात्मा, किस-किस तरह की परिस्थितियों में से गुजरता हुआ, कथा

के अन्त में, मोक्ष के द्वार तक पहुँचता है। इन भौतिक परिस्थितियों में, उसके वैभव सम्पन्न सुखदायी, वे जीवन-वृत्तान्त कथा में आये हैं, जिनके अध्ययन से पाठकों को विलासिता भरे भौतिक-सुखों के आनन्द/रस-पान का अवसर मिलेगा। और, कुछ ऐसी विषम, दीन परिस्थितियों का चित्रण भी मिलेगा, जिनमें, पाठक की सहृदयता/दयालुता द्रवित हो उठेगी। जबकि आध्यात्मिकता के अमूर्त्त-आकाश में उड़ान भरती कल्पनाओं का आध्यात्मिक कथा-कलेवर, भव्य-जीव की शुभ रागमयी पुण्य-प्रसूत-केलियों के ऐसे दृश्य उपस्थित करता है, जिनमें भूला-भटका भव्य जीवात्मा, सोने की हथकड़ी जैसे पुण्य-बन्ध के अलावा कुछ और हासिल नहीं कर पाता। किन्तु, कभी-कभी, अशुभ-रागमय पापोद्भूत ऐसे विषम क्षणों/प्रसंगों का भी सामना करना पड़ जाता है, जिनमें, उसका भव्यत्व तक सिहर-सिहर उठता है, लड़खड़ाने लग जाता है।

किन्तु, ग्रन्थकार का मूल आशय, इन दोनों ही प्रकार की स्थितियों का विश्लेषण नहीं है। उसका स्पष्ट आशय यह है कि जीवात्मा, जिन कारणों से समृद्ध/सम्पन्न बन कर विलासिता में डूबता है, और, जिन कारणों से उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं, उन सारे कारणों का भावात्मक स्वरूप-विश्लेषण किया जाये। और, पाठकों को यह बतलाया जाये कि सुख और दुःख की सर्जना, उसके अन्तस् की शुभ-अशुभ रागमयी भावनाओं के आधार पर होती है। यदि, उसकी चित्तवृत्ति, उत्कृष्ट शुभ रागादिमयी है, तो उसे, उच्चतम स्वर्ग में स्थान मिल सकता है। और, यदि, उत्कृष्ट अशुभ-राग-आदिमयी चित्तवृत्ति होगी, तो, अपकृष्टतम नरक में उसे जाना पड़ सकता है। अतः इन दोनों ही प्रकार की, राग-द्वेष आदि से युक्त शुभ-अशुभ चित्तवृत्तियों/मनोभावनाओं से मुक्त होकर, एक ऐसी मध्यस्थ/तटस्थ चित्तवृत्ति, उसे बनानी चाहिए, जिसके बल से, स्वर्ग/नरक आदि भवों में भ्रमण करने से, 'भव-प्रपंच' से वह बच सके। यानी, एक ऐसा विशुद्ध शुद्ध भाव वह जागृत कर सके, जिसके जागरण से, किसी भी भव में, आना-जाना नहीं पड़ता।

इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर, पूरी की पूरी 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' की कथा-योजना, दुहरे आशयों को साथ-साथ समाविष्ट करके लिखी गई है। इसका एक आशय तो, सामान्य जगत् के व्यवहारों में दिखलाई पड़ने वाले स्थान, पात्र, घटनाक्रम आदि में व्यक्त होता हुआ, सामान्य

कथावस्तु को आगे बढ़ाता है, जबकि दूसरा आशय, अदृश्य/भावात्मक जगत् के आध्यात्मिक विचार-व्यापारों में स्फूर्त होता हुआ, सामान्य कथा प्रसंगों में अनुस्यूत होकर आगे बढ़ता है। इन दोनों आशयों को समझाने के लिए यह आवश्यक था कि मूलकथा के दोनों स्वरूपों को, और उसकी प्रतीक/रूपक पद्धति व्यवस्था को, आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाये। अपने, इस दायित्व-निर्वाह में, सिद्धर्षि ने चूक नहीं की। और, कथा-ग्रन्थ की प्रस्तावना/पीठबन्ध के पूर्व में ही, कथा के दोनों स्वरूपों—अन्तरंग कथा शरीर और बाह्य कथा शरीर—का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन उन्होंने किया है। इनका सार-संक्षेप इस प्रकार समझा जा सकता है।

सुकच्छ-विजय का राजा था—अनुसुन्दर। यह चक्रवर्ती सम्राट था और इसकी राजधानी थी—मेरुपर्वत के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की प्रमुख नगरी क्षेमपुरी। वृद्धावस्था के अन्तिम दिनों में, अपना देश देखने की इच्छा से, वह भ्रमण के लिये निकल पड़ता है। घूमते-घूमते, वह शंखपुर नगर पहुँचता है। शंखपुर के बाहर एक सुन्दर बगीचा था—'चित्तरम'। इसके बीच में 'मनोनन्दन' चैत्य-भवन बना हुआ था। कुछ दिन पहिले, विहार करते-करते आचार्य समन्तभद्र भी शंखपुर आ पहुँचे थे और चित्त-रम बाग के चैत्य भवन में ठहरे हुए थे।

एक दिन, आचार्यश्री की सभा लगी हुई थी। उनके सामने प्रव-र्त्तिनी साध्वी महाभद्रा बैठी हुई थीं। इनके पास में ही श्रीगर्भ नरेश की राजकुमारी सुललिता भी बैठी थी, इसी के पास पुण्डरीक राजकुमार बैठा हुआ था। आसपास अन्य सामाजिक/नागरिक बैठे हुए थे। इसी समय, अनुसुन्दर चक्रवर्ती का काफिला, उद्यान के बगल से निकलता है। रथों की गड़गड़ाहट और सेना के कोलाहल ने, सभा में बैठे लोगों का ध्यान, अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

'भगवति ! यह कैसा कोलाहल है ?' जिज्ञासावश, राजकुमारी ने महाभद्रा से पूछा।

'मुझे नहीं मालूम।' महाभद्रा ने, आचार्यश्री की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'राजकुमार पुण्डरीक और राजकुमारी सुललिता को प्रबोध देने का यह अनुकूल अवसर है'—यह विचार करके, आचार्यश्री ने महाभद्रा से कहा—'अरे महाभद्रा ! तुम्हें पता नहीं है कि हम सब, इस समय 'मनुज-

गति' नामक प्रदेश के 'महाविदेह' बाजार में बैठे हुए हैं। आज एक 'संसारी जीव' चोर,चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है। दुष्टाशय आदि उसे पकड़कर वधस्थल की ओर ले जा रहे हैं, ताकि उसे मृत्युदण्ड दिया जा सके। उसे, यह मृत्युदण्ड, 'कर्मपरिणाम' महाराज ने, अपनी राजमहिषी 'कालपरिणति', और 'स्वभाव' आदि से विचार-विमर्श करने के पश्चात् दिया है।

आचार्यश्री की बात सुनकर, सुललिता आश्चर्य में पड़ गई। महाभद्रा की ओर देखकर वह बोली—'भगवति ! हम तो शंखपुर में बैठे हैं। यह तो मनुजगति नहीं हैं ? और इस समय, चित्तरम उद्यान में हैं, यह 'महाविदेह' बाजार कैसे हो गया ? यहाँ के राजा श्रीगर्भ हैं, 'कर्मपरिणाम' नहीं। फिर, आचार्य प्रवर यह सब कैसे कह रहे हैं ?'

यह सुनकर आचार्यश्री बोले—'धर्मशीला सुललिता ! तुम 'अगृहीत संकेता' हो। मेरी बात का गूढ़ अर्थ, तुम्हें समझ में नहीं आया।'

सुललिता सोचने लगी—'आचार्य भगवन् ने तो मेरा नाम ही बदल दिया, दूसरा नाम कर दिया।' कुछ भी न समझ पाने के कारण वह चुप होकर बैठी रह गई।

महाभद्रा ने आचार्यश्री का संकेत स्पष्टतः समझ लिया। वे जान गयीं कि किसी पापी संसारी जीव का आयुष्य क्षीण हो चुका है और वह अपने पूर्वनिर्धारित मृत्युस्थल पर पहुँचने का संयोग-उपक्रम कर रहा है। फलतः महाभद्रा का मन, उसके नरक-गमन के प्रति, दयाभाव से ओत-प्रोत हो गया। वे बोलीं—'भगवन् ! यह चोर, मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता है क्या ?'

'जब उसे तेरे दर्शन होंगे और वह हमारे समक्ष उपस्थित होगा, तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी।'

'क्या मैं उसके सम्मुख जाऊँ ?' महाभद्रा ने निवेदन किया।

'हाँ, जाओ, इसमें दुविधा क्यों है ?' आचार्यश्री ने अनुमति देते हुए कहा।

महाभद्रा उद्यान से बाहर निकलकर राजपथ पर आई और अनुसुन्दर चक्रवर्ती को देखकर उसे आचार्यश्री के कथन का आशय बतलाया और कहा—'भद्र ! 'सदागम' की शरण स्वीकार करो।'

महाभद्रा को देखने के कुछ ही क्षणों के बीच अनुसुन्दर को 'स्व-

गोचर' (जाति-स्मरण) ज्ञान हो गया। फिर आचार्यश्री का कथन सुनने के बाद, महाभद्रा का सुझाव सुना, तो वह चुपचाप उनके पीछे पीछे चल पड़ा। और आचार्यश्री के सामने पहुँचकर खड़ा हो गया।

अनुसुन्दर को सभा में आते समय समस्त पार्षदों ने उसे चोर के रूप में देखा। किन्तु, अनुसुन्दर आचार्यश्री को देखकर अवर्णनीय सुख से भर गया। सुख की अधिकता से उसे मूर्च्छा आ जाती है। कुछ ही देर में सचेत होने पर वह उठ बैठता है। तब राजकुमारी सुललिता उससे चोरी के विषय में पूछती है। मगर वह चुप बना रहता है। तब, आचार्यश्री निर्देश देते है—'राजकुमारी को तुम अपना सारा पूर्व वृतान्त सुना दो।'

बस यही वह बिन्दु है, जहाँ से 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के भव-प्रपञ्च' का विस्तार से वर्णन शुरू होता है। अनुसुन्दर यानी 'चोर' अपनी चोरी का सारा पूर्व-वृत्तान्त सुनाने लगता है।

कथा सुनने के अवसर पर, आचार्यश्री के सामने महाभद्रा, सुललिता और पुण्डरीक, बैठे रहते हैं। शेष सभासद वहां से चले जाते हैं। फिर, जो कथा शुरू होती है, उसमें, अनुसुन्दर, अपने भवभ्रमण की कहानी असंव्य-वहार (निगोद स्थानीय) जीवराशि में से निकलकर संव्यवहार जीवराशि में आने से शुरू करता है और विकलाक्ष, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि तमाम जीव-योनियों में अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त करते करते, अपने वर्तमान भव तक, सुना डालता है। इन जन्म-जन्मान्तर की कथाओं में, प्रसङ्ग वश, पुण्डरीक और सुललिता के भी पूर्वभवों का वृतान्त वह सुनाता है। जिसे सुनकर, लघुकर्मी जीव होने के कारण, पुण्डरीक प्रतिबुद्ध हो जाता है। पर, पूर्वजन्मों के दोषों/पापों की अधिकता के कारण, बार-बार सम्बोधन करके कथा सुनाने पर भी सुललिता को प्रतिबोध नहीं हो पाता। आखिर, विशेष प्रेरणा के द्वारा उसे बड़ी मुश्किल से बोध प्राप्त हो पाता है। फलतः सबके सब, एक साथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

इस सार संक्षेप में, आचार्यश्री और महाभद्रा तथा सुललिता के जो वाक्य ऊपर आये हैं, उनके आशयों से यह स्पष्ट पता चलता है कि इस महाकथा के साथ-साथ, एक रहस्यात्मक कथा भी चलती रहती है, जिसका सम्बन्ध भौतिक, दृश्यमान पात्रों से न जुड़कर, अन्तरंग रहस्यात्मक मनः स्थितियों/चित्तवृत्तियों से है। इस अन्तरंग कथा का शुभारम्भ और कथा-

विस्तार का उपक्रम, मूलग्रंथ में, जिस तरह शुरू किया गया है,उसका सार इस तरह समझा जा सकता है—

मनुजगति नगरी के महाराजा 'कर्मपरिणाम' और उनकी प्रधान महारानी 'कालपरिणति' से 'सुमति' नामक बालक का जन्म होता है। इस की देखरेख के लिए 'प्रज्ञाविशाला' नाम की धाय नियुक्त होती है। प्रज्ञाविशाला, अपनी सहेली 'अगृहीतसंकेता' से परामर्श के बाद, 'सदागम' नामक उपाध्याय को, सुमति का शिक्षक बनाकर, उसे सुमति को सौंप देती है।

एक दिन, सदागम महात्मा, बाजार में बैठे थे। राजकुमार सुमति और प्रज्ञाविशाला भी, उनके साथ बैठे थे। इसी बीच, अगृहीतसंकेता भी वहाँ आती है और बैठ जाती है। थोड़ी ही देर में, फूटे हुए ढोल की अस्त-व्यस्त, कर्णकटु ध्वनि, और लोगों का अट्टहास सुनाई पड़ता है।

कुछ ही क्षणों में,एक 'संसारी जीव' नामक चोर को गधे पर बिठाये हुये, कुछ सिपाही वहाँ से गुजरे। चोर का शरीर राख से पोता हुआ था, उसके ऊपर गेरुए रंग की, हाथ की छापें लगीं थीं। छाती पर कौड़ियों की माला लटकी हुई थी। टूटी मटकी का कपाल सिर पर रखा था। गले में, एक चोरी का माल लटका हुआ था। सिपाहियों की डाँट फटकार, और उनके निन्दा-वचन सुनकर, वह थर-थर कांप रहा था।

यह दृश्य देखकर, प्रज्ञाविशाला को उस पर दया आ गई। उसने चोर के समीप जाकर उससे कहा—'भद्र! तू इन (सदागम) महापुरुष की शरण ग्रहण कर।' चोर भी, सदागम का स्वरूप देखकर उनमें विश्वस्त हो गया। वह, उनके पास गया, और उन्हें देखता ही रह गया। क्षणभर बाद, वह आँखें बन्द करके गिर पड़ा। जब उसे होश आया, तो चिल्लाने लगा— 'हे नाथ! मेरी रक्षा करें।'

सदागम ने उसे अभय का आश्वासन दिया; चोर आश्वस्त हो गया। अब, अगृहीतसङ्केता ने उस चोर से, उसके अपराध का, और राजपुरुषों द्वारा पकड़े जाने का कारण पूछा। चोर बोला—'आप पूछकर क्या करेंगी?' सदागम ने उसे निर्देश दिया—'अगृहीतसङ्केता, तेरा वृत्तान्त सुनने को उत्सुक है। अतः, इसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिये, तू अपना सारा वृत्तान्त बतला दे।' चोर ने कहा—'मैं, अपनी आपबीती घटना, सब के सामने नहीं बतलाऊंगा। किसी निर्जन स्थान में चलें।'

सदागम के इशारे से, सब लोग उठकर चले गये। इन लोगों के साथ, प्रज्ञाविशाला भी उठकर जाने लगी, तो सदागम ने उसे वहीं बैठे रहने के लिए कहा। सुमति राजपुत्र भी वहीं बैठा रहा। पश्चात्, अगृहीत सङ्केता को लक्ष्य कर के, वह 'संसारी जीव' चोर, अपना वृत्तान्त सुनाने लगा।

मेरी पत्नी, 'भवितव्यता' मुझे 'असंव्यवहार' नगर के 'निगोद' नामक एक कमरे में से निकाल कर 'एकाक्षनिवास' नगर में ले आती है। यहाँ मुझे 'वनस्पति' नाम दिया जाता है। यहाँ, मैं 'साधारण शरीर' नामक कमरे में मदमत्त, मूर्च्छित, मृत की तरह श्वासें लेता पड़ा रहा। फिर कुछ दिनों बाद, यहाँ से निकाल कर, एकाक्षनगर में ही किसी दूसरे मुहल्ले के दूसरे विभाग में 'प्रत्येकचारी' के रूप में असंख्यकाल तक रखा। ''''इसी तरह के वृत्तान्त सुनाता हुआ वह, अपने वर्तमान जन्म तक आ पहुँचता है।

इन आरम्भिक घटनाक्रमों के वर्णन में, जो द्वैविध्य, शुरू से ही कथानक में उभरता है, उसका रहस्य, कथा के आठवें प्रस्ताव में पहुँचने पर खुलता है। इस तरह, इस महाकथा का लम्बा-चौड़ा कथानक, दूसरे प्रस्ताव से शुरू होता है और आठवें प्रस्ताव के प्रारम्भ तक अपनी रहस्यात्मकता को बनाये रखता है। प्रथम प्रस्ताव, पीठ बन्ध में, ग्रन्थकार ने अपनी निजी कथा-व्यथा लिखी है। इस आत्म-कथा का महत्व, इसलिए मूल्यवान बन गया कि वह भी रूपक-पद्धति में, रहस्यात्मक-प्रतीक शब्दावली द्वारा व्यक्त की गई। जिससे, मूलकथा की रहस्यात्मकता में पहुँचने के पूर्व ही, पाठक का प्रौढ़ मन,कथाकार की प्रतीकात्मक शब्दावली के गूढ़ आशयों को समझने की निपुणता प्राप्त कर लेता है। बाद के प्रस्तावों में वर्णित कथाक्रम का सार-संकेत इस प्रकार है।

तीसरे प्रस्ताव में—जयस्थल नगरी के राजा पद्म और उसकी महा रानी नन्दा के बेटे राजकुमार नन्दिवर्द्धन के रूप में, अनुसुन्दर का जीव, जन्म लेता है। नन्दिवर्द्धन को 'क्रोध' और 'हिंसा' के चंगुल में फँस जाने पर, किस-किस तरह की दारुण व्यथाएँ सहनी पड़ीं, और किन-किन भवों में भ्रमित होना पड़ा, यह सब बतलाया गया है। मनुजगति नगरी के भरत प्रदेश में क्षितिप्रतिष्ठ नगर के राजा 'कर्मविलास' की दो रानियाँ थीं—शुभसुन्दरी और अकुशलमाला। शुभसुन्दरी का पुत्र है—'मनीषी' और

अकुशलमाला का पुत्र होता है—'बाल'। बाल को 'स्पर्शन' की कुसंगतिवश जो कष्ट भोगने पड़े, और तदनुसार, उसे जिन-जिन भवों में भ्रमित होना पड़ा, उस सबका व्यापक वर्णन है। 'बाल' के रूप में भी 'संसारीजीव' (द्वितीय प्रस्ताव) चोर के भव-वर्णन को समझना चाहिए।

चतुर्थ प्रस्ताव में—सिद्धार्थ नगर के राजा नरवाहन और उनकी रानी विमलमालती के पुत्र रिपुदारण को 'असत्य' और 'मान' (गर्व-घमण्ड) के वशीभूत हो जाने से, तथा भूतल नगर के राजा मलसंचय और उनकी पत्नी 'तत्पंक्ति' के दो बेटों—शुभोदय और अशुभोदय, में से अशुभोदय की पत्नी स्वयोग्यता के पुत्र राजकुमार 'जड़' को 'रसना' की आसक्ति/लुब्धतावश, तथा पाँचवें प्रस्ताव में—वर्धमान नगर के श्रेष्ठी सोमदेव और सेठानी कनकसुन्दरी के लड़के वामदेव को चौर्य 'माया' का वशवर्ती बनने से, तथा धरातल नगर के राजा शुभविपाक के अनुज अशुभविपाक की पत्नी परिणति के पुत्र मन्दकुमार को 'घ्राण' के प्रति लगाव होने से छठवें प्रस्ताव में—आनन्दपुर के श्रेष्ठी हरिशेखर एवं सेठानी बंधुमती के पुत्र धनशेखर को 'मैथुन' और 'लोभ' का वशंवद हो जाने से, तथा मनुजगति के राजा जगत्पिता 'कर्मपरिणाम' व जगन्माता महादेवी के छः पुत्रों में से द्वितीय पुत्र 'अधम' को विषयाभिलाष की पुत्री दृष्टिदेवी के साहचर्य से, सातवें प्रस्ताव में, साह्लाद नगर के राजा जीमूत और उनकी पटरानी लीलादेवी के पुत्र घनवाहन को 'महामोह' और 'परिग्रह' से, तथा क्षमातल नगर के राजा 'स्वमलनिचय' और उनकी रानी 'तदनुभूति' के दूसरे पुत्र 'बालिश' को कर्मपरिणाम की कन्या 'श्रुति' के सहवास से कैसी-कैसी भयंकर यातनाएँ, पीड़ाएँ भुगतनीं पड़ीं, और किन-किन योनियों में कितनी-कितनी बार जन्म-मरण लेना पड़ा, इत्यादि का वर्णन, अवान्तर कथाओं सहित किया गया है।

आठवें प्रस्ताव में ४ विभाग हैं। इनमें से पहिले विभाग में—सप्रमोद नगर के राजा मधुवारण और उनकी पटरानी सुमालिनी के यहाँ गुणधारण के रूप में 'संसारी जीव' जन्म लेता है। इसके जीवनवृत्त द्वारा यह बतलाया गया है कि 'कर्म 'काल' 'स्वभाव' 'भवितव्यता' का क्या कार्य है? इन सबके संयोग/सहयोग से किस तरह पुण्योदय और पापोदय आते-जाते हैं? दूसरे विभाग में, उस रहस्य को सुलझाया गया है, जो कथा के आरम्भ होने के साथ-साथ, पाठक के मस्तिष्क में भी घर कर चुका था। तीसरे

विभाग में, समस्त प्रमुख पात्रों का सम्मिलन कराकर उनकी जीवन-प्रगति का निर्देश किया गया है, और चौथे विभाग में ग्रन्थ का सारा का सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। अन्त में, प्रशस्ति के साथ ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है।

इस संक्षिप्त कथासार से स्पष्ट हो जाता है कि पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा में हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह में लिप्त होने से, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत होकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लोलुपता रखने से, जीवात्मा को अनगिनत आपदाओं से घिर जाना पड़ता है। इन्हीं सब से 'भव' का प्रपंच' विस्तार/विकास को प्राप्त होता है, जिसमें फँसा जीवात्मा कभी नारकियों का, देवों का और कभी-कभी पशु-पक्षियों आदि का जन्म प्राप्त करके संसारी बना पड़ा रह जाता है। संयोगवश पुनः प्राप्त मानव-जीवन को दुबारा भी, इन्हीं सब विषय-विकारों में उलझा कर बरबाद कर दिया गया, तो न जाने फिर कब, उसे यह दुर्लभ मानव देह मिल पायेगी। इसलिए निर्विकार, शुभ्रचित्त से 'सदागम' की शरण स्वीकार कर यह प्रयास करना चाहिए कि निर्वृत्ति नगर का वह निवासी बन सके।

सिद्धर्षि के इस कथा-ग्रन्थ के नाम से ही पाठक के मन में यह सहज जिज्ञासा उठती है कि आखिर यह 'भव-प्रपञ्च' क्या है? जिसे लक्ष्य करके इतना विशाल ग्रन्थ रचा गया। इस प्रश्न का उत्तर, स्वयं सिद्धर्षि ने, विवेकाचार्य के द्वारा अपनी रचना में दिया है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए।

प्रायः सब प्राणी, अनादिकाल से असंव्यवहारिक राशि में रहते हैं। जब प्राणी वहाँ रहता है, तब, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रव द्वार (कर्मबन्ध के हेतु) उसके अन्तरङ्ग स्व-जन-सम्बन्धी होते हैं। जैन ग्रन्थों में वर्णित अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध मार्ग पर आकर, जितने प्राणी, कर्म से मुक्त होकर मुक्ति पाते हैं, उतने ही जीव असंव्यवहार राशि में से निकलकर व्यवहार राशि में आते हैं। यह केवलज्ञानियों के वचन हैं।

इस असंव्यवहार राशि में से बाहर निकले जीव, बहुत समय तक एकेन्द्रिय जाति में अनेक प्रकार की विडम्बना भोगते हैं। विकलेन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियों वाली तिर्यञ्च जाति में परिभ्रमण करते हैं और अनेकविध कष्ट-दुःख भोगते हैं। भिन्न-भिन्न अनन्त भवों में सहन/भोग करने के लिए, बंधे हुए कर्मजाल परिणामों को भोगते हुए, भवित-

व्यता के योग से, बार-बार नये-नये रूप धारण करते हैं। अरहट घटी की तरह, ऊपर-नीचे घूमते रहते हैं। और, यहाँ पर वे सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीव-रूप धारण करते हैं। कई बार, वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेइन्द्रिय, जलचर, स्थलचर, और नभचर तिर्यंचों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार नानाविध विचित्र रूपों में अनेक स्थानों पर भटकते हुए जीव को महान् कठिनता से, मनुष्य भव मिलता है।

जैसे समुद्र में डूबते हुए रत्नद्वीप मिल जाये, महारोग से जर्जरित को महौषधि, विषमूच्छित को मंत्रज्ञाता, दरिद्री को चिन्तामणि की प्राप्ति जितनी कठिन होती है, वैसी ही कठिनाई से मनुष्यभव की प्राप्ति होती है। किन्तु मनुष्यभव में भी हिंसा, क्रोध, आदि दुर्गुण इस तरह पीछे पड़े रहते हैं, जैसे धन के भण्डार पर बैताल पीछे पड़ा रहता है। इन सबसे, वह पीड़ित होकर, महामोह की प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा रह जाता है और अपने मनुष्यभव को निरर्थक खो देता है।

जो व्यक्ति जिनवाणी रूप प्रदीप के द्वारा अनन्त भव-प्रपञ्च को भलीभाँति जानते हैं, वे भी महामोह के वशीभूत होकर मूर्खों की तरह दूसरों को उपताप, सन्ताप देते हैं, गर्व में डूब जाते हैं, दूसरों को ठगते हैं, धनलिप्सा में डूबे रहते हैं, प्राणियों की हिंसा करते हैं, विषयभोगों में आसक्त रहते हैं, वे सबके सब भाग्यहीन प्राणी हैं। ऐसे व्यक्तियों को भी, मनुष्य भव, मोक्ष तक पहुँचाने का कारण नहीं बन पाता, बल्कि अनन्त दुःखों से भरपूर भव-प्रपञ्च (संसार-परम्परा) की वृद्धि कराने वाला हो जाता है।[1]

इस भव-प्रपञ्च विस्तार के नमूनों के रूप में, पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' में से किसी भी एक कथानक को पढ़ा जा सकता है, और समझा जा सकता है। सहज और सरल तरीके से, संक्षेप में ज्ञान करने के लिए, इस ग्रन्थ के आठवें प्रस्ताव में, शंखनगर के महाराजा महागिरि, और उनकी रानी भद्रा के बेटे 'सिंह' का कथानक पढ़ा जा सकता है।[2]

---

१ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव-३ पृष्ठ २७६-८६

२ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव ८, पृष्ठ ७२८-७३३।

इस संसार में चार प्रकार के पुरुष होते हैं। ये हैं—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतम। इनका स्वरूप इस तरह से समझना चाहिए।

उत्कृष्टतम प्राणी वे हैं—जो संसार अटवी से विरक्त होकर, पाप-रहित होकर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके समस्त कर्मों का नाश करते हैं और मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। उत्कृष्ट प्राणो वे हैं—जो विगतस्पृह होकर, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखते हैं, दोषों का संचय नहीं करते, शरीर का और इसके हर अंग का उपयोग धर्म की आराधना में करते हैं, और मोक्षमार्ग की ओर प्रयाण करते हैं। मध्यम पुरुष वे हैं—जो अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्ति को सहज रूप में बनाए रखते हैं, उनके विषय-भोगों में आसक्ति नहीं रखते, और कषाय आदि के दुष्प्रभाव में होने पर भी लोक-विरुद्ध, नीति-विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध आचरण नहीं करते। और जघन्य पुरुष वे हैं—जो इस संसार में, संसार के विषयभोगों में गाढ़ आसक्ति रखते हुए अपनी इन्द्रियों की ओर अन्तःकरणों की प्रवृत्ति बनाये रखते हैं।

इनमें से, उत्कृष्टतम कोटि के पुरुष, मुक्ति को प्राप्त होते हैं। उत्कृष्ट पुरुष, मुक्ति पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। मध्यम पुरुष, न तो मुक्ति के लिए चेष्टा करते हैं और न ही कर्मबन्ध के अनुकूल परिणाम देने वाले कार्यों में विशेष रुचि रखते हैं। जबकि अधम पुरुष, हर क्षण, इस तरह के क्रिया-कलापों में संलग्न रहता है, जिनके द्वारा उसके भव-प्रपञ्च का विकास/विस्तार ही होगा। एक तरह से, ऐसे ही व्यक्तियों को लक्ष्य करके, यह कथा-ग्रंथ सिद्धर्षि ने लिखा है, ताकि वे इसे उपयोग कर सकें।

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति, जन्म से उत्कृष्ट, मध्यम या अधम नहीं होता। उसके अपने पिछले जन्मों के कर्मबन्ध, संस्कार बनकर उसके साथ पैदा अवश्य होते हैं, तथापि जन्म ग्रहण कर लेने के बाद बहुत कुछ इस बात पर व्यक्ति के आगे का भव-प्रपञ्च निर्भर करता है कि उसने वर्तमान मनुष्य भव में क्या, कुछ, कैसा किया। और, यह एक अनुभूत सत्य है कि व्यक्ति जैसे परिवेष में रहेगा, जिस तरह के समाज में उठेगा-बैठेगा, उस सबका प्रभाव उस पर निश्चित ही पड़ेगा। इस तथ्य से, ग्रन्थकार भली-भाँति परिचित रहे। फलतः इस स्थिति की उन्होंने आध्यात्मिक/धार्मिक/मनोवैज्ञानिक/वैज्ञानिक तरीके से जो व्याख्या की है, वह बहुत कुछ इन शब्दों में समझी जा सकती है।

इस संसार में प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। प्रथम प्रकार के कुटुम्ब में—क्षान्ति, आर्जव, मार्दव, लोभ-त्याग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सत्य, शौच और सन्तोष आदि कुटुम्बीजन होते हैं। यह कुटुम्ब, प्राणी का स्वाभाविक कुटम्ब है, अनादिकाल से उसके साथ रहता आता है। इस कुटुम्ब का कभी अन्त—विनाश नहीं होता। यह कुटम्ब प्राणी का हित करने में ही सदा तत्पर रहता है। परेशानी की बात सिर्फ यह है कि यह कुटुम्ब कभी-कभी तो अदृश्य हो जाता है और फिर प्रकट हो जाता है। उसका छुपना और प्रकट होना, स्वाभाविक धर्म है। यह हर प्राणी के अन्तस् में रहता है। इसकी सामर्थ्य इतनी प्रबल है कि यदि यह कुटुम्ब चाहे तो प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकता है। क्योंकि, यह अपने स्वभाव से ही प्राणी को, उसके स्व-स्थान से उच्चता की ओर ले जाता है।

दूसरा कुटुम्ब, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, शोक, भय, अविरति आदि का है। यह कुटुम्ब, प्राणी का अस्वाभाविक कुटुम्ब है। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात ही कही/मानी जायेगी कि अधिकांश प्राणी इसे ही अपना स्वाभाविक कुटुम्ब मानकर उससे प्रगाढ़ प्रेम करने लगते हैं। इसका सम्बन्ध अभव्य जीवों के साथ अनादिकाल से है, जिसका अन्त कभी नहीं होता। कुछ भव्यप्राणियों के साथ भी इसका, अनादिकाल से सम्बन्ध जुड़ा होता है, किन्तु उसका अन्त निकट भविष्य में होने की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। यह कुटुम्ब प्राणी का, एकान्ततः अहित ही करता है। किन्तु, यह भी जब कभी प्रथम कुटुम्ब की तरह अदृश्य हो जाता है, छुप जाता है और फिर से प्रकट हो जाता है। यह भी प्राणी के अन्तरंग में निवास करता है और उसे सांसारिक विषय-भोगों में प्रवृत्त कराकर उसके भव-विस्तार में प्रमुख निमित्त बनता है। क्योंकि, इसका स्वाभाविक धर्म है—प्राणी को स्वस्थान से अधःपतित बनाना और दुर्गुणों के प्रति प्रेरित करना।

तीसरा कुटुम्ब/परिवार प्राणी का अपना शरीर, उसे पैदा करने वाले माता-पिता, और भाई-बहिन आदि अन्य कुटुम्बीजनों का होता है। यह कुटुम्ब, स्वरूप से ही अस्वाभाविक है। और, सादि सान्त है। इसका प्रारम्भ अल्पकालिक होता है, फलतः, इसका अस्तित्व पूर्णतः अस्थिर रहता है। यह कुटुम्ब, भव्य प्राणी को तो कभी हितकारी और कभी अहितकारी भी होता है। इसका धर्म उत्पत्ति और विनाश है। यह, हमेशा बहिरंग प्रदेश में ही प्रवर्तित होता है। भव्य प्राणी को, यह संसार और मोक्ष,

दोनों की प्राप्ति में सहयोगी बनता है। जबकि अभव्य प्राणी के लिये, यह सिर्फ संसार-वृद्धि का ही कारण होता है। प्रायः, यह कुटुम्ब, प्राणी के दूसरे कुटुम्ब के सदस्यों—क्रोध, मान, माया आदि को परिपुष्ट करने वाला होने से संसारवृद्धि का ही कारण बनता है। जब, कोई प्राणी, अपने प्रथम प्रकार के कुटुम्ब का अनुसरण/अनुगमन करता है, तब, यह भी, उसके पोषण में सहयोगी बन जाता है, और इस तरह, मोक्ष दिलाने में कारण बनता है।

इसी तरह के तमाम विवेचनों से भरा-पूरा है यह महाकथा ग्रन्थ। धर्म और दर्शन, खासकर जैनधर्म/दर्शन के हर प्रसङ्ग को सिद्धर्षि ने छुआ भर नहीं है, बल्कि उसकी ऐसी स्पष्ट अवतारणा अपने पात्रों में कर दी है, जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि, पाठक, कोई कथा नहीं पढ़ रहा है, बल्कि, कथा के पात्रों की घटनाओं को अपने बहिरंग और अंतरंग परिवेश से प्रत्यक्ष घटित होता अनुभव करता है।

तीसरे प्रस्ताव से लेकर सातवें प्रस्ताव तक कुल पांच प्रस्तावों में, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह एवं स्पर्शन, रसन, चक्षु, घ्राण और श्रोत्र में से एक-एक को लेकर, एक-एक प्रस्ताव में इनके समग्र स्वरूप की स्पष्ट, सहज और सरल रूप में व्याख्या की है। और, इन सबके संसर्ग/संपर्क से होने वाले दुष्परिणामों को, कई-कई कथानकों के द्वारा व्याख्यायित किया है। इन पांच-सात प्रस्तावों में, धर्म और दर्शन के व्यावहारिक आचरण का एक-एक रोम तक व्याख्यायित होने से नहीं बच पाया। इसके अलावा भी, प्रसंगवश जिन विषयों शास्त्रों की विवेचना की गई है, उनमें आयुर्वेद, ज्योतिष, स्वप्न-शास्त्र, निमित्त-शास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, धातुविद्या, युद्धनीति, राजनीति, गृहस्थ धर्म, मनोविज्ञान दुर्व्यसन, विनोद, व्यंग्य आदि प्रमुख हैं। इन सबको, सिद्धर्षि ने जीवन-घटनाओं के सांसारिक/नैतिक/आध्यात्मिक विवेचन में, जीभर कर उपयोग में लिया है। जिससे, यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि वे, मात्र दर्शन/धर्म के ही मर्मज्ञ नहीं थे, बल्कि, उनकी उदात्त ज्ञानसमृद्धि-चतुर्मुखी/बहुमुखी थी।

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' मात्र दार्शनिक/आध्यात्मिक विषयों को ही स्वयं आत्मसात नहीं किये है, बल्कि इसमें श्रृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य,

करुण आदि रसों का, छहों ऋतुओं का नगर, पर्वत, वन, नदी आदि प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण भी है।

मनुष्य के जन्म, जन्मोत्सव और शिक्षा-दीक्षा ग्रहण से लेकर, उसके विवाह आदि संस्कारों का, उसके पिता-भाई आदि दायित्वों के निर्वाह का और सम्मिलित परिवार के रूप में एक गृहस्थी का, आचरणीय क्या होना चाहिए? परिवार, समाज और अपने देश के प्रति उसके क्या-क्या कर्त्तव्य हैं? समाज में किस तरह की व्यावहारिक व्यवस्थाएँ होनी चाहिए? इन सारे पक्षों पर सिद्धर्षि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से प्रकाश डाला है। और, उन के समकालीन समाज में किस तरह का वातावरण था, कौन-कौन सी कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ थीं जो सामाजिक नैतिक-उत्थान में बाधा बनी हुई थीं, इस पक्ष को भी उन्होंने बिना कोई छिपाव किये, अपनी रचना में दर्शाया है। जैन धर्म/दर्शन में आस्था रखने वाले सामाजिकों/नागरिकों को श्रावक/श्राविका के लक्षण, दायित्व और कर्त्तव्यों को भी स्पष्ट करने में उनसे चूक नहीं होने पाई। हिंसा, चोरी, लूटपाट, ठगी, परवञ्चना और दुराचार जैसे घिनौने रूपों का खुलासा करने के साथ-साथ सच्चाई, ईमानदारी, परोपकारिता और दीन-दुःखियों के प्रति हमदर्दी जैसे सात्विक गुणों की वर्णना में भी वे पीछे नहीं रहे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सिद्धर्षि ने, अपने समकालीन समाज की दुखती नस को छुआ है, तो उसका उपचार/इलाज भी बतलाया है कि कैसे उसे दूर करके समाज को स्वस्थ बनाया जा सकता है। इन सारे वर्णनों के कुछ नमूने पुरुष प्रकार (पृष्ठ २०१), नारी स्वरूप (पृष्ठ ३८२) और लक्षण (पृष्ठ ४७४), राजा-रानी वर्णन (पृष्ठ १४८), मंत्रीवर्णन (पृ० १५८), राज्य की सुख दुखता (पृ० ५८१), दुर्जन दोष (पृ० ११२), धनगर्व (पृ० ४०४), पाखण्डी भेद (पृ० ३६५), मद में अंधापन (पृष्ठ ३३) आदि देखे जा सकते हैं।

संसारी की मूल स्थिति (पृष्ठ २८६), शोक का स्वरूप (पृ० ४०२, ६६६), संसारी जीव का स्वरूप (पृ० ५७६), मोह की प्रबलता (पृ० ७२१), महामोह (पृ० १६१), मिथ्या अभिमान (४००), भोगतृष्णा (१७४), राग की त्रिविधिता और वेदनीय के तीन प्रकार (पृ० ३६७), अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोष (पृष्ठ १७६), क्रोध, मान आदि कषायों का स्वरूप (पृ० ३७३), मिथ्यादर्शन (पृ० ३५६), मिथ्याभिमान से बनने वाली हास्यास्पद

स्थिति (पृ० १०१), और चारों गतियों का (पृष्ठ ४१८) वर्णन, जीवात्मा के संसार-वृद्धि के कारणों के रूप में देखा/पढ़ा जा सकता है।

जो व्यक्ति, परमात्म-स्वरूप की साकारता में आस्था रखते हैं, उनके लिए जिनपूजा (पृ० ४८९), जिनाभिषेक (पृ० २१८), साकार स्वरूपदर्शन की महिमा (पृ० ४८६), जिनशासन (पृ० ४५), चण्डिकायतन (पृ० ३९७), अतिशय वर्णन (पृ० ५९६), और आराधना वर्णन (पृ० ७६९) जैसे प्रसंग पठनीय हो सकते हैं।

साधु समाज के लिए साधु का स्वरूप (पृ० ४३९), साधु अवस्था (पृ० ५७६), साधु क्रिया (पृ० ६४१), साधु धर्म (पृ० ६३९), प्रव्रज्या विधि (पृ० ७३७), दीक्षा महोत्सव (पृ० २१७, २२८), आदि प्रसंग तो पठनीय हैं ही, इनके साथ-साथ, अपने आचरण की प्रखरता बनाये रखने के लिए वैराग्य महिमा (पृ० ५९७), सम्यक्त्व (पृ० ७३), सम्यग्दर्शन (पृ० ४५१), चित्तानुशासन (पृ० ६४१), दया (पृ० २७१), ध्यान योग (पृ० ७५७), सद्धर्म साधन (पृ० ६३९), चारित्र (पृ० ४७८), चारित्र सेना (पृ० ४५४), साधु के गुण (पृ० ६१), धर्म के परिणाम (पृ० ७१), क्षमा (पृ० १४९), सदागम का स्वरूप (पृ० ११८), सदागम का माहात्म्य (पृ० ११०), पुण्योदय (पृ० १३६), सम्यग्दर्शन के पांच दोष (पृ० ७३), विभिन्न साधु वर्गों पर आक्षेप के प्रसंग में क्रियाओं के अर्थ (पृ० ६१), तप के प्रकार (पृ० ७५६), मुक्ति स्वरूप (पृ० ४३०), और सिद्ध स्वरूप (पृ० ७०६) तथा सब एक साथ मोक्ष क्यों नहीं जाते (पृ० ४६) आदि प्रसंगों जैसे अनेक प्रसंग पठनीय हैं, चिन्तनीय हैं, और मननीय होने के साथ आचरणीय भी हैं।

सिद्धर्षि की भाषा सरल, सुबोध और हृदयग्राही तो है ही, उसमें भावों को स्पष्ट कर पाठक के मन पर अपना प्रभाव डालने की भी पर्याप्त सामर्थ्य है। इसके लिए, उन्हें, प्रसाद गुण को अंगीकार करना पड़ा। स्थिति और पात्र, जिस तरह की भाषा की अपेक्षा करते हैं, उसी तरह, भाषा का प्रयोग किया गया है। वे, जब 'कुटी प्रावेशिक रसायन' (पृ० ३५), विमलालोक अंजन (पृ० १२), तत्व प्रीतिकर जल (पृ० १२), महाकल्याणक भोजन (पृ० १२), आमर्ष औषधि (पृ० ४५), गोशीर्ष चन्दन (पृ० ४५), भैंस का दही और बेंगन (पृ० ८५-८६), नागदमनी औषधि (पृ० १४२) और धातु मृत्तिका (पृ० ३८) तथा लोहे को सोना बनाने का रस—'रसकूपिका' (पृ० ३८) जैसे प्रसंगों पर चर्चा करते हैं, तब उनके

वैद्यक का ज्ञान और एक धातुविद् का बुद्धि कौशल, सामने आ जाता है। मद्यपान की दुर्दशा (पृ० ३६७) व मांस खाने के दुष्परिणाम (पृ० ४१३) से लेकर काम-क्रीड़ा (पृ० ५०४) जैसे प्रसंगों की, प्रसंगगत अपेक्षाओं को रखते हुए, वसन्त (पृ० ३८६), ग्रीष्म और वर्षा (पृ० ४५६) तथा शरद्-हेमन्त (पृ० ३२४) और शिशिर (पृ० ३८६) ऋतुओं का वर्णन भी दिल-खोलकर किया गया है।

कथावर्णन में सिद्धर्षि ने नीतिवाक्यों/सूक्तियों का भी भरपूर प्रयोग किया है। 'लक्षणहीन मनुष्यों को चिन्तामणि रत्न नहीं मिलता' (पृ० १२१), 'सद्गुरु के सम्पर्क से कुविकल्प भाग जाते हैं' (पृ० ५७), 'पहिले जो दिया जाता है, वही मिलता है' (पृ० १००), धर्म के अतिरिक्त, सुख पाने का कोई दूसरा साधन नहीं है' (पृ० ५७), 'पति-पत्नी परस्पर अनुकूल हो, तभी प्रेम बना रहता है (पृ० १०६), 'जुओं से बचने के लिए कपड़ों का त्याग कौन बुद्धिमान करेगा (पृ ११४) 'मनीषियों को ऐसे कार्य सदा करने चाहिए, जिससे मन मुक्ताहार, बर्फ, गोदुग्ध, कुन्द पुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत एवं स्वच्छ हो जाये' (पृ० ११-१८ प्रस्तावना) जैसी लगभग २८० सूक्तियों का, पूरे ग्रन्थ में, इन्होंने प्रयोग किया है। उपमा और रूपकों की तो इतनी भार मार है कि शायद ही कोई पृष्ठ, इनसे अछूता बच पाया हो।

'भव-प्रपंच' का विस्तार और उसकी प्ररूपणा, प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य-प्रतिपाद्य विषय है। वह भी, उपमानों के माध्यम से। इसलिए, सिद्धर्षि ने, संसारी स्थितियों, पात्रों और घटनाओं का जो बाह्य-परिवेश, अपनी लेखनी का विषय बनाया, उसकी चरितार्थता तब तक बिल्कुल ही बेमानी रह जाती, जब तक कि उसके विकास/विस्तार के मुख्य-निमित्त, अन्तरंग-परिवेश को, कलम की नोंक पर न बैठा लिया जाता। यह अन्तरंग परिवेश, यद्यपि स्वभावतः अमूर्त्त है, तथापि, मूर्त्त-संसार का कोई भी ऐसा कोना नहीं है, कोई भी घटना, पात्र और स्थिति नहीं है, जिसकी कल्पना तक, अन्तरंग-परिवेश के सहयोग/उपस्थिति के बगैर की जा सके? इस अनिवार्यता के कारण, इस पूरे कथा ग्रन्थ में, जितने भी राजा/महाराजा, राजकुमार, राजकुमारियाँ, रानियाँ, महारानियाँ, उनकी सेना, सेवक/अनुचर, पारिवारिकजन और सामाजिक आदि-आदि सिद्धर्षि ने कल्पित किये, उससे कुछ अधिक ही, अन्तरंग-लोक में, ऐसे ही पात्रों की कल्पना करना

उन्हें लाजिमी हो गया। इतना ही नहीं, जो नगर, ग्राम, उद्यान, नदी, पर्वत, महल, गुफाएँ उन्होंने धरती के लोक में वर्णित की, वैसे, ही, अन्तरंग लोक में वर्णन करने का कौशल-सामर्थ्य, उन्हें अपने आप में जुटाना पड़ा। पर, प्रसन्नता की बात यह है कि इस सारे कल्पना-जाल में, सिद्धर्षि की विशाल-प्रज्ञा एक ऐसा पैनापन ले आने में समर्थ हुई है, जिसका प्रवेश, शास्त्रों में वर्णित स्वर्ग और नरक आदि चौदहों लोकों में बेरोक-टोक हुआ है। यह, इस कथा-ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

हर कथा में, दो वर्ग होते हैं—एक तो नायक, यानी कथानायक का वर्ग, जो पग-पग पर, उसे साहस/सहयोग प्रदान करता है, ताकि वह, अपने लक्ष्य-साधन में सफल हो सके। दूसरा वर्ग वह होता है, जो कथानक के साथ कुछ इस तरह चिपका-चिपका रहता है कि उसके हर प्रगति-कार्य में झट से उपस्थित होकर, कोई न कोई बाधा खड़ी कर देता है। इस दूसरे वर्ग को प्रतिनायक वर्ग कहा जा सकता है।

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' में कथानायक तो 'संसारी जीव' ही है, क्योंकि ग्रन्थ के विशाल कथानक का मूल-सूत्र, संसारी जीव से, कहीं भी टूटने नहीं पाता। किन्तु, मजेदार बात यह है कि इस कथानायक की लड़ाई जहाँ-जहाँ भी जिस-किसी से होती है, या, मित्रता और उठना-बैठना जिनके बीच होता है, वे सबके सब दिखावटी हैं। यह निष्कर्ष. तब निकल पाता है, जब इस सारे कथानक पर, दार्शनिक बुद्धि से गौर किया जाये। क्योंकि पूरे-ग्रन्थ में, जो परस्पर संघर्षरत दो पक्ष/प्रतिद्वन्द्वी बतलाए गए हैं, वे हैं—सत्-प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति। यानी, सदाचार और दुराचार। दुराचार पक्ष की ओर से, कई बार यह कहा गया है कि हमारा असली शत्रु 'संतोष' है, 'सदागम' है। जो, 'संसारी जीव' को उनके चंगुल से मुक्त करके 'निवृत्ति नगरी' में पहुँचा देता है। 'कर्मपरिणाम' के प्रमुख सेनापति 'महामोह' और उसके पक्ष/परिवार के 'अशुभोदय' आदि, अपनी सेना के साथ, संतोष' को पराजित कर समूल नष्ट करने के लिए प्रयासरत दिखलाये गये हैं। एक भी प्रसङ्ग, ऐसा पढ़ने को नहीं मिला, जिसमें, यह स्पष्ट हुआ हो कि 'महामोह' की सेना ने, 'संसारी जीव' को पराजित करने के लिए कूच किया हो। 'संसारी जीव' को तो कुछ इस तरह दिखलाया गया है, जैसे, वह 'संतोष' आदि का निवास स्थान महल/किला हो। यह गुत्थी, पाठक की बुद्धि को चकराये रहती है।

इस कथा-ग्रन्थ में, धर्म के आचरणीय अनुकरण को मुख्यतः प्रतिपादित किया गया है। इसलिए, इसे हम, 'धर्मकथा' कहने में संकोच नहीं कर सकते। किन्तु, यही धर्म तो जीवात्मा की असली पूंजी है, सम्पत्ति है। इसके बिना, हर जीवात्मा, सिद्धर्षि की तरह निष्पुण्यक दरिद्री बन जायेगा। अतः इसे 'अर्थकथा' भी मानना चाहिए। परन्तु, यह 'अर्थ' यानी 'धर्म' प्राप्त कर लेना ही, जीवात्मा के लिए सब कुछ नहीं है। बल्कि, 'धर्म' तो उसके लिए एक 'माध्यम' बनता है, सीढ़ी की तरह। जिसका सहारा लेकर, 'मोक्ष' के द्वार तक, जीवात्मा चढ़ पाता है। और, यह 'मोक्ष' ही उसका 'काम'/'इच्छा'/'प्राप्तव्य' होता है। मोक्ष प्राप्ति की कामना किये बगैर, किसी भी जीवात्मा का प्रयत्न, मोक्ष-प्राप्ति के लिए नहीं होता। इस दृष्टि से, इसे 'कामकथा' मानना चाहिए। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, अन्य अनेकों अवान्तर कथाएँ, सहयोगी बनी हुई हैं। जिनके द्वारा जीवात्मा की प्रवृत्ति, सांसारिक पदार्थ भोग से हटकर, 'मोक्ष' की ओर उन्मुख हो पाती है। यदि इन अवान्तर कथाओं का प्रसङ्गगत उपदेश/निर्देश/सुझाव जीवात्मा को न मिले, तो वह, संसारी ही बना पड़ा रह जायेगा। इसलिए, इन अवान्तर सङ्कीर्णकथाओं का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही सही, किन्तु, मूल्यवान प्रदाय, मोक्ष-प्राप्ति में निमित्त बनता है। इस दृष्टि से, इस कथाग्रन्थ को 'संकीर्ण कथा' भी कहा जाना, अनुचित न होगा।

इस तरह, हम देखते हैं, कि, 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' हमें सिर्फ जगत् के जञ्जाल से छुड़ाने को ही दिशा नहीं देती, बल्कि, वह यह भी प्रकट करती है कि सब कुछ भूल/छोड़कर, यदि मेरा ही चिन्तन/मनन कोई करे, तो उसको मोक्ष-लाभ होने में कोई मुश्किल नहीं आ पायेगी।

भव-प्रपञ्च : जैन दार्शनिक व्याख्या

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का गहराई से अनुशीलन—परिशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस कथा में जीव की आत्म-कथा है। छह द्रव्यों में जीव-द्रव्य चेतन है और पाँच द्रव्य अचेतन/जड़ हैं। चार्वाक दर्शन ने पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु से चैतन्य की उत्पत्ति/अभिव्यक्ति मानी है, पर, जैन दार्शनिकों ने उनके मन्तव्य का खण्डन करके आत्मा के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध किया है। जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप क्या है ? वह इस कथा में स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है।

जैन मनीषियों ने चैतन्य गुण की व्यक्तता की अपेक्षा से संसारी आत्मा के दो भेद किए हैं—त्रस और स्थावर[1]। त्रस आत्मा में चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा में चैतन्य अव्यक्त रहता है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि जिनके त्रस नामकर्म का उदय होता है, वे 'त्रस आत्माएँ'[2] हैं, और, जो स्थिर रहती हैं, और जिन आत्माओं में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, वे, 'स्थावर आत्माएँ' हैं। जिनके स्थावर नामकर्म का उदय होता है, वे 'स्थावर जीव' कहलाते हैं।[3]

त्रस आत्मा के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये चार भेद हैं[4]। उत्तराध्ययन में अग्नि और वायु को भी त्रस मानकर त्रस आत्मा के छह भेद बतलाये हैं।[5] उत्तराध्ययन में स्थावर आत्मा के पृथ्वी, जल, और वनस्पति, ये तीन भेद बताए गये हैं।[6] आचार्य उमास्वाति ने पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक—ये स्थावर आत्मा के पांच भेद [7]बताये हैं।

इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के भेद-प्रभेद किए गए हैं। इन्द्रिय आत्मा का लिंग है। स्पर्श आदि पांच इन्द्रियाँ मानी गयी हैं। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा संसारी आत्मा के पांच भेद हैं। जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है—उसे एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव के पांच प्रकार हैं।[8] पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के होते हैं। बादर नाम-कर्म के उदय से बादर शरीर जिनके होता है—वे बादर-कायिक जीव कहलाते हैं। बादर-कायिक एक जीव दूसरे मूर्त्त पदार्थों को रोकता भी है, और उनसे स्वयं रुकता भी है।[9] जिन जीवों के सूक्ष्म नाक-कर्म का उदय होता है, उन्हें सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता हैं, और वे सूक्ष्मकायिक जीव कह-

---

१ संसारिणस्त्रसस्थावराः—तत्त्वार्थ सूत्र २/१२

२ त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः—सर्वार्थसिद्धि २/१२

३ (क) सर्वार्थसिद्धि २/१२   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/१२, ३/५

४ द्वीन्द्रियादयस्त्र त्रसाः—तत्त्वार्थ सूत्र २/१४

५ उत्तराध्ययन ३६/६९-७२

६ उत्तराध्ययन ३६/७०   ७. तत्त्वार्थ सूत्र २/१३

८ वनस्पत्यन्तानामेकम्—तत्त्वार्थसूत्र २/२२

९ धवला १/१/१/४५

लाते हैं। सूक्ष्मकायिक जीव न किसी से रुकते हैं, और अन्य किसी को रोकते हैं, वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

पृथ्वीकायिक जीव वे हैं—जो पृथ्वीकाय नामक नाम-कर्म के उदय से पृथ्वीकाय में समुत्पन्न होते हैं। उत्तराध्ययन,[1] प्रज्ञापना,[2] मूलाचार[3] और धवला[4] आदि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में पृथ्वीकायिक जीवों की विस्तृत चर्चा है और उनके विविध भेद-प्रभेद भी बतलाए गए हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का आकार मसूर की दाल के सदृश होता है।[5] जलकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से जलकाय वाले जीव जलकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।[6] जीवाजीवाभिगम[7] और मूलाचार[8] में ओस, हिम, महिग (कुहरा), हरिद, अणु (ओला), शुद्ध जल, शुद्धोदक और घनोदक की अपेक्षा से जलकायिक जीव आठ प्रकार के बतलाये गये हैं।

अग्निकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों की अग्निकाय में उत्पत्ति होती है, उन्हें अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। उत्तराध्ययन[9] प्रज्ञापना,[10] और मूलाचार[11] में अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद-प्रभेद निर्दिष्ट हैं। सूचिका की नोंक की तरह अग्निकायिक जीवों की आकृति होती है।[12]

वायुकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वायुकाय युक्त जीव वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययन[13], प्रज्ञापना[14], धवला[15] और मूलाचार[16] में वायुकाय के जीवों के अनेक भेद प्ररूपित हैं।

वनस्पतिकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वनस्पतिकाय युक्तजीव

---

१ उत्तराध्ययन ३६/७१—७३
२ प्रज्ञापना १/८
३ मूलाचार २०६—२०९
४ धवला १/१/१/४२
५ गोम्मटसार जीवकाण्ड, २०१
६ तत्त्वार्थ वार्तिक २/१२
७ जीवाजीवाभिगम सूत्र १/१६
८ मूलाचार ५/१४
९ उत्तराध्ययन ३६/११०—१११
१० प्रज्ञापना १/२३
११ मूलाचार ५/१५
१२ गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा २०१
१३ उत्तराध्ययन ३६/११९—१२०
१४ प्रज्ञापना १/२६
१५ धवला १/१/१/४२
१६ मूलाचार ५/१६

वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव की अभिधा से अभिहित किए गए हैं।[1] वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—'प्रत्येक शरीरी' और 'साधारण शरीरी'[2]। जिन वनस्पतिकायिक जीवों का अलग-अलग शरीर होता है—वे प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक शरीर कहलाते हैं।[3] दूसरे शब्दों में एक शरीर में एक जीव रहने वाले को प्रत्येक शरीरी वनस्पति कहा[4] है। आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा से वनस्पतिकायिक जीव के दो भेद किए[5] हैं। इन दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रय में अन्य अनेक साधारण जीव रहते हैं, पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रित अन्य निगोदिया जीव नहीं रहते[6]। उत्तराध्ययन में प्रत्येक शरीरी वनस्पति के बारह प्रकार बताए हैं।[7] साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जिन अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है, उन्हें साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं।[8] साधारण शरीर जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, उनकी उत्पत्ति, उनके शरीर की निष्पत्ति, अनुग्रह, साधारण ही होते हैं।[9] एक जीव की उत्पत्ति से सभी जीवों की उत्पत्ति और एक के मरण से सभी का मरण होने से साधारण शरीरी वनस्पति जीव निगोदिया जीव के नाम से भी जाने जाते हैं।[10] निगोदिया जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। स्कन्ध, अण्डर (स्कन्धों के अवयव) आवास (अण्डर के अन्दर रहने वाला भाग), पुलविका (भीतरी भाग) निगोदिया से जीवों का वर्णन किया गया है।[11]

---

१ गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा १८५

२ षट्खण्डागम १/१/१/४१ ३ धवला १/६/१/४१

४ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव तत्व प्रदीपिका, १८५

५ गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८५

६ गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८६

७ उत्तराध्ययन ३६/९५—९६

८ (क) धवला १३/५/५/१०१ (ख) सर्वार्थसिद्धि, ८/११

९ षट्खण्डागम १४/५/६/१२२—१२५

१० कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गाथा १२५

११ धवला १४/५/६/९३

इन पाँच स्थावरों में यह जीव असंख्यात और अनन्त काल तक रहा है। वहाँ पर उसने विविध प्रकार के दारुण कष्ट सहन किये हैं। जैन दर्शन की यह महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि उसने इन पाँचों में जीव मानकर उनका विश्लेषण किया है और उन स्थानों पर जीव ने किस-किस प्रकार की यातनाएँ सहन कीं, उसका सजीव चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। जब इस वर्णन को प्रबुद्ध पाठक पढ़ता है तो वह चिन्तन करने के लिए बाध्य हो जाता है कि मेरी आत्मा ने मिथ्यात्व अवस्था में किस प्रकार इस संसार की यात्रा की है, चिरकाल तक कष्टों में झुलसने के पश्चात् अनन्त पुण्यवाणी का पुञ्ज, जब जीवात्मा ने एकत्र किया तब वह एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय बना, स्थावर से त्रस बना। एकेन्द्रिय अवस्था में केवल एक स्पर्शेन्द्रिय थी, उसमें अन्य इन्द्रियों का अभाव था। एकेन्द्रिय अवस्था में स्पर्शन, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। निगोद तो जीवों का खजाना है। उसमें इतने जीव हैं, जितने अन्य जीव-योनियों में नहीं हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जो व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि का उल्लेख हुआ है, वह दार्शनिक युग की देन है, आचार्य सिद्धर्षि गणी तक यह कल्पना वर्णन की दृष्टि से मूर्त्तरूप ले चुकी थी। अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य उस पर अपनी लेखनी चला चुके थे। इसलिए आचार्य सिद्धर्षि ने भी उनका अनुसरण कर व्यवहार राशि एवं अव्यवहार राशि का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। यदि पाठक-गण मूल ग्रन्थ का पारायण करेंगे तो उन्हें ज्ञानवर्द्धक विपुल सामग्री प्राप्त होगी।

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि अनन्त पुण्यवाणी के पश्चात् द्वीन्द्रिय अवस्था को, जीव प्राप्त करता है। द्वीन्द्रिय अवस्था में स्पर्शन् और रसन्—ये दो इन्द्रियाँ उसे प्राप्त होती हैं। द्वीन्द्रिय अवस्था में चारों प्रकार के कषाय और आहार आदि चारों प्रकार की संज्ञाएँ होती हैं। वे आत्माएँ सम्मूर्च्छनज होती हैं। असंज्ञी और नपुंसक होती हैं। पर्याप्ति और अपर्याप्ति के भेद से वे प्रकार की होती हैं। जीवाजीवाभिगम[1], प्रज्ञापना[2], और मूलाचार[3] में द्वीन्द्रिय जीवों के नामों की सूची दी गई है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय,

१ जीवाजीवाभिगम, १/२२

२ प्रज्ञापना १/४४ ३ मूलाचार ५/२८

चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अवस्था को भी इस जीवात्मा ने अनन्त बार प्राप्त किया है। पंचेन्द्रिय में वह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव योनियों को प्राप्त हुआ तथा वहाँ पर उसे मन की भी उपलब्धि हुई जिससे वह संज्ञी कहलाया। तिर्यंच गति में भी उसने अनेक कष्ट सहन किये। वह जीव वहाँ पर भयंकर शीत, ताप, क्षुधा और प्यास को सहन करता रहा, उस पर भयंकर ताड़ना और तर्जना पड़ी। परवशता में आत्मा ने वे दुःख और कष्ट सहन किये। नरक तो दुःखों का आगार है ही। केशववर्णी ने गोम्मटसार की जीव प्रबोधिनी टीका में स्पष्ट रूप से लिखा है—प्राणियों को दुखित करने वाला, स्वभाव से च्युत करने वाला, नरक कर्म है। और, इस कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले जीव नारकीय कहलाते हैं।[1] नारकीय जीवों को अत्यधिक दुःख सहन करने पड़ते हैं।[2] भगवती आदि आगम साहित्य में वर्णन है कि नारकीय जीवों को अतीव दारुण वेदनायें भोगनी पड़ती हैं। क्षेत्रकृत और देवकृत, दोनों ही प्रकार की नारकीय वेदनायें सहन करनी पड़ती हैं। ये वेदनायें इतनी भयंकर होती हैं कि उन्हें सहन करते समय प्राणी छटपटाता है, करुण क्रन्दन करता है। ये सारी वेदनायें जीव ने एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार भोगी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में कलम के धनी आचार्य ने जो वेदना का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है, वह बड़ा ही अद्भुत है, अनूठा है। इस जीव की जो यात्रायें विविध योनियों में हुईं; उसका मूल कारण, कर्म है। कर्म राजा ने ही जीव को परतन्त्रता की बेड़ियों में बांध रखा है।

शुद्धि और अशुद्धि की दृष्टि से संसारी आत्मा के दो भेद हैं—एक भव्यात्मा और दूसरी अभव्यात्मा। जिस आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वह भव्यात्मा है, जैसे जो मूंग सीझने योग्य हैं, उन्हें अग्नि आदि का अनुकूल साधन मिलने पर सीझ जाते हैं। उसी तरह जो आत्मायें मुक्त होने की योग्यता रखती हैं उन्हें सम्यग्दर्शन आदि निमित्त सामग्री के मिलने पर, वे कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त

---

१ (क) नरान् प्राणिनः, कायति यातयति, कदर्थयति, खलीकरोति, बाधत इति नरकं कर्म तस्यापत्यानि नारकाः।

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १४१

(ख) धवला १/१,१/२४

२ तत्त्वार्थ वार्तिक २/५०३

कर लेती हैं। यह शक्ति जिन जीवों में होती हैं—वे भव्यात्मा कहलाते हैं[1]। इसके विपरीत अभव्य आत्मा होती है। वे 'मूंग शैलिक' जो कभी नहीं सीझता, उसी तरह अभव्य जीव को देव, गुरु, धर्म का निमित्त मिलने पर भी, वह मुक्ति को वरण नहीं कर पाता। वह सदा-सर्वदा-संसार में ही परिभ्रमण करता है।

अध्यात्म की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किए गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ये आत्मा के तीन भेद आगम साहित्य में तो नहीं आये हैं, पर आचार्य कुन्दकुन्द[2], पूज्यपाद[3], योगेन्दु[4], शुभचन्द्र आचार्य[5], स्वामी कार्तिकेय[6], अमृतचन्द्र[7], गुणभद्र[8], अमितगति, देवसेन[9] और ब्रह्मसेन[10] प्रभृति मूर्धन्य मनीषियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युक्त तीन आत्माओं का उल्लेख किया है। तीन आत्माओं की चर्चा प्राचीन जैन साहित्य में इस रूप में न होकर अन्य रूप में उपलब्ध है। यह सत्य है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा जैसी शब्दावली आचारांग सूत्र में प्रयुक्त नहीं है, तो भी, उनका लक्षण और विवेचन वहाँ पर किया गया है। जो आत्माएँ बहिर्मुखी हैं, उनके लिए बाल, मन्द और मूढ़ शब्द का प्रयोग किया गया है। वे ममता से मुग्ध होकर बाह्य विषयों में रस लेती हैं। जो आत्माएँ अन्तर्मुखी हैं, उनके लिए पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी प्रभृति शब्द व्यवहृत हुए हैं। पाप से मुक्त होकर सम्यग्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का स्वरूप है। मुक्त आत्मा को आचारांग में विमुक्त, पारगामी, तर्क तथा वाणी से अगम्य बतलाया गया है।

जो आत्मा अज्ञान के कारण अपने सही स्वरूप को भूलकर आत्मा से पृथक् शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री, पुरुष, धन आदि पर-पदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगों में आसक्त बनी रहती है, वह बहिरात्मा है।

---

१ (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५६ (ख) ज्ञानार्णव ६/२०/६/२२

२ मोक्ष पाहुड़, गाथा ४

३ समाधि शतक, पद्य ४

४ (क) परमात्म प्रकाश १/११-१२ (ख) योगसार, ६

५ ज्ञानार्णव, ३२/५

६ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२

७ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

८ आत्मानुशासन

९ ज्ञानसार, गाथा २९

१० द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४

बहिरात्मा के भी द्रव्य-संग्रह की टीका में तीन भेद किये गये हैं—१. तीव्र बहिरात्मा—प्रथम मिथ्यात्व गुण-स्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम बहिरात्मा—द्वितीय सासादन गुणस्थानवर्ती आत्मा, ३. मंद बहिरात्मा -तृतीय मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा। बहिरात्मा मिथ्यात्वी होता है, उसे स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। मिथ्यात्व के कारण ही उसकी प्रवृत्ति अशुभ की ओर होती है।[1] तथागत बुद्ध ने भी कहा है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण का कारण है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही भाव इस रूप में व्यक्त किया गया है—रजोगुण से समुद्भव काम ही ज्ञान को आवृत कर, व्यक्ति को बलात् पाप की ओर प्रेरित करता है।[3] मिथ्यात्व से यथार्थ का बोध नहीं होता। मिथ्यात्व एक ऐसा रंगीन चश्मा है, जो वस्तु-तत्त्व का अयथार्थ भ्रान्त रूप प्रस्तुत करता है। अज्ञान, अविद्या और मोह के कारण ही जीव इस स्वरूप में रहता है।

मिथ्यात्व के अभाव से जब अन्तर्हृदय में सम्यक्त्व का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, तब जीव, आत्मा और शरीर के भेद समझने लगता है। और बाह्य पदार्थों से वह ममत्व बुद्धि हटाकर अपने सही स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है। अन्तरात्मा देहात्मबुद्धि से रहित होता है। वह भेद-विज्ञान से स्व और पर की भिन्नता को समझ लेता है।[4] आत्म-गुण के विकास की दृष्टि से नियमसार की तात्पर्य वृत्ति टीका में अन्तरात्मा के भी तीन भेद किये हैं[5]—१. जघन्य अन्तरात्मा[6]—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम आत्मा[7]—पाँचवें गुणस्थान से उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती तक के जीव इस श्रेणी में आते हैं, ३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा[8]—बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा इस श्रेणी में आते हैं।

कर्ममल से मुक्त राग-द्वेष विजेता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्मा ही परमात्मा है। शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के अर्हन्त और सिद्ध—ये दो भेद किये गये हैं तथा सकल परमात्मा और विकल परमात्मा

---

१ इसिभासियाइं सुत्त, २१/३ २ अंगुत्तर निकाय १/१७

३ श्रीमद्भगवद्गीता ३/३६ ४ मोक्खपाहुड़ ५/६

५ नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा १४६

६ *कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १६७*

७ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९६ (ख) द्रव्य संग्रह टीका, गाथा १४१

८ सत्यशासन परीक्षा का०

—ये दो भेद भी किए गए हैं। बृहद् नयचक्र में परमात्मा के कारण-परमात्मा और कार्य-परमात्मा ये दो भेद किए गए हैं। अर्हन्त सकल-परमात्मा और कारण-परमात्मा के नाम से पहचाने जाते हैं, तो सिद्ध विकल परमात्मा और कार्य-परमात्मा के नाम से जाने जाते हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा के ये तीन रूप उल्लिखित नहीं हैं, पर इससे मिलता-जुलता रूप हम कठोपनिषद् में देखते हैं। वहाँ पर आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा, ये तीन भेद किये गये हैं।[1] छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर डायसन ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई हैं—शरीरात्मा जीवात्मा और परमात्मा[2]। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से साम्य देखा जा सकता है। बहिरात्मा से परमात्मा तक पहुँचने के लिए एक बहुत लम्बी यात्रा तय करनी पड़ती है। उस यात्रा में अनेक बाधाएँ समय-समय पर समुत्पन्न होती हैं—कभी उसे मिथ्यात्व रोकता है, तो कभी उसे कषाय और राग-द्वेष आगे बढ़ने में रुकावट डालते हैं। बहिरात्मा उनमें उलझ जाता है। दर्शनमोहनीयकर्म के कारण जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय और अधर्म को धर्म मानता है। जैन दृष्टि से आत्मा के स्वगुणों और यथार्थ स्वरूप को आवरण करने वाले कर्मों में मोह का आवरण ही मुख्य है। मोह का आवरण हटते ही शेष आवरण सहज रूप से हटाये जा सकते हैं। जिसके कारण कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान नहीं होता, उसे दर्शनमोह कहते हैं। और, जिसके कारण आत्मा स्व-स्वरूप में स्थित होने का प्रयास नहीं करता, वह चारित्रमोह है। दर्शन मोह से विवेक बुद्धि कुण्ठित होती है तो चारित्रमोह से सद्प्रवृत्ति कुण्ठित होती है। अतः आध्यात्मिक विकास के लिये दो कार्य आवश्यक हैं—पहला, स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का यथार्थ विवेक, और दूसरा है—स्व-स्वरूप में अवस्थिति। आत्मा को स्व-स्वरूप के लाभ हेतु और आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि के लिये दर्शनमोह, चारित्रमोह पर विजय-वैजयन्ती फहरानी होती है। इस विजय यात्रा में उसे सदैव जय प्राप्त नहीं होती, वह अनेक बार पतनोन्मुख हो जाता है। उसी का चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने बड़ी खूबी के साथ उपस्थित किया है। जो भी साधक विजय यात्रा के लिये प्रस्थित होता है, उसे विजय और पराजय का सामना करना ही पड़ता है।

---

१ कठोपनिषद् १/३/१३

२ परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना (आ० ने० उपाध्ये) पृष्ठ ३१

पराजित होने पर यदि वह सम्भल नहीं पाता तो पुनः वह उसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से उसने विजय-यात्रा प्रारम्भ की थी। अन्तरात्मा में पहुँचा हुआ आत्मा भी पुनः बहिरात्मा बन जाता है। उसकी विकास यात्रा में बाधा समुत्पन्न करने वाले अनेक कर्म-शत्रुओं की प्रकृतियाँ रही हुई हैं। कभी कोई प्रकृति अपना प्रभाव दिखाती है, तो कभी कोई प्रकृति।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि विकास यात्रा में अवरोध उत्पन्न करने वाला एक प्रमुख कारण कषाय है। कषाय जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। 'कष' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'कषाय' शब्द बना है। यहाँ पर 'कष' का अर्थ संसार है अथवा कर्म और जन्म-मरण है। 'आय' का अर्थ लाभ है। जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म और मरण के चक्र में पड़ता है---वह 'कषाय' है। कषाय आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। तीव्र आवेग को कषाय कहते हैं और मंद आवेग या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नोकषाय कहते हैं। नोकषाय के हास्य, रति, अरति, भय, शोक, प्रभृति नौ प्रकार हैं। कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ, चार प्रकार का है, और प्रत्येक कषाय के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प की दृष्टि से चार-चार विभाग हैं। जब तीव्रतम क्रोध आता है, तो उस आत्मा का दृष्टि-कोण विकृत हो जाता है, तीव्रतर क्रोध में आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं रहती, तीव्र क्रोध आत्म-नियंत्रण की शक्ति में बाधा समुत्पन्न करता है और मंद क्रोध वीतरागता उत्पन्न नहीं होने देता। क्रोध एक मानसिक उद्वेग है, उसके कारण मानव की चिन्तनशक्ति और तर्क-शक्ति कुण्ठित हो जाता है, जिससे उसे हिताहित का भान नहीं रहता। वह उस आवेग में ऐसे अकृत्य कर बैठता है, जिसका पश्चात्ताप उसे चिरकाल तक बना रहता है। क्रोध की उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक दोनों प्रकार से होती है। प्रिय वस्तु का वियोग होने पर जो क्रोध उभर कर आता है, वह सहेतुक क्रोध है।[1] किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध वेदनीय पुद्गलों के प्रभाव से जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक क्रोध है।[2] भगवती सूत्र में क्रोध के दो रूप बताये हैं—एक द्रव्य क्रोध और दूसरा भाव क्रोध। द्रव्य क्रोध से

---

१ स्थानांग सूत्र १०/७

२ अपइट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायेत।

—प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र १४

शारीरिक परिवर्तन होता है, वे शरीर की विविध भाव-भंगिमाएँ क्रोध को व्यक्त करती हैं। भाव क्रोध मानसिक अवस्था है, वह अनुभूत्यात्मक पक्ष है। अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव क्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्य क्रोध है। एकेन्द्रिय आदि सभी सांसारिक जीवों में तीव्रतम, तीव्रतर आदि सभी प्रकार के क्रोध रहते हैं, पर अभिव्यक्ति का साधन स्पष्ट न होने से उनकी अनुभूति दूसरे व्यक्ति नहीं कर पाते। क्रोध की तरह मान भी एक आवेग है। मान के कारण व्यक्ति स्वयं को महान और दूसरों को हीन समझता है। मान के कारण भी आत्मा अनेक अनर्थ समय-समय पर करता रहा है। उसके भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प—ये चार भेद हैं। क्रोध में व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करना चाहता है तो मान में अपने से छोटा बनाकर, अपने अधीन रखना पसन्द करता है। यही क्रोध और मान में अन्तर है। कषाय का तीसरा प्रकार माया है। माया का अर्थ कपट है। जहाँ कपट है, वहाँ पर सरलता का अभाव रहता है। कपट शल्य है, इस शल्य के कारण साधना में प्रगति नहीं होती। और, चौथा प्रकार कषाय का लोभ है। लोभ को पाप का बाप कहा गया है। वह समस्त सद्-गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है[1], सम्पूर्ण दुःखों का मूल है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्-गुणों का नाश होता है।[2] लोभ सभी कषायों में निकृष्टतम है। क्रोध वर्तमान जन्म और आगामी जन्म, दोनों के लिये, भय समुत्पन्न करता है।[3] लोभ के वशीभूत होकर प्राणी सदैव दुःख उठाता रहा है। इसीलिये ज्ञानियों ने कहा कि जन्म मरण रूपी वृक्ष का सिञ्चन करने वाले कषायों का परित्याग करना चाहिये। सहज जिज्ञासा हो सकती है—इन आवेगों पर किस प्रकार नियन्त्रण किया जावे? पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा का अभिमत है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक सशक्त आवेग के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है, और उसे नष्ट भी किया जा सकता है।[4] आचार्य शय्यम्भव ने भी इसी बात को अपने शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—'शान्ति से क्रोध पर, मृदुता से मान पर, सरलता से माया पर और सन्तोष से लोभ पर विजय-पताका फहराई जा

१ योगशास्त्र ४/१०, १८ २ दशवैकालिक ८/३८

३ उत्तराध्ययन ६/५४

४ स्पीनोजा नीति, अनुवादक-दीवानचन्द्र, हिन्दी समिति उ० प्र०, ४/७

सकती है।[1] इसी सत्य को तथागत बुद्ध[2] ने और महर्षि व्यास[3] ने भी स्वीकार किया है।

कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अन्त है, इसीलिए एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'—कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। सूत्रकृतांग से स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार महादोषों को छोड़ने वाला ही महर्षि, न तो पाप करता है और न करवाता है।[4] तथागत बुद्ध ने कहा कि जो व्यक्ति राग, द्वेष आदि कषायों को बिना छोड़े कषाय वस्त्रों को अर्थात् संन्यास धारण करता है तो वह संयम का अधिकारी नहीं है। संयम का अधिकारी वही होता है, जो कषाय से मुक्त है। जिसके अन्तर्मानस में क्रोध की आंधी आ रही हो, मान के सर्प फुत्कारें मार रहे हों, माया और लोभ के बवण्डर उठ रहे हों, राग और द्वेष का दावानल धूं-धूं कर सुलग रहा हो, वह साधना का अधिकारी नहीं है; साधना का वही अधिकारी है जो इन आवेगों से मुक्त है। इसीलिए प्रस्तुत कथानक में यह बताया गया कि आत्मा कभी क्रोध के वशीभूत होकर, कभी मान के कारण और कभी माया से प्रभावित होकर, अपने गन्तव्य मार्ग से विस्मृत होती रही है। प्रबल पुरुषार्थ से उसने कषायों पर विजय प्राप्त की, पर उसके बाद भी कभी वेदनीय ने उसके मार्ग में बाधा उपस्थित की, तो कभी ज्ञानावरणीय कर्म ने उसकी प्रगति में प्रश्नचिह्न उपस्थित किया। उसकी गति में यति होती रही। एक-एक कर्म-शत्रुओं को परास्त कर वह आगे बढ़ा, यहाँ तक कि उसने मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन कर वीतरागता ही प्राप्त कर ली। किंतु, पुनः उसका ऐसा पतन हुआ कि ग्यारहवें गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में पहुँच गया। जहाँ से उसने विकास यात्रा प्रारम्भ की थी, पुनः उसी स्थिति को प्राप्त हो गया। पर उस आत्मा ने पुरुषार्थ न छोड़ा, 'पुनरपि दधिदधिनी' की उक्ति को चरितार्थ करता रहा।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने इन तथ्यों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत कर साधकों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

---

१ दशवैकालिक ८/३९
२ धम्मपद २२३
३ महाभारत, उद्योग पर्व,
४ सूत्रकृतांग १/६/२६

प्रत्येक वृत्तियों का सजीव चित्रण हुआ है। आचार्य ने विकास में जो भी बाधक तत्व हैं, उन सभी को एक-एक कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह कथा अपने आत्मविकास की कथा है, जो बहुत ही प्रेरक है और साधक को अन्तर्निरीक्षण के लिए उत्प्रेरित करती है।

अध्यात्मरसिक कवि द्यानतराय ने जीव के भवभ्रमण की पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखा है—

हम तो कबहु न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये॥

निज घर हमारा आत्मस्वरूप है और पर-घर यह संसार है। अनन्त काल से यह जीवात्मा कर्म के अनुसार विविध योनियों में भटक रहा है। इस भटकन और भ्रमण का कारण कर्म हैं, जो आत्मा के साथ बंधे हुए हैं, चिपके हुए हैं। यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा सुख के सरसब्ज बाग को भी स्वयं ही लगाता है और दुःख के नुकीले काँटे भी वही बोता है, तो फिर इतना दुःख और वैषम्य किस कारण से है? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि हम चिन्तन करें कि जब आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है तो उसने स्वयं के सुख के लिए अनाचार/भ्रष्टाचार का सेवन कर दुःख के काँटे क्यों बोए? इस जिज्ञासा का समाधान जैन मनीषियों ने कर्म सिद्धान्त के द्वारा दिया है। उनका मन्तव्य है कि जीव अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, पर वह अनादि काल से कर्म के बन्धनों से आबद्ध है, जिससे वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आनन्दमय होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र और आनन्दमय नहीं है। जीव जो भी क्रिया करता है, उसका नाम कर्म है। कर्म शब्द विभिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ है। किन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है। आचार्य देवेन्द्र ने लिखा कि है 'जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।[1] पंडित सुखलाल जी का मन्तव्य है कि 'मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।[2] इस प्रकार कर्महेतु और क्रिया दोनों ही कर्म के अन्तर्गत हैं। जैन परम्परा में कर्म के दो पक्ष हैं—राग द्वेष, कषाय प्रभृति

---

१ कर्मविपाक (कर्म ग्रन्थ १)
२ दर्शन और चिन्तन, हिन्दी, पृष्ठ २२५

मनोभाव और दूसरा है—कर्म पुद्गल। कर्म पुद्गल क्रिया का साधन/निमित्त है और राग-द्वेष आदि क्रिया है। कर्म पुद्गल जो प्राणी की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर कर्म शरीर की रचना करते हैं और समयविशेष के पकने पर अपने फल के रूप में विशेष प्रकार की अनुभूतियां देकर पृथक् हो जाते हैं, उन्हें जैन दर्शन की भाषा में द्रव्य-कर्म कहा गया है। गोम्मटसार में आचार्य नेमीचन्द्र ने लिखा है—पुद्गल पिण्ड 'द्रव्य-कर्म' है और चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति 'भाव-कर्म' है। द्रव्य-कर्म सूक्ष्म कार्मण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है। आचार्य विद्यानन्दि ने द्रव्य-कर्म को आवरण और भाव-कर्म को दोष कहा है। क्योंकि, द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियों के प्रकटन में बाधक है इसलिए उसे आवरण कहा है और भाव-कर्म आत्मा की विभाव अवस्था है इसलिए उसे दोष कहा है। जैन दर्शन ने आवरण और दोष या द्रव्यकर्म और भावकर्म के बीच कार्य-कारण-भाव माना है।[1] भाव-कर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों का परस्पर बीजांकुर की तरह, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है, उनमें से किसी को भी पूर्वापर नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म में भी पहले कौन है या बाद में कौन है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। द्रव्य-कर्म की दृष्टि से भाव-कर्म पहले है और भाव-कर्म के लिए द्रव्य-कर्म पहले होगा। वस्तुतः इनमें सन्तति की अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण-भाव है।

जैन दृष्टि से द्रव्य-कर्म पुद्गलजन्य हैं, इसलिये मूर्त्त हैं। कर्म मूर्त्त हैं, तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर अपना प्रभाव किस प्रकार डालते हैं? जैसे वायु और अग्नि अमूर्त्त आकाश पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती, उसी तरह अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्त कर्म का प्रभाव नहीं हो सकता। इस जिज्ञासा का समाधान मूर्धन्य मनीषियों ने इस प्रकार किया है—जैसे अमूर्त्त ज्ञान आदि गुणों पर मूर्त्त मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है वैसे ही अमूर्त्त जीव पर भी मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। दूसरी बात यह है कि कर्म के सम्बन्ध से संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है। कर्म-सम्बन्ध

---

१ कर्म विपाक भूमिका, पृष्ठ २४

होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त्त होने पर भी कथंचित् मूर्त्त होने से उस पर मूर्त्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। जब तक आत्मा कर्म-शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता तब तक वह कर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूर्त्त शरीर के माध्यम से मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा से किस प्रकार सम्बन्धित होते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया गया है कि, जैसे मूर्त्त घट अमूर्त्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। यह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध नीर-क्षीर-वत् होता है। यहाँ पर यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि जड़ कर्म पर-माणुओं का चेतन के साथ पारस्परिक प्रभाव को माना जाए तो सिद्धा-वस्था में भी जड़ कर्म शुद्ध आत्मा को प्रभावित करेंगे? पर, यह बात नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है—स्वर्ण कीचड़ में चिरकाल तक रहता है, तो भी उस पर जंग नहीं लगता, पर लोहा तालाब में भी कुछ समय तक रहे तो जंग लग जाता है, वैसे ही सिद्ध आत्मा स्वर्ण की तरह है, उस पर कर्मों का जंग नहीं लगता। जब तक आत्मा कार्मण शरीर से युक्त है, तभी तक उसमें कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। भाव-कर्म से ही द्रव्य-कर्म का आस्रव होता है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध आज का नहीं अनादि काल का है। जैन दृष्टि से शुभाशुभ का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है, दूसरों को नहीं। श्रमण भगवान महा-वीर ने भगवती में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं, पर परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करते।' जातक साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि बोधिसत्व के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ तरंगित होती हैं कि मेरे कुशल कर्मों का फल संसार के सभी प्राणियों को प्राप्त हो, पर जैन दर्शन इस विचार से सहमत नहीं है। जैसा हम कर्म करेंगे वैसा ही फल हमें मिलेगा। दूसरा व्यक्ति उस कर्म-विभाग में संविभाग नहीं कर सकता। जैन दर्शन ने कर्म सिद्धान्त के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार से चिन्तन किया है। जैनदर्शन का कर्म सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक और अद्भुत है कि विश्व का कोई भी चिन्तक उसे चुनौती नहीं दे सकता। उस गहन दार्शनिक सिद्धान्त को आचार्य सिद्धर्षि गणी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार संजोया है कि देखते ही बनता है। आचार्यश्री की प्रकृष्ट प्रतिभा ने ग्रन्थ में चार चाँद लगा दिये हैं। कर्म का जीव के साथ अनादि काल का सम्बन्ध है, पर जीव चाहे तो

उन कर्मों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से हटा सकता है। कर्म से मुक्त होने के लिए जैन मनीषियों ने चार उपाय बताये हैं। वे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आवश्यक है। सम्यग्दर्शन का अर्थ— तत्त्व रुचि है, सत्य अभीप्सा है। सत्य की प्यास जब तीव्र होती है, तभी साधना मार्ग पर कदम बढ़ते हैं। उत्तराध्ययन[1] और तत्त्वार्थ सूत्र[2] में सम्यग्दर्शन शब्द तत्त्व-श्रद्धा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, तो आवश्यक सूत्र में देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति के अर्थ में सम्यग्दर्शन का प्रयोग है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टि आदि शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सम्यग्दृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध में सही दृष्टि-कोण होता है। जबकि मिथ्यादृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध गलत दृष्टिकोण होता है। मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यग्-दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है।[3] सम्यग्दर्शन मुक्ति का अधिकार पत्र है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिन सम्यक्चारित्र नहीं होता। और सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है, जैसे चेतनारहित शरीर शव है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित साधना भी शव की तरह ही है।

सम्यग्दर्शन मुक्ति महल में पहुँचने का प्रथम सोपान है, इसलिए दर्शन पाहुड़[4] और रत्नकरण्ड श्रावकाचार[5] आदि में जीवन विकास के लिए ज्ञान और चारित्र के पूर्व दर्शन को स्वीकार किया है। सम्यग्दर्शन होने पर ही साधक को भेदविज्ञान होता है और वह समझता है कि 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन और निराकार हूँ। जो यह विराट विश्व में दिखलाई दे रहा है, वह पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। आत्मा और शरीर ये पृथक्-पृथक् है। सुख और दुःख की जो भी अनुभूति हो रही है, वह मुझे नहीं किन्तु शरीर को है।' इस प्रकार भेद-विज्ञान का दीप जलते ही जीवन में समता का आलोक जगमगाने लगता है। इसीलिए आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा—

---

१ उत्तराध्ययन २८/३५ २ तत्त्वार्थसूत्र १/२
३ अंगुत्तर निकाय १०/१२ ४ दर्शन पाहुड, गाथा, १/२८।
५ रत्नकरण्डक श्रावकाचार १/१८

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन'। जितने भी आज दिन तक सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेद-विज्ञान से हुए हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। जीवन-दृष्टि के अभाव में जीवन का मूल्य नहीं है। जिस प्रकार की दृष्टि होती है उसी प्रकार की सृष्टि भी होती है अर्थात् दृष्टि की निर्मलता से ही ज्ञान भी निर्मल होता है और चारित्र भी। इसलिए सर्वप्रथम दृष्टि-निर्मलता को ही सम्यग्दर्शन कहा है।

इस विराट विश्व में ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है, जिसमें ज्ञान गुण न हो। भगवती आदि आगमों में आत्मा को ज्ञानवान कहा है।[1] ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है, जो अविकसित से अविकसित अवस्था में भी विद्यमान रहता है, पर मिथ्यात्व के कारण ज्ञान अज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पर, ज्यों ही सम्यग्दर्शन का संस्पर्श होता है, अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—'ज्ञान ही मानव जीवन का सार है।' अविद्या के कारण ही पुनः पुनः जन्म और मृत्यु के चक्कर में आत्मा आती रहती है। वह एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करती है। जिस आत्मा में ज्ञान और प्रज्ञा होती है, वही आत्मा निर्वाण के समीप होती है। ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ होकर पापी से पापी व्यक्ति भी संसार रूपी समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान ऐसी जाज्वल्यमान अग्नि है, जो कर्मों को भस्म कर देती है। इसीलिए कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'इस विश्व में ज्ञान के सदृश अन्य कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है।' ज्ञान वह है, जो आत्मविकास करता हो। उसका दृष्टिकोण सदा सत्यान्वेषी होता है। वह स्व का साक्षात्कार करता है। इसीलिये आचारांग के प्रारम्भ में कहा गया कि 'साधक प्रति-पल, प्रतिक्षण यह चिन्तन करे कि, मैं कौन हूँ?' छान्दोग्योपनिषद्[2] में भी ऋषियों ने कहा—जिसने एक आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानसार ग्रन्थ में लिखा है, जो ज्ञान मोक्ष का साधक है—वह श्रेष्ठ है। और, जो ज्ञान मोक्ष की साधना में बाधक है, वह ज्ञान निरुपयोगी है। जिस ज्ञान से आत्मविकास नहीं होता,

---

१ (क) भगवती १२/१० (ख) आचारांग ५/५/१६६

(ग) समयसार, गाथा ७ (घ) स्वरूप-सम्बोधन ४

२ छान्दोग्योपनिषद् ६/१/३

वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान, इन्द्रियज्ञान, बौद्धिक ज्ञान से भी बढ़कर है। आत्मज्ञान को ही जैन मनीषियों ने सम्यग्ज्ञान कहा है।

सम्यग्ज्ञान की परिणति सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। आध्यात्मिक पूर्णता के लिए दर्शन की विशुद्धि के साथ ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के बिना जो श्रद्धा होती है—वह सम्यक्श्रद्धा न होकर, अन्ध श्रद्धा होती है। श्रद्धा जब ज्ञान से समन्वित होती है, तभी सम्यक्-चारित्र की ओर साधक की गति और प्रगति होती है। एक चिन्तक ने लिखा है—दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग विधि है और चारित्रप्रयोग है। तीनों के सहयोग से ही सत्य का साक्षात्कार होता है।[1] जब तक सत्य स्वयं के अनुभव से सिद्ध नहीं होता, तब तक वह सत्य पूर्ण नहीं होता। इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा—ज्ञान के द्वारा परमार्थ का स्वरूप जाना, श्रद्धा के द्वारा उसे स्वीकार करो और आचरण कर उसका साक्षात्कार करो। साक्षात्कार का ही अपर नाम सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र से आत्मा में जो मलिनता है, वह नष्ट होती है। क्योंकि, जो मलिनता है, वह स्वाभाविक नहीं, अपितु वैभाविक है, बाह्य है, और अस्वाभाविक है। उस मलिनता को ही जैन दार्शनिकों ने कर्म-मल कहा है, तो गीताकार ने त्रिगुण कहा है और बौद्ध दार्शनिकों ने उसे बाह्य-मल कहा है। जैसे अग्नि के संयोग से पानी उष्ण होता है, किन्तु अग्नि का संयोग मिटते ही पानी पुनः शीतल हो जाता है, वैसे ही आत्मा बाह्य संयोगों के मिटने पर अपने स्वाभाविक रूप में आ जाता है। सम्यक् चारित्र बाह्य संयोगों से आत्मा को पृथक् करता है। सम्यक्चारित्र से आत्मा में समत्व का संचार होता है। यही कारण है कि प्रवचनसार[2] में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि, चारित्र ही वस्तुतः धर्म है। जो धर्म है, वह समत्व है। जो समत्व है, वही आत्मा की मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध अवस्था है। चारित्र का सही स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चारित्र के भी दो प्रकार हैं—व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र। आचरण के जो बाह्य विधि-विधान हैं, उसे व्यवहार चारित्र कहा गया है और जो

---

१ जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ ८४, डा. सागरमल जैन, प्र. प्राकृत भारती जयपुर

२ प्रवचनसार १/७

आचरण का भाव पक्ष है, वह निश्चयचारित्र है। व्यवहारचारित्र में पंच महाव्रत, तीन गुप्तियाँ, पंच समिति और पंच चारित्र आदि का समावेश है, तो निश्चयचारित्र में राग-द्वेष, विषय और कषाय को पूर्ण रूप से नष्ट कर आत्मस्थ होना है। सम्यक्चारित्र से सद्गुणों का विकास होता है। सम्यक्चारित्र से साधना में पूर्णता आती है।

सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत सम्यक् तप का भी उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ सूत्र प्रभृति ग्रन्थों में सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—इस त्रिविध साधना मार्ग का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन आदि में चतुर्विध साधना का निरूपण हुआ है। उसमें सम्यक् तप को चतुर्थ साधना का अंग माना है। तप साधक के जीवन का तेज है, ओज है। तप आत्मा की परि-शोधन की प्रक्रिया है, पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। तप के द्वारा ही पाप कर्म नष्ट होते हैं, जिससे आत्म-तत्व की उपलब्धि होती है और आत्मा का शुद्धिकरण होता है। अनन्त काल से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष व कषाय के कारण आत्मा के साथ एकीभूत हो चुके हैं। उन कर्म-पुद्गलों को नष्ट करने के लिए तप आवश्यक है। तप से कर्म-पुद्गल आत्मा से पृथक होते हैं और आत्मा की स्वशक्ति प्रकट होती है तथा शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि होती है। तप का लक्ष्य है—आत्मा का विशुद्धीकरण व आत्म परिशोधन। जैन-परम्परा में ही नहीं, वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी तप की महिमा और गरिमा को स्वीकार किया है। इन तीनों ही परम्पराओं ने आत्म-तत्व की उपलब्धि के लिए तप का निरू-पण किया है और तप के विविध भेद-प्रभेद भी किये हैं।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा में जीवन-शुद्धि के लिए, ये चारों मार्ग प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने कथा के माध्यम से यह बताया है कि 'सम्यग्दर्शन की एक बार उपलब्धि हो जाने पर भी जीव पुनः मिथ्यात्वी बन जाता है, और वहाँ पर चिरकाल तक विपरीत श्रद्धान को स्वीकार कर जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने लगता है। सम्यग्-दर्शन और सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह पुनः प्रयासरत होता है और उससे बढ़कर सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप को स्वीकार कर, वह एक दिन सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर पूर्ण मुक्त बन जाता है। और सदा-सदा के लिए उस जीवात्मा का भव-प्रपंच मिट जाता है तथा वह *आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।'*

मोक्ष का अर्थ मुक्त होना है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष असने' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। इसलिए समस्त कर्मों का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष है।[1] पूज्यपाद ने लिखा है—'जब आत्मा, कर्म रूपी कलंक शरीर से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है, तब अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण रूप और अव्याबाध आदि सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, वह मोक्ष है'।[2] तत्वार्थ-वार्तिक में आचार्य अकलङ्क ने लिखा है—'बन्धन से आबद्ध प्राणी, बन्धन से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार गमन कर सुख का अनुभव करता है, वैसे ही कर्म के बन्धन से मुक्त होकर आत्मा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करती है।[3] यही बात धवला,[4] सर्वार्थसिद्धि[5] और तत्वार्थ-श्लोक-वार्तिक[6] में भी कही गई है। सभी विज्ञों ने यह तथ्य स्वीकार किया है कि आत्म-स्वरूप का लाभ ही मोक्ष है। कर्म-मलों से मुक्त आत्मा शुद्ध है। बौद्ध दार्शनिकों ने मोक्ष के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—जैसे दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है, वैसे ही कर्मों का क्षय हो जाने से निर्वाण में चित्सन्तति का विनाश हो जाता है, इसलिए मोक्ष में जीव का अस्तित्व नहीं है। पर, जैन दार्शनिकों का अभिमत है कि मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता। जीव एक भव से भवान्तर रूप परिणमन करता है। देवदत्त के एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने पर उसका अभाव नहीं माना जाता, वैसे ही जीव के मुक्त होने पर उसका अभाव नहीं होता।[7] आचार्य अकलंक[8] ने भी बौद्ध दार्शनिकों के अभिमत पर चिन्तन करते हुए लिखा है—'दीपक के बुझ जाने पर दीपक का विनाश नहीं होता, किन्तु उस दीपक के तेजस् परमाणु अन्धकार में परिवर्तित हो जाते हैं, वैसे ही मोक्ष होने पर जीव का विनाश नहीं होता, अपितु कर्मों का क्षय होते ही आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यावस्था में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता।

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि १/४ (ख) तत्वार्थ-वार्तिक १/१/३७

२ सर्वार्थ-सिद्धि-उत्थानिका, पृष्ठ १

३ तत्त्वार्थ-वार्तिक १/४/२७, पृष्ठ १२ ४ धवला १३/५/५/८२, पृष्ठ ३४८

५ सर्वार्थसिद्धि ७/१६ ६ तत्वार्थ-श्लोकवार्तिक, १/१/४

७ तत्वार्थ-श्लोकवार्तिक १/१/४

८ तत्वार्थ-वार्तिक १०/४/१७, पृष्ठ ६४४

कितने ही बौद्ध दार्शनिकों का अभिमत है कि मुक्त जीव जिस स्थान से मुक्त होता है, वह जीव उसी स्थान पर स्थिर होकर रह जाता है। उस जीव का किसी दिशा और विदिशा में गमन नहीं होता, और न वह जीव ऊपर या नीचे ही जाता है, क्योंकि मुक्त जीव में संकोच, विकास और गति आदि के कारणों का पूर्ण अभाव है। जैसे व्यक्ति सांकल से बंधा हुआ है, उस व्यक्ति को सांकल से मुक्त करने पर भी वह वहीं पर स्थिर रहता है, वही स्थिति मुक्त जीव की है।[1] पर, जैन दार्शनिकों का अभिमत है कि, मुक्तात्मा एक क्षण भी मुक्त स्थल पर अवस्थित नहीं रहता, अपितु वह जिस स्थान पर मुक्त होता है, वहाँ से वह ऊर्ध्वगमन करता है।[2] आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है।[3] अधोलोक और तिर्यक लोक में जो गमन होता है, उसका कारण कर्म है, पर मुक्त जीव में कर्मों का अभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करता है।[4] ऊर्ध्वगमन का तात्पर्य यह नहीं कि वह निरन्तर ऊर्ध्वगमन ही करता रहे, जैसा कि माण्डलिक मतावलम्बियों का अभिमत है। जैन दृष्टि से मुक्त जीव लोक के अन्तिम भाग तक ही ऊर्ध्वगमन करता है। आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होने से वह वहीं पर स्थित हो जाता है।[5] कितने ही दार्शनिक यह भी मानते हैं—मुक्त जीव जब देखते हैं कि संसार में धर्म की हानि हो रही है और अधर्म का प्रचार बढ़ रहा है तो धर्म की संस्थापना हेतु वे मोक्ष से पुनः संसार में आते हैं।[6] सदाशिववादियों का मन्तव्य है कि सौकल्प (१०० कल्प) प्रमाण समय व्यतीत होने पर संसार जीवों से शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव पुनः संसार में आते हैं।[7] जब कि जैन दर्शन का मन्तव्य है—जीव ने एक बार भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का पूर्ण विनाश कर दिया और मुक्त बन गया, वह

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि १०/४; पृष्ठ ३६० (ख) अश्वघोष कृत, सौन्दरानन्द

२ द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४

३ उत्तराध्ययन ३६/५६-५७

४ द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४, ३७

५ तत्त्वार्थसूत्र १०/८

६ (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव प्रबोधिनी टीका गाथा ६६
  (ख) स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ ४२

७ (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १४, पृष्ठ ४०
  (ख) स्याद्वादमञ्जरी, कारिका २९
  (ग) मुण्डकोपनिषद ३/२/६

आत्मा पुनः संसार में नहीं आता। जैन दार्शनिकों ने अपने चिन्तन को परिपुष्ट करने के लिए लिखा है कि 'संसार के कारणभूत मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि का मुक्त जीव में अभाव है, अतः वे संसार में पुनः नहीं आते।' यदि मुक्त जीवों का संसार में आना माना जाये तो कारण और कार्य की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। जो पुद्गल हैं, गुरुत्व स्वभाव वाले हैं, वे ही ऊपर से नीचे की ओर गमन करते हैं, पर मुक्तात्मा में यह स्वभाव नहीं है।[1] मुक्तात्मा अगुरुलघु स्वभाव वाला है, इसलिये उसकी मोक्ष से च्युति नहीं होती। जो गुरुत्व स्वभाव वाले होते हैं, वे ही नीचे गिरते हैं। गुरुत्व स्वभाव के कारण ही आम का फल टहनी से गिरता है; नौकाओं में पानी भर जाने से वे डूबती हैं।[2] मुक्तात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, ज्ञाता और दृष्टा है, पर वीतरागी होने से न किसी के प्रति उनके अन्तर्मानस में राग होता है और न द्वेष ही होता है। राग और द्वेष का अभाव होने से उनमें कर्म-बन्धन नहीं होता और कर्म-बन्धन नहीं होने से वे पुनः संसार में नहीं आते।[3] एक बार आत्मा कर्म रहित हो गया, वह पुन कर्म से युक्त नहीं होता। जैसे एक बार मिट्टी के कणों से स्वर्ण-कण पृथक् हो गए, वे पुनः मिट्टी में नहीं मिलते, वैसे ही मुक्त जीव हैं। आकाश में अवगाहन शक्ति रही हुई है, अतः स्वल्प आकाश में भी अनन्त सिद्ध उसी प्रकार रहते हैं, जैसे हजारों दीपकों का प्रकाश स्वल्प स्थान में समा जाता है। इसी तरह मुक्त जीवों में परस्पर अविरोध है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तकों का यह अभिमत है कि मोक्ष में दुःख का पूर्ण अभाव है, पर न्याय, वैशेषिक, प्रभाकर, सांख्य और बौद्ध दार्शनिक यह भी मानते हैं जिस तरह मोक्ष में दुःख का अभाव है, वैसे ही मोक्ष में सुख का भी अभाव है। पर, कुमारिल भट्ट[4] जो वेदान्त दर्शन के एक जाने-माने हुए मूर्धन्य मनीषी दार्शनिक रहे हैं, उन्होंने और जैन दार्शनिकों ने मोक्ष में आत्मीय अतीन्द्रिय सुख का उच्छेद नहीं माना है। जैन दार्शनिकों

---

१ तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/८ पृ. ६४३

२ (क) तत्त्वार्थसार ८/११-१२ (ख) तत्त्वार्थ-वार्तिक १/६/८, पृ० ६४३

३ तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/५-६

४ दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥

—भारतीय दर्शन : डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१२

ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है—एक इन्द्रियज सुख और दूसरा आत्मज सुख। मोक्षावस्था में इन्द्रिय और शरीर का अभाव होने से उसमें इन्द्रियज सुख का अभाव होता है, पर, आत्मजन्य सुख का अभाव नहीं है।[1]

मुक्त जीव क्या सर्वलोक-व्यापी हैं? इस प्रश्न का चिन्तन करते हुए जैन मनीषियों ने लिखा है कि मुक्त जीव सर्वव्यापी नहीं हैं, क्योंकि सांसारिक जीव में जो संकोच और विस्तार होता है, उसका कारण शरीर नामकर्म है। पर, मोक्ष अवस्था में शरीर नामकर्म का पूर्ण अभाव होता है, इसलिये आत्मा सर्वलोकव्यापी नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता।[2] यहाँ पर यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि एक दीपक को ढक दिया जाय तो उसका प्रकाश सीमित हो जाता है, पर उस का आवरण हटते ही उसका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही शरीर नामकर्म का अभाव होने से सिद्धों की आत्मा सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जानी चाहिये। उत्तर में जैन दार्शनिकों ने कहा—दीपक के प्रकाश का विस्तार स्वतः है ही, वह तो आवरण के कारण सीमित क्षेत्र में है, पर, आत्म-प्रदेशों का विकसित होना अपना स्वभाव नहीं है। जो विकसित होते हैं, वे भी सहेतुक हैं। अतः मुक्त जीव लोकाकाश प्रमाण व्याप्त नहीं होता। सूखी मिट्टी के बर्तन की भाँति मुक्त आत्मा में कर्मों के अभाव के कारण संकोच और विस्तार नहीं होता है।[3] मुक्तात्मा का आकार मुक्त शरीर से कुछ कम होता है।[4] कारण कि चर्म शरीर के नाक, कान, नाखून आदि कुछ ऐसे पोले अंग होते हैं, जहाँ आत्म-प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने से पहले शरीर से कुछ न्यून होती है, जैसे ५०० धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध होंगे, उनकी अवगाहना ३३३ धनुष और ३२ अंगुल होगी।[5]

---

१ (क) स्याद्वादमंजरी, कारिका १; ८, पृष्ठ ६०; आचार्य मल्लिषेण
(ख) षट्दर्शन-समुच्चय, पृष्ठ २८८

२ (क) सर्वार्थसिद्धि. १०/४, पृ. ३६० (ख) तत्त्वार्थसार, ८/६-१६

३ (क) द्रव्यसंग्रह टीका, गा. १४; ५१, पृष्ठ ३६
(ख) परमात्मप्रकाश टीका गा. ५४ पृ. ५२

४ तत्त्वानुशासन २३२-२३३

५ (क) द्रव्यसंग्रह, टीका, गाथा १४ (ख) तिलोयपण्णत्ति ६/१६

इस प्रकार जैन दर्शन ने मुक्त जीव का जो स्वरूप चित्रित किया है कि वह किस प्रकार बन्ध से मुक्त होता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धर्षि गणी ने अपनी 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' में मुक्त जीव के स्वरूप का भी सांगोपांग निरूपण किया है। जीव, जगत् और परमात्मा की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियाँ कथा के द्वारा इस प्रकार सुलझाई गई हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते आनन्द से झूमने लगता है। उस दार्शनिक और नीरस विषय को लेखक ने अपनी महान् प्रतिभा से सरस, सरल और सुबोध बना दिया है। वस्तुतः आचार्य सिद्धर्षि की प्रतिभा अद्वितीय है, अनुपम है। उनकी प्रताप पूर्ण प्रतिभा को यह ग्रन्थ रत्न सदा सर्वदा उजागर करता रहेगा।

प्रस्तुत 'उपमिति भव-प्रपंच' महाकथा जैन कथा साहित्य की शैली में ही क्या, विश्व कथा साहित्य की शैली में भी एक नया प्रयोग; नया मोड कहा जा सकता है। प्राचीन आगम कालीन कथाओं में प्रायः जीवन वृत्त या घटनाएं प्रधान रही हैं। महापुरुषों का जीवन चरित्र उनका वर्ण्य विषय रहा है, फिर कुछ रूपक व उपनयों का प्रयोग प्रारम्भ होता है ज्ञाता सूत्र तथा उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक प्रकार के उपनय, रूपक दृष्टान्त मिलते हैं। इसके बाद का कथा साहित्य पौराणिकता की धारा में बह जाता है जिसमें लम्बे लम्बे कथानक, अनेक कथापात्र व चरित्रों में विविध गुणों का विधान होता है। इस कथा शैली में एक नया मोड आता है—उपमिति भव प्रपंच कथा के प्रारम्भ से। इसकी शैली बिलकुल स्वतन्त्र और लाक्षणिक है, दार्शनिकता आध्यत्मिकता,का पुट होते हुए भी रोचकता और जीवनस्पर्शिता भी भरपूर हैं। अपनी अद्भुत लाक्षणिक शैली के कारण यह ग्रन्थ जैनकथा साहित्य को एक समग्रता और विविधता के साथ प्रस्तुत करता है। ●

सिद्धर्षि : जीवनवृत्त

सिद्धर्षि, भीनमाल के सुप्रसिद्ध धनपति शुभंकर का 'सिद्ध' नामक पुत्र था, यह कुछ विद्वानों की राय है। कुछ विद्वानों की दृष्टि से श्रीमाल-पुर में कोई धनी जैन सेठ चातुर्मास के प्रसंग में देवदर्शन के लिए जा रहा था। उसे नाली में पड़ा हुआ 'सिद्ध' नाम का राजपुत्र मिला था। इसे, जुए में हारते-हारते कुछ साथी जुआरियों का रुपया उधार करना पड़ा था, जिसे न देने की वजह से निर्दयतापूर्वक मार-पीट करके नाली में गिरा दिया था। सेठ ने उन जुआरियों को देय धन दिया और सिद्ध को उठाकर अपने घर लिवा ले आया। पढ़ा-लिखा कर उसका विवाह किया और अपना सारा कार्य-भार उसे सौंप दिया। व्यापार सम्बन्धी बहीखातों आदि को लिखने में, उसे प्रायः काफी रात गये, घर आना सम्भव हो पाता था। जिससे उसकी पत्नी अनमनी-सी और उदास रहती हुई काफी कमजोर हो चली थी।

जो विद्वान, 'सिद्ध' को शुभंकर सेठ का पुत्र मानते हैं, उनकी दृष्टि से शुभंकर ने ही इसे पढ़ा-लिखा कर योग्य बनाया था। और इसका विवाह 'धन्या' नाम की कन्या से कर दिया था।

सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए एक दिन सिद्ध के मित्र उसे किसी बाग में ले गये। वहाँ उसे जुआ खेलने बैठा लिया, जिसमें वह हार गया। दूसरे दिन, वह फिर जुआ खेला और हारा। गुस्से में आकर, वह तीसरे दिन भी जुआ खेलने गया तो उसकी जीत हो गई। इस हार-जीत के आकर्षण और उत्सुकता ने उसे पूरा जुआरी बना दिया। फलतः वह रात-भर जुआ खेलने में या दुराचार/वेश्यागमन में लीन रहने लगा। इसी वजह से, उसकी पत्नी धन्या, दुःखी और कृश हो चली थी।

इस मतभेद के आगे प्रायः एक-सा ही घटनाक्रम है। तदनुसार एक दिन धन्या की सास ने उससे उसकी उदासी के बारे में पूछताछ की तो वह चुप्पी लगा गई। किन्तु बहू की चुप्पी देखकर सासु को और वेदना हुई। और जिद करके पूछने लगी तो धन्या बिलख-बिलख कर रो पड़ी। आखिर, उसे बताना पड़ा कि उसका पति रात को काफी देर से घर आता है। उसकी सासु ने उसे निश्चिन्त होकर सोने की अनुमति उस दिन दे दी और स्वयं जागते रहने का विश्वास भी।

इसी रात, तीसरे पहर, सिद्ध जब घर लौट कर आया तो उसने घर का बन्द दरवाजा हर रोज की तरह खटखटाया।

दरवाजे की खट-खट आवाज सुनकर उसकी माँ-लक्ष्मी ने पूछा—'इतनी रात को कौन दरवाजा खटखटा रहा है?'

'मैं सिद्ध हूँ।' सिद्ध ने जवाब दिया।

लक्ष्मी ने बनावटी गुस्सा दिखलाते हुए पुनः कहा—'इतनी रात गये घर आने वाले सिद्ध को मैं नहीं पहचानती।'

'फिर, मैं इतनी रात गये कहाँ जाऊँ?'—सिद्ध ने प्रश्न किया।

'जिस घर का दरवाजा इस समय खुला हो, वहीं जा' —माँ ने उसे ताड़ना/शिक्षा देने के उद्देश्य से कहा।

'ठीक है, माँ! ऐसा ही करूँगा' —आहत स्वाभिमान भरे स्वर में सिद्ध ने जवाब दिया और वहाँ से लौट आया।

गाँव में घूमते-घूमते वह उपाश्रय के सामने पहुँचा तो उसने देखा—'उपाश्रय का दरवाजा खुला है।'

रात्रि का थोडा सा ही समय शेष रह गया था। इसलिए वहाँ ठहरे हुए साधु-जन जाग गये थे और अपनी-अपनी क्रियायें कर रहे थे।

इन शान्त मुनिवरों को देख, वह विचार करने लगा—'धन्य है इनका जीवन! जो ये धर्म की आराधना/साधना में अपना समय बिताते हैं। एक मैं हूँ, जिसे जुआ खेलने और दुराचार करने की वजह से, अपनी पत्नी व माँ के द्वारा अपमानित होना पड़ा।""""अच्छा हुआ, सुबह का भूला, शाम को ठीक स्थान पर आ पहुँचा।'

यह विचार कर वह अन्दर गया और वहाँ पर बैठे वृद्ध सन्त को वन्दन/प्रणाम किया।

गुरु ने पूछा—'कौन हो भाई ? कहाँ से आये हो ?'

सिद्ध ने उत्तर दिया—'रात, मैं देर से घर पहुँचा, तो माँ ने दरवाजा न खोलकर, उल्टा यह कहा—जहाँ का दरवाजा खुला हो, वहाँ चले जाओ। इसलिए, मैं यहाँ आया हूँ, और आपके पास ही रहना चाहता हूँ।'

गुरु ने उन्हें कहा—'हमारे पास, हमारा वेष लिए वगैर तुम नहीं रह सकते। और, फिर तुम्हारे जैसे व्यसनी के लिए, यह वेष लेना और उसकी मर्यादाओं का पालन करना कठिन है। क्योंकि, हमारा वेष लेने वाले को, नंगे पैर पैदल चलना पड़ता है। भिक्षा में जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाये, वही खाना पड़ता है। सिर के बालों का लोच करना पड़ता है। इसलिए, तुम्हारे लिए यह वेष धारण कर पाना दुष्कर है।'

सिद्ध ने कहा—'हमारे जैसे जुआरी को धूप-वर्षा-सर्दी सब सहन करने पड़ते हैं। जहाँ जगह मिल जाए, वहीं रहना पड़ता है। जब दुर्व्यसनों के लिए हम इतने कष्ट उठाते रहे हों, तब, उन्नति के लिए क्या, कुछ सहन नहीं कर सकेंगे ? आप निःसंकोच, प्रातःकाल मुझे दीक्षा दें।'

गुरु ने कहा—'तुम्हारे माता-पिता कुटुम्बीजनों की आज्ञा के बिना, हम दीक्षा नहीं देते। अतः उनसे आज्ञा मिलने पर ही दीक्षा दे पायेंगे।''

सिद्ध ने कहा—''जैसा आप उचित समझें।' और वहीं, बैठ गया।

प्रातःकाल होते ही, उसके पिता ने, पुत्र के बारे में पूछा, तो लक्ष्मी ने सारा किस्सा उसे बता दिया। सुनकर, सेठ को बहुत दुःख हुआ। और, अपने बेटे को ढूंढने के लिए घर से निकल पड़ा।

ढूंढते-ढूंढते वह उपाश्रय में भी पहुँचा। वहाँ सिद्ध को बैठा देखकर, उसने उसे घर चलने को कहा।

सिद्ध बोला—'पिताजी ! घर तो छोड़ दिया है। अब इनकी सेवा में ही रहूँगा।'

सेठ ने कहा—'तू अकेला मेरा बेटा है। करोड़ों की सम्पत्ति है। यह सब किस काम आयेगी ? साधु-जीवन में बहुत परीषह सहने पड़ेंगे।'

सिद्ध, अपनी बात पर डटा रहा, तो सेठ को आज्ञा देनी ही पड़ी। इस तरह जुआरी सिद्ध, सिद्धमुनि बना।

आचार्य सिद्धर्षि गणी निवृत्ति कुल के थे। भगवान महावीर की युग प्रधान पट्टावली के अनुसार २१वें पट्टधर वज्रसेन हुए हैं, उन्होंने सोपारक नगर में श्रेष्ठी जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को आर्हती दीक्षा प्रदान की थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। इन चारों के नाम से चार परम्परायें प्रारम्भ हुईं, जो नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर कुलों के नाम से विश्रुत हुईं।[1] निवृत्ति कुल में अनेक मूर्धन्य मनीषी गण हुए हैं। विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण भी निवृत्ति कुल के थे। चौपन्न महापुरुषचरियम् ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे और आचार्य अभयदेव ने जो नवांगी टीका लिखी, उस टीका के संशोधक द्रोणाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे। इसी महानीय कुल के महर्षि गर्गर्षि ने सिद्ध को भागवती दीक्षा प्रदान की।

सिद्ध ने दीक्षानन्तर कठिन तपस्या की, जैन धर्म के सिद्धान्त-शास्त्रों का गहन अध्ययन/अभ्यास किया, और सिद्धमुनि से सिद्धर्षि बन गया। 'उपदेशमाला' पर सरल भाषा में 'बालावबोधिनी' टीका लिखी।

एक दिन, उसके मन में विचार उठा—'मुझे अभी बहुत शास्त्राभ्यास करना है। विशेषकर, उग्र तर्कवादी बौद्धों के शास्त्रों का।' इसी विचार को क्रियान्वित करने के लिए, उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा मांगी कि, वह किसी बौद्ध विद्यापीठ में जाकर उनके शास्त्रों का अभ्यास कर सके।

गुरु ने समझाया—'शास्त्र अभ्यास करना तो अच्छा है। किंतु, बौद्ध अपने तर्कों से लोगों को भ्रमित कर देते हैं। फलतः उनके यहाँ रहने से लाभ की बजाय हानि अधिक हो सकती है। अतः यह विचार छोड़ दो।' किंतु, सिद्धर्षि की विशेष जिद देखकर, उन्होंने इस शर्त पर आज्ञा दी कि बौद्धों के तर्कों में उलझकर, तेरा मन डगमगाने लगे, तो यहाँ वापिस आकर, हमारा वेष हमें वापिस कर देना।'

सिद्धर्षि वचन देकर और वेष बदलकर, बौद्ध विद्यापीठ चले गए।

सिद्धर्षि की मेहनत और प्रतिभा देखकर, बौद्धों ने उनके साथ सद्भाव रखा। धीरे-धीरे सिद्धर्षि पर उनके व्यवहार का और उनके कुतर्कों

---

१ खरतरगच्छ पट्टावली, देखिये जैन गुर्जर कवियो, भाग २, पृष्ठ ६६३

का असर होने लगा। फलतः कुछ ही दिनों बाद, उन्होंने बौद्ध-दीक्षा भी ले ली। जब, बौद्धों ने उन्हें अपना गुरु-पद देने का निश्चय किया, तो उन्हें अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई और अपना वेष वापिस करने जाने के लिए समय मांगा। सिद्धर्षि की इस ईमानदारी ने उनके बौद्ध गुरु को प्रसन्न कर दिया। उन्होंने भी आज्ञा दे दी।

सिद्धर्षि, जब अपने जैन दीक्षा गुरु के सामने पहुँचे तो उन्हें वन्दन नहीं किया और यों ही सामने जाकर खड़े हो गये।

सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि, उसका बौद्ध वेष देखकर दुःखी हुए, और सिद्धर्षि ज्ञान-गर्व का अनुमान भी लगा बैठे। फलतः युक्ति से काम बनाने की इच्छा से, वे उठे और सिद्धर्षि को, 'ललित-विस्तरा' ग्रन्थ देकर बोले—'इस ग्रन्थ को देखो, तब तक मैं चैत्यवन्दन करके आता हूँ।' इतना कहकर, अन्य साधुओं के साथ वे चले गये।

सिद्धर्षि, ज्यों-ज्यों उस ग्रन्थ को पढ़ते गये, त्यों-त्यों उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। और, जब तक गर्गर्षि वापिस लौटे, तब तक, उनका भूला-भटका मन, सही रास्ते पर आ चुका था।

सामने से आते गर्गर्षि को देखकर, वे अपने स्थान से उठे और उनके चरणों में गिर कर अपनी भूल की क्षमा-याचना करते हुए, वापस अपने रास्ते पर आने की इच्छा प्रकट की।

'तू मेरे वचनों को याद रखकर, प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए यहाँ वापस आ गया, फिर तेरे जैसे विद्वान् शिष्य को वापस पाकर किस गुरु को प्रसन्नता न होगी ?'

गुरु के वचन सुन कर सिद्धर्षि का मन प्रसन्न हो गया। गुरु ने उन्हें प्रायश्चित्त दिया और अपने पद पर बैठा कर, साधना की प्रेरणा प्रदान की।

सिद्धर्षि ने, अपना दायित्व समझा और लोगों को बोध देने की भावना से इस 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' की रचना की। सिद्धर्षि की यह मूल्यवान् कृति, उनके विद्वत्तापूर्ण प्रदाय को, भारतीय जन-मानस में और भारतीय-साहित्यिक जगत में, उन्हें अविस्मरणीय बनाये रखने की पर्याप्त सामर्थ्य रखती है।

इस महान् ग्रन्थ का सम्मान, सिर्फ भारत में ही नहीं, इंग्लैण्ड और फ्रान्स के विद्वानों में भी ख्याति अर्जित कर चुका है। पाठकगण इसके

सद्बोध- सन्देश को अपनाकर, अपना जीवन-पथ आलोकित बना सकते हैं।

सन् १९०५ में उपमिति-भव-प्रपंच कथा का मूल डॉ० हरमन जैकोबी ने "बंगाल रोयल एशियाटिक जनरल" में प्रकाशित करना प्रारंभ किया। यह कार्य पहले डॉ० पीटर्स ने प्रारम्भ किया था। उन्होंने ९६-९६ पृष्ठों के तीन भाग प्रकाशित किये। उसके पश्चात् डॉ० पीटर्स का निधन हो गया। उस अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के लिए डॉ० जैकोबी (बोन) को कार्यभार सँभलाया गया। उन्होंने द्वितीय प्रस्ताव को पुनः मुद्रित करवाया और सम्पूर्ण ग्रन्थ १२४० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ पर मननीय प्रस्तावना भी लिखी। इस ग्रन्थ रत्न को प्रकाशित करने में उन्हें लगभग १६ वर्ष का सयय लगा।

सन् १९१८ में श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक ग्रन्थ माला, सूरत से उपमिति-भव-प्रपंच कथा का पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ सन् १९२० में उसका उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ पत्राकार प्रकाशित है।

संस्कृत भाषा में निर्मित होने के कारण सामान्य जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थ रत्न का स्वाध्याय कर लाभान्वित नहीं हो सकता था, अतः विज्ञों के मस्तिष्क में इस ग्रन्थ के अनुवाद की कल्पना उद्बुद्ध हुई। श्रीयुत् मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने नौ वर्ष की लघुवय में कुँवरजी आनन्दजी से यह ग्रन्थ सुना था, तभी से वे इस ग्रन्थ की महिमा और गरिमा से प्रभावित हो गये। उन्होंने मन में यह संकल्प किया कि यदि इसका अनुवाद हो जाये तो गुजराती भाषा-भाषी श्रद्धालु वर्ग लाभान्वित होंगे, उन्हें नया आलोक प्राप्त होगा। कथा के माध्यम से द्रव्यानुयोग की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियाँ इस ग्रन्थ में जिस रूप से सुलझाई गई हैं, वह अपूर्व है। अतः उन्होंने 'श्री जैन धर्म प्रकाश' मासिक पत्रिका में सन् १९०१ में धारावाहिक रूप से इस कथा का गुजराती में अनुवाद कर प्रकाशित करवाना प्रारम्भ किया। पर, अनुवादक अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो गया और वह धारावाहिक कथा बीच में ही स्थगित हो गई, तथा पुनः इसका धारावाहिक प्रकाशन सन् १९१५ से १९२१ तक होता रहा। जिज्ञासु पाठकों की भावना को सम्मान देकर सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर ने सं० १९८० से लेकर १९८२ तक की अवधि में तीन भागों में ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया। प्रस्तुत ग्रन्थ पर मोतीचन्द गिरधरलाल काप-

ड़िया ने सविस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जो "सिद्धर्षि" ग्रन्थ के नाम से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुई है। यह प्रकाशन सन् १९३६ में हुआ। प्रस्तावना में कापड़िया की प्रकृष्ट प्रतिभा के संदर्शन होते हैं। प्रतिभावान लेखक ने सरल और सुबोध भाषा में उपमिति-भव-प्रपंच कथा के रहस्य को उद्घाटित किया है, वह अद्भुत है, अनुपम है। प्रस्तावना क्या है, एक शोध प्रबन्ध ही है, सिद्धर्षि पर।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का संक्षिप्त हिन्दी सार श्री कस्तूरमल बांठिया ने तैयार किया जो सन् १९८२ में "बांठिया फाउन्डेशन," कानपुर से प्रकाशित हुआ है, पर उस संक्षिप्त सार में मूल कथा का भाव भी पूर्ण रूप से उजागर नहीं हो सका है।

एक बात और मैं निवेदन करना चाहूँगा, वह यह है कि यह ग्रन्थ रत्न भारती-भण्डार का श्रृंगार है। इस ग्रन्थ रत्न में मूर्धन्य मनीषी लेखक ने चिन्तन के लिये विपुल सामग्री प्रदान की है। इसमें एक नहीं, अनेक ऐसे शोध-बिन्दु हैं, जिन पर शताधिक पृष्ठ सहज रूप से लिखे जा सकते हैं। मेरा स्वयं का विचार ग्रन्थ में आए हुए चिन्तन-बिन्दुओं पर तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टि से लिखने का था, पर, दिल्ली के भीड़ भरे वातावरण में यह सम्भव नहीं हो सका। एक के पश्चात् दूसरा व्यवधान आता गया और प्रस्तावना लेखन में आवश्यकता से अधिक विलम्ब भी होता गया। अतः मैंने अन्त में यही निर्णय लिया कि प्रस्तावना अति-विस्तार से न लिखकर संक्षेप में ही लिखी जाय। उस निर्णय के अनुसार मैंने संक्षेप में प्रस्तावना लिखी है। मैं सोचता हूँ कि यह प्रस्तावना प्रबुद्ध पाठकों को पसन्द आएगी और शोधार्थियों के लिये कुछ पथ-प्रदर्शक भी बनेगी। आज भौतिकवाद के युग में मानव भौतिक चकाचौंध में अपने आप को भूल रहा है। स्वदर्शन को छोड़कर प्रदर्शन में उलझ रहा है। ऐसी विकट वेला में आत्मदर्शन की पवित्र प्रेरणा प्रदान करने वाला यह ग्रन्थ सभी के लिए आलोक स्तम्भ सिद्ध होगा।

सन्दर्भ—ग्रंथानुक्रमणिका

१. अंगपण्णत्ती —आचार्य शुभचन्द्र
२. अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
३. अथर्ववेद
४. अर्धमागधी कोष भाग २
५. अनगार धर्मामृत —पं० आशाधर
६. अनुयोगद्वार टीका, हारिभद्रीय वृत्ति
७. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश —डॉ० आदित्य प्रचण्डिया
(डी० लिट्० का शोधप्रबन्ध)
८. अपभ्रंश भाषा और साहित्य —डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन
९. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ —डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
१०. अभिधान चिन्तामणि
११. अभिधान राजेन्द्र कोश
१२. अभिज्ञान शाकुन्तल
१३. अमरकोश
१४. अवदान
१५. आख्यानक मणिकोश
१६. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
१७. आगम युग का जैन दर्शन
१८. आग्नेयपुराण
१९. आचारांग—शीलांकाचार्य टीका
२०. आचारांग —बाबू धनपतिसिंह
२१. आचार्य बुद्धघोष और उनकी अट्ठकथाएँ —शिवचरणलाल जैन

२२. आत्मानुशासन
२३. आदिपुराण
२४. आपस्तम्भ सूत्र
२५. आर्या सप्तशती
२६. आयारो —मुनि नथमल
२७. आवश्यक चूर्णि
२८. आवश्यक निर्युक्ति
२९. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति
३०. आवश्यक सूत्र
३१. आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति
३२. ईशान संहिता
३३. उत्तराध्ययन
३४. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन —मुनि नथमल
३५. उत्तराध्ययन टीका
३६. उत्तरपुराण
३७. उत्तराध्ययन सुखबोधा
३८. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति
३९. उर्दू-हिन्दी कोश —रामचन्द्र वर्मा
४०. उपमिति भव प्रपञ्च कथा
४१. उपासक दशांग सूत्र
४२. ऋग्वेद
४३. ऋग्वेद के मंत्र
४४. ऋग्वेद संहिता
४५. ऋषभदेव : एक परिशीलन
४६. औपपातिक सूत्र
४७. कथाकोश प्रकरण
४८. कथासरित्सागर —पेन्जर
४९. कर्मविपाक
५०. कल्पसूत्र —सम्पा० उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
५१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा
५२. काव्यादर्श
५३. काव्यानुशासन

५४. काव्यमीमांसा
५५. कुम्भजातक
५६. कुवलयमाला
५७. कूर्मपुराण
५८. श्री जैन सिद्धांत बोल संग्रह : भाग ५
५९. श्री नन्दीचूर्णी मूल
६०. श्री नन्दीवृत्ति चूर्णी
६१. श्रीमद्भागवत
६२. श्रीमद्भागवतपुराण
६३. श्री मलयगिरीया नन्दीवृत्ति
६४. श्रुतस्कन्ध —आचार्य ब्रह्म हेमचन्द्र
६५. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली
६६. गौतम धर्मसूत्र
६७. गोम्मटसार
६८. गुरु पूजा कौमुदी —ओल्डेनवर्ग
६९. चउप्पन महापुरिसचरियं —आचार्य शीलांक
७०. चार तीर्थंकर
७१. चित्त सम्भूत जातक
७२. चैतन्य चन्द्रोदय
७३. छांदोग्य उपनिषद्
७४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
७५. जातक चतुर्थ खण्ड
७६ जिनरत्नकोश
७७. जीवाभिगम
७८. जैन आचार : सिद्धांत और स्वरूप
७९. जैन कथाएँ भाग १११ —उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि
८०. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन —श्रीचन्द जैन
८१. जैन गुर्जर कवियो : भाग २
८२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास —आचार्य हस्तीमल महाराज
८३. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,
भाग २ —डॉ० सागरमल जैन
८४. जैमिनीय उपनिषद्

८५. जैन साहित्य और इतिहास —पं० नाथूराम प्रेमी
८६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, भाग ६ —गुलाबचन्द्र चौधरी
८७. ठाणांग
८८. णायाधम्मकहा
८९. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति
९०. तत्त्वार्थ वृत्ति
९१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
९२. तत्त्वानुशासन
९३. तत्त्वार्थ सूत्र
९४. तिलोय पण्णत्ति
९५. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
९६. तैत्तरीय संहिता
९७. तैत्तिरियारण्यक
९८. तैत्तिरीयोपनिषद्
९९. थेरगाथा
१००. दशरूपक
१०१. दर्शन और चिन्तन (हिन्दी)
१०२. दशवैकालिक
१०३. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
१०४. दशवैकालिक निर्युक्ति
१०५. दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति
१०६. द्रव्यसंग्रह टीका
१०७. दिव्यावदान —सम्पा० पी० एल० वैद्य
१०८. दीर्घनिकाय
१०९. धर्मकथानुयोग
११०. धम्मकहाणुओगो
१११. धर्मविजय नाटक
११२. धम्मपद अट्ठकथा
११३. धर्माभ्युदय
११४. धवला
११५. नन्दीसूत्र

११६. नम्मयासुन्दरी कहा
११७. नलचम्पू
११८. नायाधम्मकहाओ
११९. नारदपुराण
१२०. न्याय बिन्दु
१२१. नियमसार
१२२. निरुक्त
१२३. निशीथचूर्णि
१२४. निशीथ भाष्य
१२५. नेमवाणी —सं० पुष्कर मुनि महाराज
१२६. नौका और नाविक (उपन्यास) —उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
१२७. पंचकल्पचूर्णि
१२८. पंचकल्प महाभाष्य
१२९. पंचास्तिकाय
१३०. पउमचरियं
१३१. पदमपुराण —रविषेणाचार्य
१३२. पन्नवणा
१३३. पर्युषणाऽष्टाह्निका व्याख्यान
१३४. परमात्म प्रकाश
१३५. प्रभास पुराण
१३६. प्रबोध चिन्तामणि
१३७. प्रवचनसार
१३८. प्रवचनसारोद्धार
१३९. प्रज्ञापना
१४०. पाटन की हस्तलिखित प्रतियों की सूची
१४१. पाणिनी व्याकरण
१४२. पातञ्जल महाभाष्य
१४३. पार्श्वनाथ चरित्र
१४४. पासनाहचरिउ —पदमकीर्ति
१४५. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव —डॉ० रामसिंह तोमर

१४६. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
—डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री
१४७. प्राकृत साहित्य का इतिहास —डॉ० जगदीशचंद्र जैन
१४८. प्राचीन भारत
१४९. प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप
१५०. पुण्याश्रव कथाकोश
१५१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
१५२. बृहत् कथाकोश —हरिषेणाचार्य
१५३. बृहत्कथा सागर
१५४. बृहत्कल्प
१५५. बृहत्कल्प भाष्य
१५६. बृहदारण्यकोपनिषद
१५७. बृहद् पदमावती स्तोत्र
१५८. बृहद् वृत्ति
१५९. ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व
१६०. बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र
१६१. बौद्ध साहित्य दिव्यावदान–रुद्रायणावदान
१६२. भगवती
१६३. भगवत्गीता
१६४. भगवती शतक
१६५. भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
१६६. भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
१६७. भगवान महावीर : एक अनुशीलन —उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
१६८. भरतमुक्ति : एक अध्ययन
१६९. भरतेश्वर बाहुवली वृत्ति
१७०. भवभावना
१७१. भविसयत्त कहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य
—डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
१७२. भागवत पुराण
१७३. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

१७४. भारतीय दर्शन —बलदेव उपाध्याय
१७५. भारतीय संस्कृति और अहिंसा
१७६. भाव पाहुड
१७७. भावसंग्रह
१७८. भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर
१७९. मत्स्य पुराण
१८०. मनुस्मृति
१८१. मयणपराजयचरिउ
१८२. मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ
१८३. महाजन जातक
१८४. महापुराण—पुष्पदंत
१८५. महापुराण—जिनसेनाचार्य
१८६. महाभारत
१८७. महावग्ग
१८८. महावस्तु
१८९. महावीर चरियं—गुणचन्द्र
१९०. महावीर चरियं—नेमिचन्द्र
१९१. महावीर नो संयमधर्म (गुजराती)—गोपालदास पटेल
१९२. मार्कण्डेय पुराण
१९३. मातंगजातक
१९४. मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ
१९५. मूलाचार
१९६. मूलाराधना
१९७. मेदिनीकोष
१९८. यजुर्वेद
१९९. योगबिन्दु
२००. योगशास्त्र
२०१. योगसार
२०२. रघुवंश
२०३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२०४. रयणचूडराय चरियं—सं० श्री विजयकुमुदसूरि
२०५. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व और कृतित्व

२०६. रायपसेणिय सुत्त का सार —प० बेचरदास दोशी
२०७. ललितविस्तर
२०८. लिंगपुराण
२०९. लीलावई
२१०. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ
२११. वलाहस्स जातक
२१२. वसिष्ठ धर्मसूत्र
२१३. वसुदेव हिण्डी
२१४. वाजसनेयी
२१५. वायुमहापुराण
२१६. वाराहपुराण
२१७. वाल्मीकि रामायण
२१८. वासवदत्ता —सुबन्धु
२१९. विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ
२२०. विनयाष्टक
२२१. विष्णुपुराण
२२२. विष्णुस्मृति
२२३. विशेषावश्यक भाष्य
२२४. वैदिक कोश
२२५. वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास —डा. रायचौधरी
२२६. संगमावचर जातक संख्या १८२ (हिन्दी अनुवाद)
२२७. संस्कृति के चार अध्याय
२२८. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास —डा. सूर्यकान्त
२२९. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा
२३०. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास —प० बलदेव उपाध्याय
२३१. समयसार
२३२. समर्थ समाधान
२३३. समराइच्चकहा
२३४. सहस्रनाम ब्रह्म शतकम्
२३५. स्कन्दपुराण
२३६. स्याद्वाद मंजरी —आचार्य मल्लिषेण
२३७. सामवेद

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि
२३८. साहित्य और संस्कृति
२३९. सिरिपासणाहचरियं
२४०. सुमंगल विलासिनी (दीघनिकाय अट्ठकथा)
२४१. सोनक जातक
—अश्वघोष
२४२. सौन्दरानन्द
२४३. शतपथ ब्राह्मण
—माघनन्दी
२४४. शास्त्रसार समुच्चय
२४५. शिवपुराण
२४६. शीलप्राभृत गाथा
२४७. षट्खण्डागम
२४८. षट्दर्शन समुच्चय
२४९. हत्थिपाल जातक
—डा. शंकरलाल यादव
२५०. हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य
२५१. हरिवंश पुराण
२५२. हर्षचरित
२५३. हर्षचरित्र : एक सांस्कृतिक अध्ययन
२५४. हिन्दी साहित्य का इतिहास
२५५. हिन्दू धर्मकोश
२५६. हिन्दू सभ्यता
२५७. ज्ञाता धर्मकथा
२५८. ज्ञातासूत्र
२५९. ज्ञानपंचमीकहा
२६०. ज्ञानार्णव

पत्र-पत्रिकानुक्रमणिका

१. आजकल
२. जैनविद्या
३. जैनसिद्धान्त भास्कर
४. जैनसाहित्य संशोधक
५. तुलसीप्रज्ञा
६. संसदपत्रिका
७. अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट-पत्रिका
८. जैन सिस्टम ऑफ एजूकेशन जर्नल

आंग्लभाषा के ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

१. अन्तगडदसाओ, बारनेट का अनुवाद
२. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज् आफ गुजरात
३. इण्डियन लिटरेचर Vol II
४. एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन कलकत्ता
५. इण्डियन फिलासफी Vol I
६. केटेलाग आव संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड वरार
७. ट्रान्सलेसन आव द फ्रेग्मेन्टस आव द इण्डिया आव मैगस्थनीज बान
८. द ओसन आफ स्टोरी —पेन्जर
९. द सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट Vol XLV
१०. द जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्यूटीज ऑफ मथुरा
११. मोन्योर-मोन्योर विलियम : संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
१२. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया —डा० गुलाबचन्द्र चौधरी
१३. लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ
१४. सेंट मेथ्यू की सुवार्ता
१५. हार्ट ऑफ जैनिज्म
१६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग २ —विण्टरनित्स
१७. द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम
१८. लाइफ इन दी गुप्त एज
१९. एपीग्राफिका इण्डिया
२०. डिक्सनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग २
२१. बुद्धिस्ट इण्डिया
२२. द जैन्स इन द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर
२३. द नेचर आफ द फिजीकल वर्ल्ड
२४. डायलाग्स ऑफ बुद्ध
२५. आप्टे : संस्कृत—इंग्लिश डिक्शनरी, वोल्यूम १
२६. लाइफ आफ बुद्ध —रॉकनिल
२७. *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म*
२८. बुद्धघोष —डा० बी० सी० लॉ

२९. डस रामायण —एच० याकोबी
३०. लाइव्ज आफ दी इंग्लिश पोइट्स Vol I
३१. आक्सफार्ड जूनियर इनसाइक्लोपीडिया Vol I
३२. इण्डियाज पास्ट —मैकडानल
३३. प्रिन्स आफ वेल्स —श्री नारायण शास्त्री
३४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर —मैकडानल